श्रीमठ समग्र (प्रथम खण्ड)

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य

श्रीसम्प्रदाय(रामावत): विविध आयाम



सम्पादक :

डॉ. उदयप्रताप सिंह

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्मारक सेवा न्यास, वाराणसी



7.2

श्रीमठ समग्र

(प्रथम खण्ड)

जगद्गुरु रामानंदाचार्य : श्रीसम्प्रदाय (रामावत) : विविध आयाम

प्रेरक

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य

श्रीरामनरेशाचार्यजी महाराज

सम्पादक

डॉ. उदय प्रताप सिंह

प्रकाशक:

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्मारक सेवा न्यास हरिद्वार (उत्तरांचल)

मुख्यालय : श्रीमठ, पंचगंगा, वाराणसी (उ.प्र.) भारत

दूरभाष : ०५४२-२४०२२३०

प्रकाशकः

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्मारक सेवा न्यास हरिद्वार (उत्तरांचल)

मुख्यालय : श्रीमठ, पंचगंगा, वाराणसी (उ.प्र.) भारत

दूरभाष : ०५४२-२४०२२३०

द्वितीय संस्करण

गंगा दशहरा, ज्येष्ठ शुक्ल दशमी,

विक्रम सम्वत् २०६८

११ जून, २०११ ई.

मूल्य : तीन सौ पचास रु.

रु. ३५०/- मात्र

('श्रीमठ समग्र' में लेखकों के स्वतंत्र विचार हैं। प्रकाशक/सम्पादक का उनसे सहमत होना आवश्यक नहीं)

मुद्रक

प्रिन्ट 'ओ' लैण्ड

बी.३ सुदर्शनपुरा इण्डस्ट्रीयल एरिया, जयपुर

फोन - ०१४१ - २२१०२८४

जगद्गुरु रामानंदाचार्य : श्रीसम्प्रदाय (रामावत) : विविध आयाम

श्रीमठसमग्र प्रथम खण्ड

श्रीमठसमग्र प्रथम खण्ड

जगद्गुरु रामानंदाचार्य : श्रीसम्प्रदाय (रामावत) : विविध आयाम

अनुक्रमणिका

जगद्गुरु पदप्रतिष्ठित रामानंदाचार्य श्रीरामनरेशाचार्य जी महाराज
श्रीमठ पंचगंगा, काशी

॥ नमोऽस्तुरामाय ॥

श्रीराघव की कृपा से 'श्रीमठसमग्र का प्रथम खण्ड' आपके सम्मुख प्रकट है, यह अतीव आह्लादजनक है। समग्र के रूप में श्रीसम्प्रदाय (रामावत) की परम्परा, सिद्धान्त, आचार-व्यवहार, साहित्य, विस्तार, अतीत, वर्तमान, भविष्य, लोकसंग्रह इत्यादि अपूर्वता एवं विशिष्ट प्रेरकता के साथ क्रमशः प्रकट होंगे। इस महायज्ञ में प्रभु कृपा के साथ आपकी भी सद्भावना परमापेक्षित है। हिन्दी के उन्नायकों में प्रमुख आचार्य के रूप में ज.गु. रामानन्दाचार्य को पुनः याद किया जाता है जो सत्य एवं श्लाघ्य है परन्तु उनके सम्बन्ध में सुदीर्घ कालावधि में अतीव स्वल्प-चिन्तन लेखन तथा प्रकाशन हुआ। जो भी हुआ वह चिन्तन-मेधा, उदारता, तत्परता, संयम, पुण्यशीलता एवं प्रभु अनुग्रह के संकोच का प्रमापक है। रचनाकार महानुभाव चिन्तन को परिष्कृत नहीं कर पाये, केवल 'फास्टफूड' ही परोसते रहे। यह परोसविधि अप्रशस्य तथा जीवन घातक है।

श्रीसम्प्रदाय (रामावत) का अनादित्व तथा श्रीसम्प्रदाय (रामानुज) से पार्थक्य, 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द' का वास्तविक स्वारस्य, तुलसीदास जी का रामानन्दीयत्व, रामचरितमानस का विशिष्टाद्वैत प्रतिपादकत्व, कबीर एवं तुलसी का समानोद्देश्य प्रतिपादकत्व, 'दुतियसेतु' का परम वैशिष्ट्य, हरिजनों को अपूर्व तादात्म्य, नारी जगत् को अनुपम सम्मान, राष्ट्रीय जागरण का अद्भुत अभियान इत्यादि आचार्य प्रवर के अनुपम गौरवभूत तथा मानवता संजीवनी अवदानों को सही स्वरूप में प्रस्तुत नहीं किया गया, केवल पूर्ववत् ही लिख-पढ़कर कर्तव्य की इतिश्री तथा अपनी पीठ को थपथपा लिया गया। यह दशा अतीव चिन्तनीय तथा लज्जाजनक है।

प्रस्तुत रचना में विद्वानों ने पूर्णतत्परता, संयम, उदारता तथा अदम्य प्रयास से उपर्युक्त बिन्दुओं को वास्तविक स्वरूप में प्रकट कर धर्म-समाज, राष्ट्र तथा मानवता का महान उपकार किया है। रामावतार रामानन्दाचार्य जी ने परम मंगलमयी रामभक्तिधारा को जो अनादि एवं सतत् कल्याणमयी है, सदैव प्रासंगिक

है, मानवता को चरमोत्कर्ष देने के लिए संजीवनी है, उसे अनुपम व्यापकता तीव्रता एवं समृद्धि प्रदान किया। आचार्य प्रवर का प्रयास केवल क्षेत्रीय नहीं था। जैसे वायु, आकाश तथा सूर्य क्षेत्रीय नहीं होते वैसे ही आचार्य प्रवर के समान विभूतियाँ भी क्षेत्रीय नहीं होतीं। आधुनिक चिन्तक तो रामभक्ति को भी स्वल्प कालिकव्याप्ति से सम्बद्ध कर अपने चिन्तन से धन्यता का अनुभव करते हैं। यह चिन्तन का थोथापन है। श्रीराम का लोकोत्तर चरित्र तथा उसके प्रतिपादक एवं विस्तारक असंख्य सुसाधनों की उपस्थिति में भी रामभक्ति मध्यकालिक ही सिद्ध होगी? दुर्भाग्य से इसे ही पढ़ा एवं लिखा जाता रहा है, जिसे सम्यक् स्वरूप में प्रस्तुति का संकल्प एवं अनुष्ठान पुण्यशाली रचनाकारों ने प्रारम्भ किया है। प्रस्तुत रचना में जिसका क्रमश: विस्तार होगा।

सम्पूर्ण मानवता को पौष्टिक (अन्न, जल, वायु, तेज, आकाश, वस्त्र, आभूषण, शिक्षा, परिवेश, परिवार, राष्ट्र इत्यादि) आहार चाहिए, सतत चाहिए तथा सदैव चाहिए, अपने सम्पूर्ण विकास के लिए यह सार्वभौम सत्य है, परन्तु विडम्बना है कि यह भौतिक विकास के श्लाघ्य युग में भी स्वल्प लोगों को ही प्राप्त है, जिसके लिए हमें प्रयास करना चाहिए। यह हो भी रहा है क्योंकि पौष्टिक आहार का कोई विकल्प नहीं है। ठीक वैसे ही मानव जीवन की परिपूर्णता का विकल्परहित कारक है। रामभक्ति तथा उसके बेजोड़ प्रवर्तक हैं आचार्य प्रवर रामानन्दाचार्य जी, जो कभी भी अप्रासंगिक नहीं होंगे। आज भी जहाँ भी जितना भी जैसे भी रामराज्य दीख रहा है, उसमें अहं भूमिका रामभक्ति की तथा रामानन्दाचार्यजी के प्रयास की है। अतएव सम्पूर्ण भावना को रामभक्ति से जुड़ने के लिए दृढ़ संकल्प तथा प्रयास की परमापेक्षा है। इस महायज्ञ का सम्पादन भारत भूमि के मनीषियों के द्वारा ही होगा तथा हमारा प्रसुप्त विश्वगुरुत्व परमपद को प्राप्त करेगा। ऐसा मेरा परम विश्वास तथा परमप्रभु श्रीराम तथा रामावतार रामानन्दाचार्य जी के चरणों में प्रार्थना है।

इस प्रथम खण्ड को जिन विद्वानों ने अपनी आस्थावान् और नैष्ठिक लेखनी से सुसम्पन्न बनाया है निश्चित रूप से वे सभी परमप्रभु श्रीराघव के कृपापात्र हैं। उनकी यह सहज-स्वाभाविक वृत्ति निरंतर वर्धमान हो यही परात्परब्रह्म श्रीराम से मेरी प्रार्थना है। उन सवको मैं रामानंदीय आशीर्वाद से आपूरित करता हूँ। पुस्तक के सम्पादक श्री उदयप्रताप सिंह रामभक्ति साहित्य के एक बड़े घराने आचार्य भगवती प्रसाद सिंह से सम्बद्ध हैं। उनकी निरंतर सक्रियता ही इस ग्रंथ की नींव बनी है। सांसारिक उलझनों से समय निकालकर रामभक्ति साहित्य में डॉ. सिंह की निष्ठापरक तल्लीनता उन्हें एक बड़े संस्कार का प्रतिनिधि घोषित करती है। उनकी रामभक्ति सेवा का अकादमिक संसार अंतहीन विस्तार प्राप्त करे उनके प्रति मेरा

यही आशीर्वाद है।

इस प्रथम खंण्ड के मुद्रक-प्रकाशक श्री सत्यनारायण अग्रवाल (जयपुर) स्वत्वाधिकारी 'प्रिंट वो लैण्ड' मेरे आत्मीय शिष्य हैं। उन्होंने अपने पिता की पुण्य स्मृति में इस खण्ड का प्रकाशन किया है। इसके पूर्व भी उन्होंने श्रीमठ की सेवा प्रकाशन और मुद्रण के माध्यम से की है। उनकी सेवा का यह श्रेष्ठ भाव निरंतर पूर्णता को प्राप्त करे उनके प्रति यही मंगलकामना है।

वैशाख कृष्ण २२, वि.सं. २०६७ *ज.गु.रा. श्रीरामनरेशाचार्य*

१० अप्रैल २०१० ई.



सम्पादकीय

वर्षानुवर्ष के अनुसंधानों, विमर्शों, साहित्य के पुष्ट प्रमाणों, संतों के साक्षात्कारों, सम्प्रदाय में प्रचलित मान्यताओं, देवी-देवताओं के स्वरूपों, प्राचीन ग्रंथों में प्राप्त पाठों और पीठों की परम्पराओं का अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि रामावत सम्प्रदाय रामभक्ति धारा का एक स्वतंत्र सम्प्रदाय है जिसके प्रवर्तक परमाचार्य परात्मर ब्रह्म श्रीराम, मध्यमाचार्य जगद्गुरु रामानंदाचार्य और गेय ग्रंथ श्री वाल्मीकि रामायण है। पराम्बा श्री सीता द्वारा प्रवर्तित पंथ होने के कारण इसे श्रीसम्प्रदाय (रामावत) भी कहा जाता है। इसके वर्तमान रामानंदाचार्य जगद्गुरु पदप्रतिष्ठित श्रीरामनरेशाचार्य जी हैं।

जगद्गुरु रामानंदाचार्य पदप्रतिष्ठित श्रीरामनरेशाचार्य महाराज की वर्षों से इच्छा रही है कि श्रीसम्प्रदाय (रामावत) तथा उसके प्रवर्तक श्रीरामानंदाचार्य से सम्बद्ध साहित्य का प्रभूत मात्रा में प्रकाशन हो। इस निमित्त महाराजश्री की पावन सन्निधि में 'श्रीमठसमग्र प्रकाशन' की महत्त्वाकांक्षी योजना निर्मित की गयी। निश्चित किया गया कि श्रीरामानंद सम्प्रदाय (रामावत), प्रवर्त्तक, सिद्धांत, रामभक्ति का विस्तार, परवर्ती रामभक्ति की सगुण-निर्गुण परम्परा तथा आचार्य रामानंद सप्तशताब्दी महोत्सव को दृष्टिपथ में रखकर सात खण्डों में 'श्रीमठसमग्र' का प्रकाशन पूर्ण किया जाय। फलस्वरूप इस योजना का प्रथम पुष्प **जगद्गुरु रामानंदाचार्य : श्रीसम्प्रदायः (रामावत) विविध आयाम** नामक पुस्तक सुधी जनों को सौंपते हुए अपार हर्षानुभूति हो रही है। ज्ञातव्य है कि 'रामानंदाचार्य सप्तशताब्दी' और 'सिद्धांत खण्ड' का प्रकाशन भी शीघ्र सम्पन्न होने जा रहा है। सप्तशताब्दी नामक द्वितीय खण्ड प्रेस में जा चुका है। सिद्धांत खण्ड की सामग्री भी प्रायः पूर्ण हो चली है। इन सभी खण्डों के प्रकाशन का निहितार्थ रामभावप्रसार ही है।

इतिहास एवं इतिहासेतर स्रोतों से ज्ञात होता है कि समन्वयी और उदारमना व्यक्तित्व में महानता की असीम संभावनाएँ सन्निहित होती हैं। कहना न होगा कि आचार्य प्रवर रामानंद इन गुणों से समलंकृत महामनीषी थे। सात शताब्दियों पूर्व उन्होंने समाज के दीन-हीन मलिन लोगों को रामरसायन का रसास्वादन कराकर जातीय गौरवबोध का सृजन किया था। ब्रह्म के विशिष्ट रूप की सत्ता का स्थापन

करते हुए भी जीव और जगत् के साथ उसकी सहधर्मिता को रेखांकित किया था। दीन-हीन-मलिन (बंचित-दलित) को परमात्मा का प्रतिरूप कहा था। स्पृश्य-अस्पृश्य की भावना को निरस्त कर **सर्वेपत्तेरधिकारिणोमताः** जैसे समतामूलक सिद्धांतों का सृजन कर विशृंखलित होते मध्यकालीन भारतीय समाज को सबलता प्रदान किया था। भक्ति के अधिकारी मनुष्य मात्र है जैसी उद्घोषणा से मध्यकालीन भारतीय समाज ही नहीं तद्युगीन सम्प्रदाय भी आंदोलित हो उठे थे। उनकी प्रभविष्णुता से सगुण-निर्गुण दोनों धाराएँ समानांतर प्रवाहित होते हुए भी परस्पर जल का आचमन कर सन्निकटता का अनुभव करने लगे थे। सम्प्रदायगत संकीर्णतायें स्वामीरामानंद की उदारता में विलीन हो गयी थीं। रामभक्ति की इस मंदाकिनी में कबीर अपने ढंग से अवगाहन कर सके थे, रैदास, पीपा और तुलसीदास अपने ढंग से। स्वामीरामानंद का यह औदार्य इतना मनमोहक व सहज ग्राह्य था कि भगवद्भक्ति सम्बंधी परस्पर विरोधी अवधारणाएँ अर्थहीन हो गयीं। भक्तों को मात्र भगवदलक्ष्य ही दिखायी पड़ता था। भक्ति के इस रंग में रंगे जुलाहे कबीर दोनों हाथ उठाकर पंचगंगा घाट पर कहने लगे- 'रामानंद रामरस माते। कह कबीर हम कहि-कहि थाके।।' रैदास तो 'प्रभुजी तुम चंदन हम पानी' कहते हुए उसी में तल्लीन हो गए। पीपा गागरोनगढ़ नरेश (राजस्थान) तो अपना राजपाट त्याग ज.गु.रामानंद के अनुगत ही हो गए। उनका रजोगुणी व्यक्तित्व प्रभु भक्ति में दलित द्राक्षा की तरह विगलित हो गया। रामरसायन का ऐसा छककर पान किया कि उन्हें लोग प्रताप से पीपा (पी+पा) कहने लगे। उनके नाम की सार्थकता पीपा शब्द में ध्वनित होती है। स्वयं वह रामरूपी रसानंद में डूबे ही दूसरों को भी डुबोने का आग्रह करने लगे। स्वामी जी के प्रमुख शिष्य अनंतानंदाचार्य के चेले श्रीकृष्णदास पयोहारी ने गलतापीठ (जयपुर) तथा अग्रदेवाचार्य ने 'रैवासा' जैसे रसामृतपूर्ण धर्माधिष्ठानों की संस्थापना कर रामभक्ति को विशेष गति प्रदान की थी। इन संत-साधुओं की मूल चेतना का स्फुरण, स्वामीरामानंद की राममयी अक्षय ऊर्जा से ही संभव हो सका था।

उदारमना एवं युगचेता आचार्य रामानंद ने भक्ति को मुक्ति का प्रमुख साधन घोषित कर इसे सर्वस्पर्शी एवं मनोहारी बना दिया। पूर्वाचार्यों से सहमत किंचित् असहमत होते हुए भी अनेक नवीन एवं युगानुकूल मान्यताओं का सूत्रपात किया। प्रगतिशील चिंतक कभी भी लकीर का फ़कीर नहीं होता। वहाँ तो उस फकीर की लकीर ही निर्णायक बन जाती है। युगीन संदर्भों को आत्मसात करते हुए पद्मावती

और सुरसरी जैसी स्त्रियों को अपने बारह प्रमुख शिष्यों में स्थान दिया। अंत्यज (शूद्र) को रामोपासना का वही अधिकार है जो ब्राह्मण को इस मान्यता को जन-जन तक अपने शिष्यों द्वारा पहुँचाया। भक्त रैदास (चमार) को शिष्य घोषित करने पर अखिल भारतीय स्तर का भण्डारा देना उनके व्यापक दृष्टिकोण तथा समतामूलक भाव का ही द्योतक है। अनेक जनोन्मुखी कार्यक्रमों तथा धर्मोन्मुखी क्रियाकलापों ने उन्हें जगदगुरु की पदवी से अलंकृत किया था। स्वामीरामानंद की इस लोकोन्मुखता का प्रतिफल है हिन्दी का भक्ति साहित्य और समाज। इन सामाजिक अवदानों से उनकी प्रासंगिकता व लोकप्रियता आज भी अक्षुण्य बनी हुई है। किसी भी युग के नायक की सबसे वड़ी विशेषता अनुगतों की ऊर्जा का अधिकतम उपयोग होता है। स्वामीरामानंद ने द्वादशादित्यों के माध्यम से यह समाजोन्मुखी कार्य सम्पन्न किया था।

ज.गु. रामानंद का प्रादुर्भाव ऐसे संकटापन्न एवं द्वन्द्वग्रस्त समय में हुआ था जब समूची भारतीय परम्परा पर संकट के बादल छाए हुए थे। श्रद्धास्पद देव और आदरास्पद देवालय परकीय सत्ता के निशाने पर थे। सनातन और इसलाम धर्म में जय-पराजय का खेल चल रहा था। सांस्कृतिक आक्रमण की भयावहता सत्ता की सैन्यशक्ति से भी अधिक डरावनी थी। और भयानक तद्‌युगीन भारतीय समाज में व्याप्त दौर्बल्य और एकता के अभाव को सीमित करने के लिए स्वामीरामानंद ने श्रीसम्प्रदायाचार्य सर्वावतारी परमप्रभु श्रीराम को नवीन आलोक और गतिमय ऊर्जा के साथ समाज के समक्ष प्रस्तुत किया। उन्हें महानायक घोषित किया। भगवत्ता के अपरिमित शौर्य का केन्द्र बताया। वैरागी संतों की धर्मसेना बनायी। वैरागियों की यह सेना तपोबल और शारीरिक शक्ति दोनों में अग्रणी थी। बल-बुद्धि के प्रतीक हनुमान सेनानायक बने। वैरागियों के भुजमूल पर धनुषवाण और हनुमान के हाथों में गदा धर्मशक्ति की प्रतीक बन गयी थी। आशय यह कि देश, समाज और संस्कृति की रक्षा के लिए आराध्य में उन गुणों का समावेश होना परम आवश्यक है। उल्लेख्य है कि तत्कालीन वैरागी साधु-संत, प्रभुश्रीराम का चरणानुगमन कर धर्मरक्षा के पर्याय बन गए थे। तत्कालीन युद्धकला और शस्त्र संचालन में वैरागी पारंगत थे। प्रभुश्रीराम की भाँति वे भी समय-समय पर दोनों भुजाओं को उठाकर राक्षस विहीन पृथ्वी का संकल्प लेते दिखायी पड़ते हैं। **इस प्रकार स्वामीरामानंद परतंत्र भारत में स्वतंत्र भारत का उद्‌घोष करते हुए पहले महात्मा हैं।** तद्‌युगीन समाज में इन समस्त

दृष्टियों से रामानंदाचार्य का महत्व निरंतर बढ़ता ही गया। संगठन (राष्ट्रीय एकता) के साथ परमपरमेश्वर श्रीराम को सार्वजनीन बनाना स्वामीजी की अद्भुत चिंतन शक्ति का परिचायक है। कालांतर में स्वामीरामानंद की इस 'अलख' ने स्वाधीन और स्वतंत्र भारत के विनिर्माण में महत्वपूर्ण भूमिका का निवर्हन किया। भारतीय स्वाधीनता के पुरोधा महात्मा गाँधी का रामराज्य उसी से अनुप्राणित विचारधारा है।

उन्नीसवीं शती के अंतिम दशक तक जगद्गुरु रामानंद साम्प्रदायिक पीठों व पाठों से बाहर निकल चुके थे। विद्वानों ने उन्हें विभिन्न कोणों से मूल्यांकित करने का प्रयास प्रारंभ कर दिया था। पुस्तक में इन्हीं विमर्शों को समेटते हुए विद्वान् लेखकों के आलेख संग्रहीत हैं। संस्कृत और हिन्दी दोनों भाषाओं में स्वामी जी की कृतियाँ उपलब्ध होती हैं। अत: आलेखों के चयन में यह ध्यान रखा गया है कि संस्कृत ग्रंथों के निहितार्थ भी पुस्तक में प्रकट हो सकें। हिन्दी रचनाओं के मन्तव्यपरक एवं समीक्षात्मक आलेखों को विशेष महत्व दिया गया है। इसका सबसे बड़ा कारण यह है कि कालांतर में हिन्दी कवि-सर्जकों तथा संत-साधुओं ने रामानंद सम्प्रदाय के विस्तार में सर्वाधिक योगदान किया। इस संदर्भ में कबीर, रैदास और तुलसी का नामोल्लेख ही पर्याप्त होगा। आधुनिक रोशनी के विद्वानों ने सम्प्रति आचार्य रामानंद पर बहुत कुछ सोचा-समझा और लिखा है। इस प्रकार के महत्वपूर्ण लेख पुस्तक में सहज ही सम्मिलित हो गए हैं। इन विद्वानों ने स्वामीजी को साहित्य, समाज, धर्म और संगठन की दृष्टि से अप्रतिम बताया है।

सम्पादित लेखों में रचनाकार की सर्जनात्मक स्वतंत्रता अपनी है। उसमें न कहीं हस्तक्षेप किया गया है न सहमत असहमत का आग्रह ही। आस्था और निष्ठा, सर्जना की मूल चेतना होती है अत: इन भावों से समन्वित लेख पुस्तक में विशेष महत्त्व प्राप्त कर सके हैं। कतिपय विद्वान् लेखक आलेख प्रदान करके भी इस संग्रह को प्रकाशित रूप में नहीं देख सके। उनके प्रति मेरी विनम्र श्रद्धांजलि है। जिन सम्माननीय विद्वानों ने आलेख दिए हैं उनके प्रति विनम्रता के साथ आभार व्यक्त करना सम्पादक का सहज धर्म होता है। अपेक्षा है कि शीघ्र अन्य प्रकाश्य खण्डों में भी इसी तरह विद्वानों का सहयोग प्राप्त होता रहेगा। इस महत् योजना में प्रमादजन्य सुकरता का लाभ प्राप्त करते हुए उपलब्ध सामग्री वाले खण्ड को ही प्रथम खण्ड के रूप में प्रकाशित किया जा रहा है। प्रथम खण्ड हरिद्वार में घटित महाकुंभ के पावन पर्व पर लोकार्पित हो रहा है, इसी से 'श्रीमठसमग्र' की संपूर्णता,

अपूर्णता के अज्ञातभय से मुक्त हो जाती है। पुस्तक की सुरुचिपूर्ण छपाई इसे और कमनीय बना देती है। प्रेस के स्वत्वाधिकारी श्री सत्यनारायण अग्रवाल (जयपुर) की श्रद्धा भाव से की गयी सेवा प्रशंसनीय है। अपने पिताजी की पुण्यस्मृति में उनका यह मानवीय उपक्रम उनके भारतीय संस्कृतिबोध को व्यक्त करता है। वे शतश: बधाई के पात्र हैं।

पुस्तक की संकल्पना, योजना और मार्गदशर्न जगत्गुरु पद्मप्रतिष्ठित श्रीरामनरेशाचार्य महाराज का ही है। प्रकाशित होने के पूर्व ही सम्पूर्ण पुस्तक को आद्यन्त पढ़ जाना महाराजश्री के अकादमिक अभिरुचि की अद्वितीयता का प्रमाण है। कहना न होगा कि कोई भी अशुद्ध वाक्य और वर्तनी उनकी पैनी दृष्टि से वंचित रह गयी हों। उनकी ऊर्जस्वित प्रेरणा, मनोनुकूल प्रोत्साहन और सबसे बढ़कर अहैतुकी कृपा इस अकिंचन को अक्षर ब्रह्म का साधक निरंतर बनाए रखती है। रामभक्ति मंदाकिनी के समक्ष हिन्दी साहित्य के तमाम 'वाद'-विवाद मुझे अब 'विषय रस छीलर' लगने लगे हैं। श्रीरामभक्ति की आदिपीठ पंचगंगा काशी की अकादमिक सेवा में दशकीय जीवन कब व्यतीत हो गया आभास ही नहीं हुआ। इच्छा है कि अक्षर सेवा और साधना का विस्तार आजीवन चलता रहे। भारतीय समाज के मेरुदण्ड परमप्रभुश्रीराम उनके उद्गाता जगद्गुरुरामानंद और उनके वरणानुरागी श्रीरामनरेशाचार्य महाराज का आजीवन अनुगत बना रहूँ यही परब्रह्म से अभ्यर्थना है। इन तीनों के प्रति सर्वात्मनासमर्पण के साथ अपनी शाब्दिक भूमिका को विराम दे रहा हूँ।

महाकुंभ पर्व -उदय प्रताप सिंह

अप्रैल २०१०ई.

हरिद्वार (उत्तरांचल)

श्रीसम्प्रदाय और 'श्रीमठसमग्र' की रूपरेखा

'श्रीमठ' अनादि तथा परममंगलमयी सगुण एवं निर्गुण श्रीरामभक्ति धारा का गोमुख है। यहीं रहकर श्रीसम्प्रदाय (रामावत) के आचार्यों ने सम्पूर्ण संसार में रामभक्तिगंगा को प्रवाहित किया, जिसमें गोता लगाकर असंख्य मानवों ने अपने जीवन को धन्य बनाया। श्रीमठ भगवान् श्रीबिन्दुमाधव द्वारा अधिष्ठित परमपावन विष्णुकाशी के दिव्य पञ्चनदतीर्थ पर विराजमान है। इस क्षेत्र को वैष्णवाचार्यों, संतों एवं भक्तों ने मुख्यत: अपने धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुष्ठान का आधार बनाया। श्रीरामभक्तिपरम्परा के मुख्य तीर्थ अयोध्या के अतीव समीप होने पर भी श्रीसम्प्रदाय के आचार्यों ने विष्णुकाशी पञ्चगंगा में ही अपना मुख्यालय स्थापित किया जहाँ किसी भी दूसरी परम्परा या सम्प्रदाय (वैदिक सनातन धर्म की मान्य परम्परा) का मुख्यालय नहीं है। इसका मुख्य कारण रामानन्द सम्प्रदाय की उदारता, भगवान् शंकर के प्रति अनुराग व भगवान् श्रीराम के प्रति पूर्ण समर्पण ही है। इस प्रयोग ने कई साम्प्रदायिक मतभेदों को समाप्त कर सनातन धर्म को गौरवान्वित किया।

इतिहासविदों की मान्यता है कि श्रीमठ संसार के तत्कालीन आध्यात्मिक केन्द्रों में सर्वश्रेष्ठ था, जिसका सम्पूर्ण स्वरूप लगभग पाँच किलोमीटर में फैला हुआ था। उसे सनातन धर्म विरोधी मुगल बादशाह औरंगजेब ने छिन्न-भिन्न कर दिया। इसके बाद कई शताब्दियों तक 'गलतापीठ' (जयपुर) ही श्रीसम्प्रदाय के मुख्यालय के रूप में मान्य रहा। परमप्रभु श्रीरघुनाथजी की प्रेरणा से श्रीमठ के प्रामाणिक स्वरूप का पुन: प्राकट्य हुआ। इस पवित्र कार्य में अनेकानेक संतों एवं भक्तों ने सेवायें अर्पित कीं जिनमें जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्वामी श्रीभगवदाचार्यजी, परमसिद्ध सन्त श्रीरणछोड़दासजी तथा श्रीअरविन्द भाई (मफतलाल) का नाम प्रमुख है। इन तीनों विभूतियों ने श्रीमठ के पुनरुद्धार का यह ऐतिहासिक कार्य किया यद्यपि उसके बाद भी श्रीमठ का वह स्वरूप उस गरिमा के साथ प्रकट नहीं हो पाया, जो रामावत सम्प्रदाय के मुख्यालय का होना चाहिए। ज.गु.रा. श्रीरामनरेशाचार्य के निर्देशन में अब वह दिव्य स्वरूप धीरे-धीरे प्रकट हो रहा है।

वेद, इतिहास, पुराणादि की मान्यता के अनुसार 'श्री' शब्द भगवती सीताजी का वाचक है। अत: सीता प्रवर्तित होने के नाते सम्प्रदाय का नाम 'श्रीसम्प्रदाय' एवं सीताजी की नाम परम्परा में होने वाले वैष्णवाचार्यों ने अपने मठ का नाम 'श्रीमठ' रखा। श्रीसम्प्रदाय (रामावत) के परमाचार्य तथा परमाराध्य सर्वावतारी भगवान् श्रीराम हैं। इनके निर्गुण व सगुण दोनों ही स्वरूपों की आराधना श्रीसम्प्रदाय तथा उससे नि:सृत परम्पराओं में होती रही है। जगदम्वा श्रीसीताजी एवं श्रीलक्ष्मणजी के साथ परमेश्वर श्रीराम की आराधना सम्प्रदाय में मान्य है। परमप्रभु श्रीराम ने सर्वप्रथम अपनी प्राणवल्लभा सीताजी (श्री) को ही अपने दिव्य मांगलिक भावों को अर्पित किया, अतएव इस दिव्य आध्यात्मिक परम्परा के साथ 'श्री' शब्द जुड़ गया।

वैष्णवों (रामावत-निबार्क-विष्णुस्वामी-मध्व) के ५२ द्वारों में ३६ द्वारे रामावत सम्प्रदाय के ही हैं। देश में आज भी सर्वाधिक संत तथा आश्रम रामावत सम्प्रदाय के हैं। सम्प्रदाय में प्रमुख रूप से दास भावना से भगवान् की आराधना होती है। भगवान् श्रीराम के तपस्वी स्वरूप के श्रीविग्रह ही अधिसंख्य मंदिरों में प्रतिष्ठित हैं। सम्प्रदाय के अधिकतर सन्त भगवान् श्रीराम के तपस्वी रूप के समान स्वरूप धारण करते हैं। यह निवृत्तिप्रधान सम्प्रदाय है। अधिकांश आश्रमों एवं गद्दियों पर विरक्त संत ही विराजमान हैं। श्रीसम्प्रदाय से उद्भूत प्रेरित एवं पालित सैकड़ों आध्यात्मिक परम्परायें संसार में फैली हुयी हैं जिनके माध्यम से रामभक्तिगंगा प्रतिक्षण प्रसारित हो रही है। रामस्नेही, गरीबदासी, घीसादासी, दादूपन्थी, पलटूदासी, निराकारी, कबीरदासी, रबिदासी, पीपापन्थी, रामदासी इत्यादि परम्पराओं का मूल श्रीसम्प्रदाय (रामावत) ही है। द्वादश शिष्य परंपरा जिसमें निर्गुण सगुण दोनों इसी सम्प्रदाय से अभिमंत्रित हैं, के शिष्यों की सुदीर्घ परम्परा इस सम्प्रदाय के उन्नयन और विस्तरण में व्यापक भूमिका का निर्वहन कर सकी है। इसी पंक्ति में कबीर, रैदास, पीपासाहब, सेन, धन्ना, भावानंद, अनंतानंद, सुखानंद, नरहर्यानंद, सुरसरी तथा पद्मावती आदि की गणना की जाती है।

इस सम्प्रदाय के ध्येय भगवान् श्रीराम एवं गेय श्रीमद्वाल्मीकिरामायण है। वेदों के बाद लौकिक संस्कृत में सर्वप्रथम भगवान् श्रीराम का दिव्य चरित्र ही गाया गया जो साक्षात् वेदों का ही अवतार है। दुनिया के किसी भी धर्म, सम्प्रदाय व पन्थ में ऐसा ग्रन्थ आज भी अनुपलब्ध है।

श्रीसम्प्रदाय में दूसरे सम्प्रदायों की अपेक्षा अत्यधिक औदार्य है। यद्यपि दूसरे वैष्णवाचार्यों ने भी कल्याण के साधन के रूप में 'भक्ति एवं प्रपत्ति' को स्वीकार किया है परन्तु उनमें औदार्य का वह स्वरूप प्रस्फुटित नहीं हो पाया जो रामावत सम्प्रदाय में हुआ। यही कारण है कि श्रीसम्प्रदाय की तुलना में दूसरे वैष्णवसम्प्रदाय अपेक्षाकृत कम विकसित हो सके।

श्रीसम्प्रदाय के मध्यमाचार्य रामावतार स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी महाराज ने (रामावत) श्रीसम्प्रदाय की कल्याणमयी उदात्त गंगा को जन-जन तक प्रवाहित करने का भगीरथ प्रयास किया। कबीर, रविदास, सेन, धन्ना जाट आदि का परमसन्तत्व इसका श्रेष्ठ उदाहरण है। आचार्य प्रवर ने जाति, समाज एवं धर्म के समस्त खण्डक भावों को पृथक् करते हुए, किसी भी वैदिक मर्यादा को छिन्न-भिन्न किये बिना सभी का भक्ति एवं प्रपत्तिगंगा में गोता लगाने के लिये आह्वान किया। आचार्यप्रवर का यह कार्य समाज, धर्म, राष्ट्र एवं वैदिक मान्यताओं के विघटन में महान् अवरोधक सिद्ध हुआ। वैदिक सनातन धर्म पर अकारण मिथ्या आरोप लगाने वालों का मुँह सदा-सदा के लिये बन्द हो गया। आचार्यप्रवर ने वंचितों के साथ नारियों को भी अपनी दिव्य उदारता से धन्य बनाया, जो इतिहास के लिए अभूतपूर्व अवदान सिद्ध हुआ। परमसाध्वी पद्मावती एवं सुरसरी आध्यात्मिक विश्व के गगन में सदा ही आलोकित रहेंगी तथा सनातन धर्म की उदारता की प्रतीक बनी रहेंगी। जगदगुरु श्रीरामानन्दाचार्य ने अपने विलक्षण वैदुष्य से ब्रह्मसूत्रों पर 'आनन्दभाष्य' लिखकर रामभक्ति-साहित्य की भागीरथी के प्रवाह में अभिवृद्धि की। 'वैष्णवमताब्जभास्कर' उनकी कालजयी रचना है। 'अध्यात्मरामायण' के रचनाकार स्वामीरामानंद ने रामभक्तिधारा को भरपूर तीव्रता प्रदान की। ऐसे ही अनेकानेक ग्रन्थों का उन्होंने संस्कृत एवं हिन्दी में सृजन किया। अपने शिष्यों को आचार्यप्रवर ने लोकभाषा हिन्दी में रामभाव को लिखने एवं बोलने के लिए प्रेरित किया। विश्वमहाकाव्य 'श्रीरामचरितमानस' की रचना भी श्रीसम्प्रदाय के अद्भुत रत्न गोस्वामी श्रीतुलीसीदास द्वारा ही हुई जो स्वामी रामानंद के प्रधान शिष्य अनंतानंदाचार्य के शिष्य नरहर्यानंद के शिष्य थे।

श्रीसम्प्रदाय के वर्तमान रामानंदाचार्य श्रीरामनरेशाचार्य जी हैं। इनका औदार्य शास्त्र विदग्धता तथा भागवत स्वरूप शताधिक वर्षों पूर्व श्रीमठ के आचार्यों का

स्मरण कराता है। श्रीमठ के विस्तरण तथा आदि वैभव के पुनर्स्थापन हेतु महाराजश्री अहर्निश भगीरथ प्रयास कर रहे हैं।

इसी सन्दर्भ में 'श्रीमठसमग्र' के अन्तर्गत साहित्य का प्रकाशन, परम्परा का विस्तार तथा अन्यान्य लोकमंगल परक प्रवृत्तियों का एक विस्तृत लेखा-जोखा सात खण्डों में प्रकाश्य है। उल्लेख्य है कि अकादमिक अभिरुचियों के कारण ही महाराजश्री प्रतिवर्ष स्वामीरामानंद जी की जयंती पर एक लाख रुपये का पुरस्कार भी किसी एक साहित्य सेवी को प्रदान करते हैं। इसका प्रथम गौरव रामभक्ति के निष्णात पंडित आचार्य भगवतीप्रसाद सिंह को प्राप्त हो चुका है। इसी क्रम में दशाधिक विद्वान् श्रीमठ से पुरस्कृत हो चुके हैं। 19

आध्यात्मिक, धार्मिक एवं सामाजिक विषयों में विशेष रुचि के साथ अकादमिक क्षेत्र में भी वर्तमान आचार्य की गहरी निष्ठा है। उनकी हार्दिक इच्छा रहती है कि 'श्रीमठ' पर सम्यक विवेचन-विश्लेषण हो। इस निमित्त सात खण्डों में 'श्रीमठसमग्र' की महत्वाकांक्षी प्रकाशन योजना निर्मित की गयी है। इस सारस्वत यज्ञ में आपके आलेख रूपी समिधा की महती आवश्यकता है। स्वामीरामानंद का प्रामाणिक जीवन वृत्त, सिद्धांत, पंथ-विस्तार, सामाजिक प्रदेय तथा हिन्दी की रचनाओं का वृत्त, तथा अन्यान्य उपलब्ध सामग्रियाँ 'श्रीमठसमग्र' में समाहित की जाएँगी। विषय शीर्षक खण्डशः निम्नवत् हैं-

प्रथम खण्डः जगद्गुरु रामानंदाचार्य : श्रीसम्प्रदाय (रामावत) : विविध आयाम (प्रकाशित २०१०ई.)

द्वितीय खण्ड : रामानंदाचार्य सप्तशताब्दी महोत्सव खण्ड

तृतीय खण्ड : सम्प्रदाय परिचायक एवं आचार्य परम्परा

१. श्रीमठ नाम क्यों?

२. रामानन्द चरणपादुका

३. श्रीमठ का अतीत एवं वर्तमान

४. रामानन्दाचार्य जी का गिरिनार स्थित चरण पादुका

५. मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन के सूत्रधार स्वामीरामानन्द

६. सीतानाथ

चतुर्थ खण्ड : रामानंद सम्प्रदाय : सिद्धान्त पक्ष

पंचम : सम्प्रदाय खण्ड : द्वादशादित्य : हिन्दी के कवि और आधुनिक अध्ययन

१. संत, कबीर, पीपा, रैदास, धन्ना, सुरसरी, पद्मावती आदि।

२. सम्पूर्ण भारतवर्ष में स्थापित रामानन्द सम्प्रदाय के आश्रम, परम्परा एवं ग्रन्थ, राष्ट्रीय सर्वेक्षण, शोध अध्ययन-विश्वविद्यालयों-महाविद्यालयों द्वारा व्यक्तिगत, सरकारी संस्थानों-विश्वविद्यालय अनुदान आयोगादि द्वारा सम्पन्न परियोजनाएँ।

षष्ठ खण्ड : लोकमंगल परक प्रवाह

१. चातुर्मास्य महोत्सव

२. दिव्य कार्तिक मास महोत्सव

३. माघमास मकरसंक्रांति

४. वैशाख मास महोत्सव

५. कुम्भ पर्व

६. श्री रामनवमी श्रीरामजन्म महोत्सव

७. महाराजश्री द्वारा श्रीरामभाव प्रसार यात्राएँ

सप्तम् खण्ड : समग्र-साहित्य

रामानन्द सम्प्रदाय के मान्य ग्रन्थ-संस्कृत, पैशाची, हिन्दी, अंग्रेजी, इटैलियन इत्यादि भाषाओं में प्रकाशित, अप्रकाशित, अन्यान्य विषय आवश्यकतानुसार।

सम्पादक
(डॉ.) उदय प्रताप सिंह
सारनाथ, वाराणसी

द्वितीय संस्करण

जगद्गुरुरामानंदाचार्य भक्ति के भगीरथ कहे जाते हैं। श्रीमठ पंचगंगा, काशी उनकी तपोभूमि है। गंगा का तट, काशी की पावन भूमि और स्वामी रामानंद का आकाशधर्मी व्यक्तित्व मिलकर एक ऐसी त्रिवेणी प्रवाहित करते हैं जिसमें अवगाहन करने वाला व्यक्ति निर्मल मन का स्वामी बन जाता है। इन्हीं भावों से ओतप्रोत 'श्रीमठ समग्र' प्रथम खण्ड का प्रथम संस्करण अप्रैल २०१० में प्रकाशित हुआ था। एक वर्ष के अन्तर्गत ही प्रथम संस्करण का हाथों हाथ उठ जाना उसकी लोकप्रियता को प्रकट करता है। इस संस्करण से संदर्भित कई पत्र मुझे प्राप्त हुए हैं जिनमें गंभीर लेखों की प्रशंसा हुई है, संपादन को सराहा गया है तथा वर्तमान ज.गु. पद प्रतिष्ठित श्रीरामनरेशाचार्य जी की लोक सम्बद्ध भूमिका और वैदुष्यपरक संसार की प्रशंसा की गयी है। कतिपय लेखों को मध्यकालीन इतिहास की दृष्टि से अत्यंत उपयोगी बताया गया है। कुछ विद्वानों ने इसे समाज, संस्कृति और धर्म का अनूठा संग्रह कहा है।

इन प्रशंसात्मक उक्तियों से मैं बहुत प्रसन्न नहीं हुआ क्योंकि पाठकों और सुधीजनों से कुछ ऐसे सुझाव चाह रहा था जिससे यह प्रथम पुष्प और सुगंध बिखेर सके। कतिपय विद्वानों का सुझाव पुस्तक के स्वरूप में परिवर्तन का था उसे यथासम्भव किया गया है। कुछ विद्वानों ने श्रीमठ से प्रकाशित साहित्य की सूची देने का सुझाव दिया था वह भी पूर्ण कर दिया गया है। सामग्री यथावत रहते हुए भी उसे सुव्यस्थित करने का प्रयास हुआ है। इसी क्रम में वर्तनी सम्बन्धी दोषों का परिष्कार सहजतः हो गया है।

विश्वास है कि इस ग्रंथ का द्वितीय संस्करण धर्म, संस्कृति और समाज पर नवीन आलोक बिखेर सकेगा। अस्तु।

पुनश्च द्वितीय संस्करण के साथ ही श्रीमठ समग्र का दूसरा खण्ड 'सप्तशताब्दी महोत्सव' आपके हाथों में होगा। मेरी संतुष्टि का यही कारण बनेगा।

गंगा दशहरा
११ जून, २०११

उदय प्रताप सिंह
सारनाथ, वाराणसी

पंचगंगा और आचार्यरामानंद

-प्रो. युगेश्वर

हरितश्याममाधवमंदिर प्रयाग में गंगातट पर है। आचार्य रामानंदजी इसी मंदिर में प्रगट हुए थे। उन्होंने कृष्ण के इस स्थान को छोड़कर काशी में स्थान बनाया। यहाँ उन्होंने आचार्य राघवानंद को अपना गुरु बनाया। आचार्य राघवानंद द्वारा रामानंद जी दक्षिण से जुड़े। राम से जुड़े। हरित श्याम माधव को प्रयाग में ही रहने दिया। राघवानंद जी के शिषयत्व में काशी आकर रामजी से जुड़े। रामानंद कहलाये। बचपन के नाम का कुछ भी पता नहीं। कभी पंचगंगा पर राघवानंदजी का यशगान होता था। काल ने राघवानंदजी को इतिहास सर्ग में डालकर आचार्य रामानंद जी को प्रमुख बना दिया। 'रामानंद रामरस माते'। ये राम के अवतार माने जाने लगे। श्रेष्ठता ही अवतार है। अवतार तो सब है। किन्तु अवतार जन्म है। विशिष्ट जन्म, दिव्य जन्म, कर्म अवतार है। अवतारों में दिव्यता की प्रधानता है। आचार्य रामानंद जी में वैसी ही दिव्यता रही होगी। वाराणसी गंगा में अनेक घाट हैं। सिंधिया, अहिल्याबाई, दरभंगा आदि। कुछ घाट देवों के नाम पर है। पंचगंगा में पाँचगंगा की कल्पना है। पंचगंगा साधना, उपासना का अद्भुत केन्द्र है। भक्ति की पाठशाला हैं। यहाँ बना था आचार्य रामानंद का 'वैष्णवमताब्जभास्कर'। वैष्णमतकमल को खिलाने वाला सूर्यरूपी सारे देश की भक्ति का मुख्य केन्द्र है। यहाँ की भक्ति सूर्य की किरण संपूर्ण देश के अज्ञान को दूर कर रही है।

पंचगंगा क्यों? गंगा तो एक है। प्रवाहों में भिन्नता संभव है। बात वाराणसी की है। प्रयाग में त्रिवेणी है तो काशी में पंचगंगा। पंच देवों की उपासना है पंचगंगा। वेदांत की पांच धाराओं का संगम है पंचगंगा। द्वैत, अद्वैत, द्वैताद्वैत, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत। ये सभी विचार दक्षिण में, दक्षिण आचार्यों के द्वारा विकसित हैं। अचिंत्य भेदाभेद वाद का मुख्य केन्द्र, गौड प्रदेश है। यह निम्बार्क के द्वैताद्वैत जैसा ही है। इसलिये यह पंचगंगा में ही अंतर्भुक्त है।

भक्ति की संपूर्ण चेतना समन्वयवादी है। सबकी उपासना। सबका आदर। फिर लक्ष्य एक का। अद्वैत का अद्वैत है। किन्तु इस अद्वैत के अनेक प्रकार हैं। गीता में केवल कृष्ण है। किन्तु कृष्ण का किसी देवता से विरोध नहीं है। वे सबको

सभी देवों की उपासना की छूट देते हैं। किसी भी देवता की उपासना करो। मिलेगा सब मुझको, कृष्ण को।[1] भगवान ही सभी यक्षों के भोक्ता और प्रभु हैं। देवता भगवान् के विशिष्ट सेवक हैं। राजकर्मचारी का दिया गया धन राजा को मिलता है। वैसे ही देवता की पूजा भी भगवान् की पूजा है। देवता को देना, भगवान को देना है। भगवान् ही देवता का भी स्वामी है। संसार में परस्परता है। समन्वय संबंध है। चक्र चलाता जहाँ से चला था, वहीं फिर पहुँचता। यहाँ, वहाँ, जहाँ तहाँ का ऐक्य है। आकाश समुद्र से सूर्य के माध्यम से जल लेकर बरसाता है। फिर वही जल सागर में जाता है। भू सागर से आकाश सागर में। आकाश सगार से भू सागर में। यह चक्र संसार चला रहा है। आकाश से गिरा जल जैसे सागर को जाता है, वैसे ही सभी देवों को किया गया नमस्कार केशव को मिलता है।[2] पंचगंगा वही सागर है। यहाँ सभी प्रकार की साधनाएँ समाहित हैं। किसी के प्रति द्वेष भाव नहीं है।

सगुण का केन्द्र। निर्गुण का अधिष्ठान। यह समता भाव ही आचार्य रामानंदजी का दर्शन है। यहाँ कबीर हैं। रैदास हैं। इसी परंपरा में महान् संत रचनाकार तुलसीदास खड़े हैं जो सभी देवों को हाथ जोड़कर प्रणाम करते हैं। सबसे आशीर्वाद मांगते हैं।

प्रत्येक व्यक्ति को पाँच यज्ञ करना है। पंचगंगा इस योग का अधिष्ठाता है। ऋषि यज्ञ, देव यज्ञ, पितृ यज्ञ, भूत यज्ञ, मनुष्य यज्ञ। ये यज्ञ ही सामाजिकता और सांसारिकता के आधार हैं।

स्वामी रामानंद जी का व्यक्तित्व विराट था। इसी कारण उन्हें भक्ति को लाने का श्रेय दिया गया। वे स्वयं दक्षिण के नहीं थे। उन्होंने उक्त पाँच दर्शनों को दक्षिण से लाया था। यद्यपि ये दर्शन भी पूर्णत: दक्षिणी थे, यह कहना कठिन है। इन दर्शनों में सबसे पूर्ववर्ती आचार्य शंकर दक्षिण के अवश्य थे, किन्तु अद्वैत की स्थापना का श्रेय आचार्य शंकर के दादा गुरु गौड़पाद को है। जो दक्षिण के नहीं थे। शंकर के गुरु आचार्य गोविंद पाद भी दक्षिण के थे। यह भी नहीं कहा जा सकता है। ऐसे तो संपूर्ण दक्षिणी साहित्य, जिनका मूल भक्ति साहित्य उसके मूल आचार्य अगस्त्य उत्तर के थे। राम, कृष्ण, शिव ही भक्ति आधार थे, ये संपूर्ण देश के थे।

दक्षिण में वैष्णव भक्ति और शिव भक्ति दोनों की प्रबलता थी। फिर वैष्णव भक्ति ही क्यों आयी? शिवभक्ति भी तो आ सकती थी। यद्यपि आचार्य रामानंद जी के आने के पूर्व से विष्णु और शिव की भक्ति उत्तर में मिलती है। गीतगोविंद, चंडीदास, विद्यापति आदि की रचनाएँ शैव, वैष्णव द्वन्द्व रहित हैं। संभव है दक्षिण में कभी-कभी टकराहट रही हो।

स्वयं आचार्य शंकर के स्रोतों में एकांतता का अभाव है। आचार्य रामानंद जी के शिष्यों में प्रकारभेद के अतिरिक्त दर्शन भेद भी दिखता है। तुलसीदास जितने रामोपासक हैं, उतने ही वहुदेववादी भी। कबीर बहुदेववाद के निंदक हैं- 'रही एक की हुई अनेक की विश्वा वहु भरतारी।'

रैदास भी रामानंद जी के शिष्य हैं। किन्तु उनमें कबीर जैसी कट्टरता नहीं है। रैदास की प्रकृति सरल है। किसी पर भी आक्रमण उनके स्वभाव में नहीं है। कबीर का बल विचार पर अधिक है, जबकि रैदास समर्पण और चंदन पानी का समन्वय करते हैं। सूरदास की गोपियाँ एक महत्वपूर्ण संकेत देती हैं। वे उद्धव से कहती हैं- 'जोग अंग साधत जे ऊधो ते सब बसत ईसपुर कासी'। अंग से मतलब अष्टांग योग से है। ईस का अर्थ भगवान शंकर है। काशी तो स्पष्ट है इस कथन में कई वातें हैं- एक यह कि योग काशी का, काशी में है। दूसरा यह कि योग के देवता शिव हैं। जो काशी के हैं। ईसपुर काशी है। यहाँ योग साधना होती है। यह कबीर की ओर भी संकेत है। पुष्टि मार्ग में योग के लिए कोई स्थान नहीं है। उद्धव निर्गुणियाँ है। निर्गुण में योग का महत्वपूर्ण स्थान है। रामानंदजी के शिष्यों में योग साधक निर्गुणियाँ भी है। सहज भक्ति वाले रैदास भी हैं। रैदास रामभक्त हैं। किन्तु उनकी शिष्या मीरा कृष्णभक्तिन हैं। वे मोर मुकुट पीताम्बर वाले की उपासिका हैं। इससे पता लगता है, सगुण से भी उन्हें परहेज नहीं है। अंत में वे कृष्ण विग्रह में समा गयी थीं। इससे स्पष्ट होता है कि रामानंद सम्प्रदाय में वैर विरोध एवं एकांतवाद के लिये स्थान न था। कबीर एकांतवादी दिखते हैं तो रैदास को एकांतवादी कहना कठिन है। कबीर की पुराणपरंपरा सभी निर्गुणियाँ भक्तों में गहरी और विस्तार वाली है। इससे उनके गंभीर अध्ययन का ज्ञान होता है। कबीर स्त्री को माया कहकर निंदा करते हैं। रैदास स्त्री को संन्यास की दीक्षा देते हैं। दक्षिण के सभी आचार्य द्विभाषी थे। किन्तु रचना वे संस्कृत में करते थे। भक्तों की रचनाएँ दक्षिणी भाषाओं में है। आचार्य वहाँ की भाषाएँ जानते हैं किन्तु लेखन में सार्वदेशिक भाषा संस्कृत का व्यवहार करते हैं। वे यात्राएँ भी करते हैं। रामानंद जी ने यात्रा का कार्य शिष्यों को सौंपा। उन्होंने संस्कृत के स्थान पर हिंदी को रचना का माध्यम बनाया। स्वयं हिन्दी में लिखा। उनकी शिष्य परंपरा ने तो लोक भाषाओं, विशेषकर हिंदी को सार्वदेशिक भाषा बना दिया। हिंदी साहित्य और भाषा के विकास में आचार्य रामानंद ने अविस्मरणीय योग दिया। काशी और आसपास कबीर, रैदास के बाद तुलसीदास ने आचार्य रामानंद की प्रेरणा से हिंदी को समृद्ध किया। समस्त पुराणों के मूल तत्व, तरह-तरह की राग-रागिनियाँ हिन्दी में उतर आयीं। तुलसीदास ने राम, कृष्ण, शिव, भगवती आदि की पूजा प्रार्थना की। कबीर ने केवल भगवतीमाया को अस्वीकार किया। शिव, कृष्ण के बारे में मौन रहे। 'शिवनगरी घर मेरा' कहकर शिव

की प्रशंसा भी की। कृष्ण कबीर से बहुत दूर पड़ते थे। स्वामी रामानंद जी ने पंचज्ञान गंगा की जो धारा बहाई उसने हताश उत्तर भारत को आत्मज्योति की प्रकाशिका शक्ति से भर दिया। कहते हैं हनुमत् जयंती, पूजा, अर्चना के प्रसार का श्रेय भी स्वामी रामानंद जी को है।

भागवत की प्रस्तावना में भक्ति की द्रविड़ उत्पत्ति कहा है। साथ ही उसकी जीर्णता का भी उल्लेख है। भक्ति के दो पुत्र बीमार हैं। ये हैं ज्ञान और वैराग्य। वृंदावन आकर भक्ति को स्वास्थ्य मिलता है। भक्ति अपना दुखड़ा नारद से कहती है। नारद पुराण पुरुष थे। रामानंद इतिहास पुरुष थे। संतों, भक्तों और कवियों ने दक्षिण की भक्ति को रामानंद जी से वैसे ही जोड़ा जैसा भागवत की प्रस्तावना भक्ति को नारद से जोड़ती है। आचार्य रामानंद जी ने भक्ति को केवल उपासना या मुक्ति का मार्ग ही नहीं बताया। मुक्ति के साथ उसे सामजिक आदर्शों से भी जोड़ा। तुलसीदास की सामाजिकता पर सबका ध्यान गया किन्तु निर्गुणियों में भी एक प्रकार की सामाजिकता है। यद्यपि निर्गुण का मूल स्वर समाज को असत्य या मिथ्या कहने का है। संसार भ्रम है तो कैसी सामाजिकता? फिर समाज है। सुख दुख, भूख प्यास है। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर निर्गुणियों ने अपना धंधा नहीं छोड़ा। घर नहीं छोड़ा। घर में सन्यासी बने रहे। अपनी चिंता के बाद परिवार और साधु अतिथि की चिंता की।[१] परिवार की चिंता अपनी चिंता से अधिक स्वाभाविक एवं विकसित स्थिति में है। साधु की चिंता तो आदर्श स्थिति है। केवल मैं नहीं, मैं के साथ तुम और यह, वह भी। संतों की सामाजिकता संत बनाने के लिए होती है। न कि केवल पेट भरने के लिए। संत 'पेट समाता' ही लेता है। त्याग का उच्चतम आदर्श है। संत परिग्रह न कर अपरिग्रही होता है। संत गठरी नहीं बाँधता है। इसी से वह भीड़ में नहीं चलता है। यह कथन संत बनाने की प्रक्रिया भी है। संत वह है जो अपरिग्रही है।

भोग भी परिग्रह है। परिग्रही भोग, भाग छोड़ता है। वर्ण व्यवस्था में ब्राह्मण अपरिग्रही था। बौद्ध, जैन ने सन्यास को अपरिग्रही बनाया। भक्तों, सभी को अपरिग्रह का उपदेश किया। अपरिग्रह ही स्वतंत्र समाज की रचना करता है। भक्ति का अधिकार सभी को है। अपरिग्रह भी सबको करना चाहिए। इसलिये भी कि भक्ति में कोई खर्च नहीं है। यज्ञ, धन में परिग्रह चाहिए। यज्ञ करना राजा का कर्तव्य था। श्रेष्ठि, मठों का खर्च चलाते थे। भक्त अपना खर्च अपने श्रम से चलाता है। कम से कम खर्च में जीवन जीता है। उससे भी कम खर्च जितना कि वह अपने श्रम से पैदा करता है। भक्ति और भक्त समाज की रचना में आचार्य ज.गु. रामानंद की महत्वपूर्ण भूमिका है। कृष्ण भक्तों के यहाँ छप्पन भोग की कल्पना है। अष्टयाम में

आठ सखियों का विस्तार है। मोर मुकुट और वनमाला का स्थान महँगे जेवरातों ने लिया। गोचारण की कल्पना अब कल्पना मात्र रह गयी। आचार्य रामानंद ने प्रभु विग्रह को सजावट के स्थान पर मुख्यतः आस्था का केन्द्र बनाया। विग्रह रहित निर्गुण साधना को भी समान स्थान मिला। भगवान कृष्ण की हवेलियाँ सम्पन्नता के केन्द्र रूप में विकसित हुईं। इन हवेलियों में क्या नहीं था। संगीत, वाद्य, नृत्य, तरह तरह के मिष्ठान्न स्वयं भगवान् कृष्ण का माखन प्रेम भक्तों में भी आया। आंचार्य रामानंद ने भक्ति को भव्यता की अपेक्षा दिव्यता प्रदान किया।

संदर्भ

1. येऽप्यन्ये देवता भक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः
   तेडियमामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् गीता 9/23
2. आकाशत् पतितं तोयं यथागच्छतिसागरम् ।
   सर्वदेवनमस्कारः केशवं प्रति गच्छति ।।
3. साईं इतना दीजिए जामे कुटुम समाय।
   मैं भी भूखा ना रहूँ साधु न भूखा जाय।। कबीर



युगान्तरकारी चेतना के प्रवर्त्तकः स्वामीरामानन्द

डॉ० अशोक कुमार सिंह

भारत में जैसे-जैसे इस्लाम का प्रभाव बढ़ता गया यहाँ सदियों से स्थापित हिन्दू धर्म एवं सामाजिक व्यवस्था के समक्ष कठिनाइयाँ दिनोदिन बढ़ती चली गईं। अब तक जिस हिन्दू ध्रर्म ने भीतर या बाहर से आने वाले हर मत मतान्तर को समाहित करके उन्हें अपना बना लिया था वह इस इस्लाम के आगे अपने को असहाय पा रहा था। उसकी वह महान उदारता जिसके कारण वह किसी खास धर्म या मजहब का प्रतीक न होकर बहुत से विश्वासों और मतों का ढीला ढाला पुंज बन गया था, काम नहीं आती थी। क्योंकि इस्लाम एक संघटित धर्म था। इसकी शरण में एक बार आ जाने पर यह स्वतंत्रता नहीं थी कि वह अपने पूर्व धार्मिक विश्वासों में पुनः आस्था रख सके। हिन्दू धर्म का स्वभाव है कि वह अपने पूजकों और मानने वालों को इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता दे देता है कि वह चाहे जिस देवता की पूजा करे और जो उनके धार्मिक विश्वास हैं उन्हें मानें। हिन्दू धर्म देखने से अलग-अलग जातियों का समुदाय प्रतीत होता है जबकि इस्लाम व्यक्तियों को एक बृहत् समूह का अंग बना देता है। हिन्दूचरित्र की शुद्धता पर बल देता है तो इस्लाम मत की दृढ़ता पर। हिन्दू धर्ममत की विभिन्नता होते हुए भी सबको परब्रह्म से मिलने का अधिकारी मानता है, पर इस्लाम के मतानुसार मुसलमानों के अतिरिक्त अन्य सब काफिर, दोजख के अधिकारी हैं। सच कहें तो इससे पहले भारत का ऐसे मत से पाला ही नहीं पड़ा था जो दूसरे की सुने ही नहीं केवल अपनी जबर्दस्ती करे। इसलिए ऐसे धर्म से जब हिन्दुओं का पाला पड़ा तो उनको कुछ दिनों तक समझ में नहीं आया कि इसके साथ कैसे तालमेल बैठाया जाय, परन्तु कुछ काल तक किंकर्त्तव्यविमूढ़ हिन्दुओं ने अपने को सँभालने का प्रयत्न आरम्भ किया। ऐसे प्रयासों में एक प्रयास तो यह किया गया कि अपने प्राचीन रूप में व्यवस्था लाई जाय। दूसरा प्रयास यह हुआ कि इसमें कुछ नये विचारों को प्रश्रय दिया जाय।

इन बातों को प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. मोतीचन्द्र ने अपने ग्रंथ 'काशी का इतिहास' में उल्लेख किया है- भारत का ऐसे मत से पाला नहीं पड़ा था जो दूसरे की सुने नहीं अपनी जबर्दस्ती चलाए।[१] इसलिए कुछ दिनों तक तो हिन्दू धर्म के होश उड़े रहे। डॉ. हजारी प्रसाद द्विवेदी ने भी अपने 'कबीर' ग्रन्थ में इस बात

का समर्थन किया है कि इस्लाम का सामना करने के लिए विशाल हिन्दू धर्म के जंगल से एक पथ निकालने का प्रयत्न कुछ स्मार्त पंड़ितों ने किया, जिससे हिन्दुओं में श्राद्ध-विवाहादि की एक रीति-नीति प्रचलित हो सके।[2]

पर केवल आचार पर ही बल देने से काम नहीं चलने वाला था। उससे तो केवल जड़ता बढ़ी और हिन्दू जप-तप, स्नान, होम पर ही अधिक ध्यान देने लगे। इससे इस देश में रहने वालों के भीतर जो एक निराशा और हताशा का वातावरण था उसका वास्तविक परिमार्जन नहीं हो सका। शायद ऐसी ही स्थितियों के लिए गीता कहती है कि जब-जब धर्म की हानि होती है तब-तब कुछ ऐसा होता है कि पीड़ा से कराह रही मनुष्यता को राहत देने के लिए, नई राह दिखाने के लिए कोई चमत्कार या क्रान्तिकारी घटना घटती है। इन्हीं परिस्थितियों में बनारस में स्वामी रामानन्द और उनके तेजस्वी शिष्यों का प्रादुर्भाव हुआ।

आराचार्य रामानन्द ने दृढ़ता से प्रतिपादित किया कि राम का शुद्ध मन से उपासना करने वाले बिना किसी जाति भेद के एक साथ रह सकते हैं। जातिवाद पर आश्रित हिन्दू समाज के लिए यह एकदम नई बात थी। रामानन्द ने जाति की फौलादी दीवारों को ढ़हा देने का नारा दिया। 'जात-पाँत पूछै नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई।' स्वामी रामानन्द केवल एक सिद्धान्त का प्रवर्तन करते ही नहीं रह गये उन्होंने इस क्षेत्र में छोटी जातियों को अपना शिष्य बनाया इससे धार्मिक के साथ सामाजिक क्षेत्र में भी एक बड़ा बदलाव आया। यहीं नहीं उन्होंने अपने विचारों के प्रसार के लिए केवल संस्कृत का आश्रय छोड़कर जनभाषा हिन्दी की सहायता लेने को भी प्रोत्साहित किया।

संतों और महात्माओं की खान इस भारत भूमि पर तो युगों से ऐसे महापुरुष आते-जाते रहे हैं लेकिन स्वामी रामानन्द तो इन सब में एक विलक्षण, युगप्रवर्तक महात्मा थे। उन्हें युगांतकारी, नवचेतना का प्रवर्तक इसलिए कहना पड़ता है कि उनकी चिन्ता केवल धर्म को लेकर सीमित नहीं थी। उनकी चिन्ता में यह समाज भी उतना ही महत्व रखता था। वे जिस संप्रदाय में दीक्षित हुए वह विष्णु की उपासना करता था। इस उपासना ने राम भक्ति से पहले कृष्ण भक्ति की प्रेरणा को जाग्रत कर दिया था। जयदेव के काव्य ने इस भक्ति को और बल प्रदान किया। इससे कृष्ण भक्ति का ऐसा वातावरण बना कि लोगों का उधर ही झुकाव होता चला गया। ऐसे समय में स्वामी रामानन्द ने यह महसूस किया कि हमारे व्यापक समाज को एक ऐसे आराध्य की आवश्यकता है जो इस जाति की वीरता, त्याग, कष्ट और सहिष्णुता को एक साथ प्रेरणा दे सके। इस निमित्त उन्होंने विष्णु और कृष्ण के स्थान पर श्रीराम को ला खड़ा किया। इस तरह रामोपासना का वास्तविक प्रवर्तन

स्वामी रामानन्द के किया। इसीलिए रामानन्द के इस संप्रदाय को 'रामावत संप्रदाय' कहते हैं। इसमें श्रीराम को सगुण और निर्गुण दोनों माना जाता है। रामधारी सिंह दिनकर ने लिखा है कि रामोपासना का वास्तविक प्रवर्तन रामानन्द ने किया। रामानन्द का संप्रदाय रामावत संप्रदाय कहलाता है जो विशिष्टाद्वैत वादी है किन्तु उपासना वह विष्णु के बदले राम की करता है। रामानन्द का दूसरा महत्वपूर्ण कार्य यह है कि उन्होंने रामोपासक वैरागियों का संगठन एक स्वतंत्र संप्रदाय के रूप में किया और उस संगठन में प्रवेश पाने का अधिकार उन्होंने उन वैष्णवों को भी दिया जो जन्मना शूद्र एवं मुसलमान थे।[३]

दिनकरजी इस बात को इन शब्दों में व्यक्त करते हैं- भक्ति मार्ग में उदारता के बीज स्वामी रामानन्द ने ही बोये थे। वे पहले आचार्य हुए जिन्होंने मुसलमान शिष्यों को भी शिष्य माना और स्त्रियों तथा शूद्रों का भी अपने संप्रदाय में स्वागत किया। रामानन्द के एक शिष्य कबीर और दूसरे रैदास थे। शायद रामानन्द के ही दृष्टान्त पर आगे चलकर गोसाईं विठ्ठल नाथ ने रसखान को दीक्षा दी जो मुसलमान थे। इसी प्रकार बंगाल में चैतन्य महाप्रभु ने भी मुसलमानों को शिष्य के रूप में स्वीकार किया।[४] जिस काल में स्वामीजी का आविर्भाव हुआ निम्न जातियों में इस्लाम का प्रभाव बढ़ता ही जा रहा था। इस प्रभाव को बढ़ने के कई कारण थे। इन कारणों में प्राण का भय, सत्ता के प्रलोभन और इस्लाम का हिन्दुओं के ऊँच-नीच, जातिवादी, वर्णवादी व्यवहार के विपरीत भाईचारे और समानता का व्यवहार। उनकी जोर जबर्दस्ती और इस्लाम में रहकर एक मत पर दृढ़ रहने की कठोरता उनके नकारात्मक पक्ष थे। कुल मिलाकर हिन्दू होकर भी छोटे मोटे कारणों से अस्वीकृत, जाति बहिष्कृत हिन्दू लोगों के लिए इस्लाम स्वीकारने में परेशानी से अधिक सुविधा ही दिखाई पड़ती थी।

यह निर्विवाद है कि अगर स्वामी रामानन्द केवल एक धार्मिक व्यक्ति होते तो अपने पूर्व गुरुओं की तरह अधिक से अधिक एक सैद्धान्तिक उदारता दिखाकर अपने को वहीं तक सीमित रखते। परन्तु ऐसी बात नहीं थी। उन्होंने पूरे भारतीय समाज की संरचना पर अपनी पैनी निगाह लगा रखी थी। उन्हें पता था हिन्दू लोग वर्ण और जाति के सिद्धान्त को लेकर कितने दृढ़ हैं। इसलिए उन्होंने जब 'आनन्दभाष्य' लिखा उस समय उन्होंने शास्त्र सम्मत वर्णाश्रम और शूद्रों के वेद पढ़ने के अधिकार न देने का समर्थन किया। किन्तु उनके लिए यह भी कठिन था कि किसी भक्त का निरादर वे सिर्फ इसलिए करें कि उसका जन्म ब्राह्मण अथवा द्विज के वंश में नहीं हुआ है। हिन्दुओं के वितण्डावाद से बचने के लिए उन्होंने उनका विरोध भी नहीं किया और व्यावहारिक दयालुता के द्वारा इस्लाम की तरफ जाती जनता के लिए उन्होंने साथ उठने-बैठने-खाने-पीने से लेकर पूजापाठ तक

का नया द्वार खोल दिया। उन्होंने अपने राम को निर्गुण-सगुण दोनों रूपों में भजने का रास्ता दे दिया। इसका आगे चलकर इतना प्रभाव पड़ा कि वे बंगाल में चैतन्य महाप्रभु, असम में शंकरदेव के भी कई शिष्य मुसलमान और आदिवासी हुए। समस्त भारत में मंदिर प्रवेश और शास्त्र अध्ययन से वंचित जातियों के लिए एक नया वातावरण निर्मित होना आरम्भ हो गया। टूटती हुई मूर्तियों और पराभूत निराश मन में एक विश्वास और आशा की किरण दिखाई देने लगीं। जब तक पूंजी थोड़ी थी, सीमित थी, विशिष्ट थी, संरक्षित थी उसका एक मठ था, केन्द्र था। लेकिन जब वह कबीर, रैदास, सेन, धन्ना, सुरसुरी में असीम हो गई। वह जन-जन में, घट-घट में व्याप्त हो गई। उसके कई-कई केन्द्र हो गये। उसके लिए एक श्रीमठ छोटा और थोड़ा पड़ने लगा।

डॉ. शुकदेव सिंह ने जो सवाल श्रीमठ स्मारिका में उठाया है कि आश्चर्य की बात है कि इतने प्रतापी स्वामी रामानन्द का वह विशाल श्रीमठ ऐतिहासिक रूप से प्राय: लुप्त क्यों हो गया?[५] इस सवाल का जवाब भी मुझे ढूढ़ने पर उन्हीं के लेख में मिलता है- ठीक गोरखनाथ की तरह ही स्वामी रामानन्द एक ऐसे सन्त महात्मा हैं जो पारंपरिक साधना और श्रमजीवी सन्त साधना दोनों के विनियोजक जान पड़ते हैं। स्वामी रामानन्द वह सेतु हैं जिनसे भक्त और संत जुड़ते हुए दिखाई पड़ते हैं। इसीलिए नाभादास से लेकर दूसरे संतों द्वारा लिखित, संपादित भक्तमालों, अनन्तदास की परिचयियों, जनम-साखों-संवादों, गोष्ठियों, बोधसागर ग्रंथों, और स्रोत रचनाओं में रामानन्द नियामक और कर्त्ता के रूप में उपस्थित हैं। उनका शंख सत्य की रक्षा के लिए बजता है और वे उदारता पूर्वक चरित्रगत वैरागी को महत्त्व देते हुए गृहस्थ और गृहत्यागी दोनों प्रकार के अच्छे मनुष्यों को गौरवान्तित करते हैं।.....'प्रसंग-पारिजात' नामक ग्रंथ में हिन्दू-मुसलमान-सूफी-शूद्र, राजा इत्यादि की अनुश्रुतियों को जिस तरह एकत्र किया गया है, उससे यह अन्दाज लगाया जा सकता है कि स्वामी रामानंद सन्तनायक ही नहीं, जन-नायक भी थे। वे जितने बड़े स्रष्टा थे, चमत्कारी थे, सिद्ध और प्रसिद्ध थे, उतने बड़े संतुलन विनायक भी थे। आगे पुन: उसी लेख में डॉ. शुकदेव सिंह लिखते हैं कि यदि वे दीक्षित शिष्य होते। गुरु के रूप में उनका स्मरण करते। तब उन्हें रामानन्द का शिष्य कहा जाता, तो कोई बड़ी बात नहीं थी। लेकिन सन्तों के अन्तर्साक्ष्य के अभाव में जन साहित्य का साक्ष्य कबीर, रैदास को यदि रामानन्द का शिष्य स्थापित कर देता है तो यह अन्दाज करना पड़ेगा कि स्वामी रामानन्द की ऊँचाई कितनी थी। साधारण गुरु का कोई महान शिष्य हो सकता है लेकिन कबीर रैदास जैसे महान संतों, कवियों और लोक उन्नायकों को रामानन्द के भक्तमालों और प्राचीन साहित्य से जोड़ना यह सिद्ध करता है कि रामानन्द का व्यक्तित्व इतना बड़ा

था कि किसी भी महिमा मंडित चरित्र को उनसे संबद्ध किया जा सकता था।[6]

अब यह सुस्पष्ट है कि स्वामी रामानन्द का व्यक्तित्व इतना व्यापक और महान् हो चुका था जिसे खोजने के लिए किसी स्थूल विग्रह या मठ की आवश्यकता नहीं रह गई थी। उसकी सुगन्ध पूरे देश में फैल चुकी थी। वैसे ही जैसे वुद्धि को ढूँढ़ा जाय तो वह मस्तिष्क में मिल जाएगी, करुणा हृदय में मिलेगी परन्तु प्राण का केन्द्र खोजें तो उसके लिए देह का रोम-रोम खगालना पड़ेगा। स्वामी रामानन्द देश के कोने-कोने तक फैल चुके थे इसलिए काशी के एक पंचगंगा मठ से हटकर सबका ध्यान पूरे देश पर लग चुका था।

इस तरह यह प्रमाणित होता है कि स्वामी रामानन्द एक युगान्तकारी, युगप्रवर्तक महान धार्मिक और उन्नत सामाजिक चेतना से भारतीय समाज को संपन्न करने वाले नायक और विनायक थे। यद्यपि उनका मूल केन्द्र श्रीमठ पंचगंगा घाट था लेकिन उनकी सुगन्ध पूरे भारत में व्याप्त है। उनका व्यक्तित्व उस गंगा के समान उदार और विमल है जिसके साथ किसी को जोड़ देने से उसका गौरव बढ़ जाता है। केवल इतना ही नहीं स्वामी रामानन्द आज हमारे जीवन में ऐसी उदारता के प्रतीक के रूप में विद्यमान हैं जिनका संस्मरण करके हम किसी भी कठमुल्लापन और संकीर्णता के विरुद्ध कमर कसकर खड़े हो सकते हैं। आज की इस विसंगति और विड़ंबना पूर्ण युग में यह महान संत एक बार तब और प्रासंगिक हो उठता है जब इस देश की एकता को जातिवाद, क्षेत्रवाद, हिंसा, आतंकवाद और विविध प्रकार की संकीर्णताएँ विखण्डित करने पर तुली हुई हैं।

संदर्भ

1. काशी का इतिहास, पृ. 189
2. कवीर, पृ. 172
3. संस्कृति के चार अध्याय, पृ. 382
4. वही, पृ. 386
5. श्रीमठ स्मारिका, पृ. 265
6. श्रीमठ स्मारिका, पृ. 264

रामभक्ति के विकाससूत्र

डॉ. यतीन्द्र तिवारी

सम्पूर्ण जीव-जगत में 'मनुष्य' सृष्टिकर्ता की सर्वोत्तम रचना है। क्योंकि वह सभी प्राणियों में श्रेष्ठ है। वह विवेक सम्पन्न और मननशील है। उसकी श्रेष्ठता इसी में है कि वह पितृपितामह में आस्था और परम्परागत ज्ञान की वृद्धि ऐश्वर्य तथा वैज्ञानिक आविष्कारों की उपलब्धि के साथ-साथ परमात्मा-प्राप्ति के मार्गों की सतत् खोज में तल्लीन है। उसमें परमात्म तत्त्व सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने की क्षमता है। जो समस्त मानवेत्तर प्राणियों से विलक्षण है। वह अपनी इसी विलक्षण-क्षमता के आधार पर साक्षात् परब्रह्म को जानकर उसकी प्राप्ति कर कृत-कृत्य हो सकता है। वह मानवत्व से देवत्व को प्राप्त कर सकता है।

'मनुष्य' की उत्पत्ति एवं अवधारणा के सम्वन्ध में भारतीय एवं भारतीयेतर चिन्तन परम्पराओं में भिन्न-भिन्न व्याख्यायें की गई है। श्रीमद्भागवत् में 'मनुष्य' की अवधारणा को स्पष्ट करते हुये उसके तीस लक्षणों का वर्णन किया है।

सत्यं दया तप: शौचं तितीक्षा शमो दम:। अहिंसा ब्रह्मचर्य च त्याग: स्वाध्याय आर्जवम् ॥

संतोष: समदृक् सेवा ग्राम्येह्योन परम: शनै: । नृणां विवर्ययेहक्षा मौनमात्म विमर्शनम॥

अन्नाधादे: संविभागो भूतेभ्यश्च यथार्हत:। तेष्वात्म देवताबुद्धि: सुतरां नृषु पाण्डव ॥

श्रवणं कीर्तनं चास्य स्मरणं महतां गते:। सेवेज्यावनतिर्दास्यं सख्यमात्म समर्पणम् ॥

नृणामयं परो धर्म: सर्वेषा: समुदाहृत:। त्रिंशलक्षणवान् राजन् सर्वात्मा येन तुष्यिति ॥

अर्थात् भारतीय चिन्तन ऐसे 'मनुष्य' की अवधारणा करता है, जिसमें ये सभी लक्षण विद्यमान हैं, जो कि सत्य, दया, तपस्या, शौच, तितीक्षा, आत्म-निरीक्षण, बाह्य एवं अन्तर इंद्रियों का संयम, अहिंसा, ब्रह्मचर्य; त्याग, स्वाध्याय, सरलता, संतोष समदृष्टि, सेवा, दुराचार से निवृत्ति, जनचेष्टाओं के अनुरूप मौन आत्मविचार इष्टदेव में श्रद्धा, तथा परमात्मा के गुण नाम आदि का श्रवण-कीर्तन, स्मरण सेवा और आत्मनिवेदन आदि। देवर्षि नारद द्वारा वर्णित इन सभी तीस लक्षणों से सम्पन्न मनुष्य ही परमतत्त्व का ज्ञाता समस्त जीवों में श्रेष्ठ प्राकृतिक

शक्तियों का अधिष्ठाता है। वह स्थिति-प्रज्ञ है।

'मानव' भारतीय मनीषा की खोज पूर्ण एक विषय रहा है। भारतीय चिन्तन परम्परा की अमूल्यमाणिक्य रामायण एवं महाभारत आदि उदात्त कृतियों का निरन्तर यह प्रयास रहा है कि आने वाली भावी पीढ़ी के लिये ऐसे अनुकरणीय आदर्श ग्रहण कर तत्कालीन तथा भावी मानव समाज दिशा प्राप्त कर सकें। मनुष्य की उत्पत्ति के सम्बन्ध में भारतीय तथा भारतेतर चिन्तन परम्पराओं में अन्तर भले ही रहा हो लेकिन मानव कल्याण की भावना से युक्त उदात्त चरित्र सम्पन्न 'मानव' का प्रतिष्ठा करना सभी चिन्तन परम्पराओं का एक मात्र लक्ष्य रहा है। यहूदी-ईसाई तथा इस्लाम चिन्तन में 'मनुष्य' की उत्पत्ति का कारण 'भय' माना गया है। यह चिन्तन परम्परायें स्वीकार करती हैं कि आदि मानव आदम और ईव (हब्बा) की उत्पत्ति ईश्वर द्वारा वर्णित ज्ञान तरु के फल खाने के अपराध में स्वर्ग से निष्कासन के कारण मनुष्य-जीवन के रूप में हुई है। अर्थात् इन चिन्तन परम्पराओं में 'मनुष्य' जन्म से ही अभिशप्त, पापी और नरक गामी है उसका उद्धार पृथक्-पृथक् चिन्तन परम्पराओं के अनुसार ईश्वर के पैगम्बर मूसा या ईसा या मुहम्मद ही कर सकते हैं। किन्तु भारतीय चिन्तन मनुष्य की उत्पत्ति का कारण 'भय' न मानकर 'आनन्द' स्वीकार करता है। तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि 'मानव' शरीर परमपावन एवं परम् सौभाग्यमय है। जीवन का आदि मध्य एवं अवसान सब आनन्दमय है। परमात्मा की कामना का प्रतिफलन इसी जीवन में है। अत: मानव जीवन आनन्दोद्भुत है, आनन्दमय है और आनन्द में ही इसका लय होता है।' यही कारण है कि मनुष्य की ऐसी आनन्दमयीस्थिति, गति प्रतिपादकता से प्रभावित होकर विष्णु पुराण में एक स्थान पर देवता भी भारत-भूमि में उत्पन्न 'मानव' की स्तुति करते है।

गायन्ति देवा: किल गीतकानि धन्यास्तु ये भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते भवन्ति भूया पुरुषासुरत्वात् ॥ (विष्णुपुराण)

इस प्रकार विवेचन से स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तन अध्यात्म प्रधान होते हुये भी 'मानव-केन्द्रित' चिन्तन रहा है। इस चिन्तन परम्परा के वाल्मीकि रामायण, अध्यात्मरामायण तथा रामचरितमानस जैसे महान ग्रन्थों में एक ऐसे 'स्थितिप्रज्ञ' पुरुष का वर्णन किया गया है जो राज्याभिषेक के समाचार से प्रसन्न नहीं होता और बनवास के समाचार से दु:खी नहीं होता वह सुख और दु:ख के चरम क्षणों में एक रस या समरस रहा है। वस्तुत: ऐसी 'स्थितिप्रज्ञ' पुरुष ही रामायण के मनुष्य की अवधारणा है।

वस्तुत: मनुष्य सम्बन्धी अपनी ऐसी उदात्त अवधारणा के कारण ही रामायण

किसी भी युग और किसी भी देश के समाज और साहित्य के लिये प्रेरणा स्रोत रहा है। रामायण महाकाव्य की रचना से पूर्व महर्षि वाल्मीकि की मूल चिन्ता एक ऐसे उत्तम गुणों से सम्पन्न मनुष्य की खोज थी जो दूसरों के लिये अनुकरणीय हो उदारता, नम्रता, श्रेष्ठता, सरलता, साहस, दया और शौर्य जिसके पर्याय हों। महर्षि वाल्मीकि ने ऐसे ही मनुष्य के सम्बन्ध में जानने के लिये देवर्षि नारद जी से रामायण के प्रथम सर्ग के प्रारम्भिक श्लोकों में जिज्ञासा व्यक्त की है। महिर्ष कहते हैं–

चारित्रेण च को युक्तः सर्वभूतेषु को हितः।
विद्वान्कः कः समर्थश्च कश्चैक प्रियदर्शनः॥
आत्मवान् जिक्रोधो धुतिमान्कोहसूयकः।
करुण बिम्यति देवाश्च जातरोषस्य संयुगे॥

अर्थात् महर्षि की मनुष्य सम्बन्धी अवधारणआ स्पष्ट है कि एक ऐसा मनुष्य जो सदाचार से युक्त सब प्राणियों का हित करने वाला, विद्वान् सामर्थ्यवान और प्रिय-दर्शन, धैर्ययुक्त, काम-क्रोधादि शत्रुओं का विजेता, क्रान्तियुक्त ईर्ष्या तथा निन्दा न करने वाला तथा युद्ध में क्रुद्ध होने पर देवताओं को भी भयभीत करता हो। महर्षि की चिन्ता सदैव मनुष्य की खोज में रही। ऐसा मनुष्य कौन है? देवर्षि नारद ने महर्षि की मनुष्य सम्बन्धी इस अवधारणा के अनुरूप मर्यादायुक्त पुरुषों में उत्तम पुरुषोत्तम राम का वर्णन किया है।

उन्होंने कहा–

स च सर्वगुणोवेतः कौसल्यानन्दवर्धनः।
समुद्र इव गाम्भीर्ये धैर्येण हिमवानिव॥
विष्णुना सदृशो वीर्ये सोमवत् प्रिय दर्शनः।
कालाग्निसमदृशः क्रोधे क्षमया पृथ्वी समः।
धनदेन समस्त्यागे सत्ये धर्म इवापरः॥

महर्षि आपकी अवधारणा के अनुरूप जो सर्वगुण युक्त है, जो गम्भीरता में समुद्र के समान धैर्य में हिमालय के तुल्य पराक्रम में विष्णु के सदृश प्रिय दर्शन में चन्द्रमा के तथा क्षमा में पृथ्वी के समान है ऐसे पुरुषोत्तम राम क्रोध में कालाग्नि और दान देने में कुवेर तथा सत्य के पालन में साक्षात् धर्म हैं।

इस प्रकार महर्षि वाल्मीकि और देवर्षि नारद के विचार मन्थन से रामायण के प्रथम सर्ग में ही मनुष्य की वह उदात्त अवधारणा स्पष्ट हो जाती है। मानव समाज के लिये उदात्त मानवीय आदर्शों का स्वरूप प्रस्तुत करती है। इस सम्पूर्ण कथा में एक ऐसा मनुष्य केन्द्र बिन्दु है जो राजतंत्र में भी प्रबल लोकतंत्र की स्थापना करता

है, विवश और संकट ग्रस्त होते हुए भी कभी असमय और असहाय नहीं होता है जो अनेक बार जन-शोषित होने पर भी अपनी निष्ठा उदारता और सरलता से कभी विचलित नहीं होता। वस्तुतः ऐसी स्थिति-प्रज्ञ 'राम' ही महर्षि की मनुष्य सम्बन्धी सम्पूर्ण चिन्तना का परिणाम है जिसे उन्होंने रामायण में मानव समाज के धरातल पर प्रस्तुत कर अनन्त काल तक मानव समाज के लिये प्रेरणा-शक्ति के रूप में प्रस्तुत किया है।

रामायण में मनुष्य की अवधारणा निष्ठाओं से बंधे मनुष्य की अवधारणा है। इसी अवधारणा को महर्षि वाल्मीकि के उपरान्त गोस्वामी तुलसीदास ने भी रामचरित मानस में विकसित किया है गोस्वामी तुलसीदास में भक्ति की प्रधानता होने के कारण उनका मनुष्यत्व देवत्व बोझ से कहीं अधिक बोझिल हो जाने के कारण कहीं-कहीं अलौकिक है किन्तु उनकी यह अलौकिकता लौकिकता का पूर्ण अतिक्रमण नहीं कर पाती है। गोस्वामी तुलसीदास एक सन्त और विदेशी शासकों की क्रूर दासता में जकड़ी मध्ययुगीन भारतीय समाज से उपजी मानसिकता के भक्त हैं जो अपनी सम्पूर्ण पीड़ाओं का निदान परमशक्तिमान की कृपा पर ही मानते हैं।

किन्तु उन्होंने भी रामचरितमानस में राम की पुरुष सिंह रूपकी अवधारणा की है। यह पुरुष सिंह देवोचित एवं मानवोचित मान-मर्यादा का पालन करने वाला पुरुषों में उत्तम 'पुरुषोत्तम' हैं। अर्थात् तुलसी के राम एक ऐसे मनुष्य हैं जो देवत्व और मानवत्व दोनों से युक्त होकर भयभीत गानव समाज को आतताइयों के भय से मुक्ति दिलाकर उन्हें आनन्द प्रदान करने वाले है। यहीं मध्ययुगीन भारतीय मानव समाज के लिए अभीष्ट भी था। अपने इसी अभीष्ट की प्राप्ति के लिये उन्होंने मानस के प्रारम्भ में लिखा है–

जनि उपरहु मुनि सिद्ध सुरेसा। तुम्हहिं लागि धरिहउं नर चेता॥
अंसन्ह सहित मनुज अवतारा। लेहउं दिनकर बस उदारा॥
नारद वचन सत्य तव करिहउं। परम शक्ति समेत अवतरिहउं॥
हरिउं सकल भूमि भरुआई। निर्भय होहु देव समदाई॥

गोस्वामी तुलसीदास परम संत है किन्तु वे ऐसे एकाकी संत नहीं जो समाज से दूर चले जाये और मात्र व्यक्ति रूप में मोक्ष की या आराध्य के दर्शन एवंसान्निध्य की कामना करें वरन् ऐसे संत है जो अपने आराध्य से अपने साथ-साथ अपने समाज को निर्भय एवं आनन्द प्रदान करने की कामना करते है। वस्तुतः वे एक प्रमुख समाज चिन्तक हैं इसीलिये महाकाव्य में एक ऐसे मनुष्य की अवधारणा कर सके जो परम निष्काम कर्मयोगी है। देवत्व और मानवत्व से

संयुक्तपुरुषोत्तम ही अनादिकाल तक मानवसमाज के लिये आदर्श प्रेरणा स्रोत हो सकता है।

रामायण और रामचरितमानस दोनों में ही शक्ति-शील और सौन्दर्य समन्वित मनुष्य की अवधारणा की गई है। यदि एक ओर शील रहित शक्तिवान मानवेतर प्राणी है जिन्हें राक्षस कहा गया है तो दूसरी ओर शील संयुक्त मानव हैं जिन्हें उदात्त रूप में प्रस्तुत कर मानव समाज का मार्ग-दर्शन किया गया है। शक्ति एवं शील संयुक्त मनुष्य ही संशय और द्विविधा रहित होकर अपने अभीष्ट लक्ष्य को प्राप्त करता है और स्वस्थ समाज का निर्माण करता है। अनेक समाहित विकृतियों को दूर कर उसे परिष्कृत करता है। वस्तुतः ऐसा मनुष्य ही सच्चा कर्मयोगी है।

संक्षेप में इतना ही कहा जा सकता है कि रामायण या रामकथा में एक ऐसे मनुष्य की अवधारणा की गई है जो स्थिति-प्रज्ञ कर्मयोगी है। सिंह-पुरुष होकर मानव-समाज को निर्भय कर उन्हें आनन्द प्रदान करता है तथा उदात्त-गुणों से सम्पन्न मर्यादित पुरुषोत्तम है और अनादि काल तक सम्पूर्ण मानवसमाज के लिये प्रेरक शक्ति है।



भक्ति और स्वामीरामानन्द

डॉ. रामकेवल् शर्मा

भक्ति अनादि है। इसका उत्पत्ति-स्थल वस्तु-पदार्थ नहीं, व्यक्ति का अन्तस् है। उत्पत्ति क्यों? चित्तभूमि में महत् आनन्द की जागृति है। अनादि परम शक्ति की अनूभूति और स्वीकरण।

आदि मानव पशु था-पशुवत्। उनकी प्रवृत्ति क्षुधापूर्ति, प्राण-रक्षा और काम-तृप्ति थी। संग्रह-संचय कुछ न था। केवल जी रहे थे और जीने के उद्योग में व्यस्त। कुछ लोभ आगे बढ़ा-संग्रह-संचय करने लगे। गुफाओं में ही सही। विकास के सुखानन्द ने उन्हें झोपड़ियाँ बनाने और तन ढ़कने तक का ज्ञान दे दिया। एक बड़ा मोह उत्पन्न होने लगा-संग्रहीत पदार्थों और झोपड़ियों के प्रति। किन्तु प्राकृतिक आपदाओं को कौन रोक सकता है? आँधी, तूफान, प्रलयंकर दावाग्नि से तो वनस्पति रहित स्थानों पर भागकर जानें बचाई। मनुष्य किसी के सामने झुकने वाला प्राणी नहीं। घोर जल-वृष्टि में नष्ट होने से पदार्थों और झोपड़ियों को बचाया होगा। आँधियों को मुट्ठियों में भींच लेने के प्रयास किए होंगे क्योंकि आत्म-रक्षा मानव का स्वभाव है। आज भी सुरक्षा और विकास की वही दौड़ चल रही है। परन्तु वह प्रकृति से हारता गया। वहीं सोचने के लिए बाध्य हुआ होगा-वह कौन सी अपराजित शक्ति है, जो सब पर विजयी है। उपनिषदों में भी यही प्रारंभिक कौतूहलमय प्रश्न है। क्व च ब्रह्म, कुतो जात:? पराजित मानव तब दमन से नहीं, शमनात्मक भाव से जीतने के प्रयास करने लगे। हे अग्निदेव रक्षा करो, हे वरुण देव रक्षा करो। हे पवनदेव रक्षा करो। हम तुम्हारी शरण हैं। तुम पूज्य सर्व समर्थ हो। यहाँ से स्वामी सेवक भाव उत्पन्न होता है। वे अपराजित तत्वों की पूजा विनम्रता पूर्वक करके अपनी सुरक्षा सोचने लगते हैं और अब आगे बढ़ते हैं। भक्ति का आरंभ भी यहीं से होने लगता है। ब्रह्म का ज्ञान हो, न हो किन्तु एक अपरिमित शक्ति के बोध ने आदि मनुष्य के मानस में किसी से हारने, नष्ट होने, हीन भावना अवश्य भर दी। उससे निजात के उपाय में ही विविध रूपों में शक्ति प्रतीक स्थापित करके पूजने लगे। सूर्य हमें प्रकाश दे रहा है। ऊर्जा दे रहा है। सूर्याय नम:। अग्नये स्वाहा। अग्नि से हम भोजन पकाते हैं। ताप देता है। वरुणाय नम:। जल ही जीवन है। हे वायुदेव! तुम्हीं प्राणों के प्राण हो। हम तुम्हारे सेवक हैं, दास हैं-अपनी अति

से हमारी रक्षा करो।

फिर भी दुखों का अन्त कहाँ? दैहिक, दैविक एवं भौतिक संत्रास ज्यों के त्यों। शरीर रुग्ण एवं जर्जर हो रहा है। उपाय-दर-उपाय खोजने लगे। बुढ़ापे को मिटाने का असफल उद्योग। चूर्ण, पाक, अवलेह, पिष्टी, रस, भस्मादि तक खोज डाले। आयुर्वेद इसी की परिणति है। जिजीविषा के खोजपूर्ण प्रयत्न आज तक जारी हैं। मानव कुछ और आगे बढ़कर लम्बी उम्र और स्वास्थ्य पाने और देने लगा। फिर भी बुढ़ापे और मृत्यु को रोक नहीं पा रहा है। बुद्ध की जिज्ञासा इसे जानने और रोकने के लिए बाध्य कर देती है। वह कौन है जो सब पर नियमन कर रहा है? सूर्य, चन्द्र, आकाश, वायु, जल, पृथ्वी, अग्नि उसके शक्ति-प्रतीक प्रमाण हैं। इसी कौतूहल ने मानव-मानस में कठोर समर्पण और साधना की ज्योति जलाई। भक्ति का बीज यही से अंकुरित होता है। घोर चिंतन, मनन और साधना से जिस तत्व का मानव ने आत्मसात किया, उसे ब्रह्म की संज्ञा दी। अहं ब्रह्मास्मि। जीवो ब्रह्मैव नापरः। सर्वं खल्वमिदं ब्रह्म। एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति। आदि मानव ने पहले ब्रह्म के नानात्व का ही बोध किया। अग्नि, जल, वायु, सूर्यादि प्रकृत के विविध रूप। आगे और आगे-एक के बोध से समाधिस्थ हो गया। पुनः एक अनेक हो गया। वस्तुतः ब्रह्म का कोई स्वरूप नहीं। मानव मन-मानस ने जिस पूज्य कल्पित रूप का आधान कर ब्रह्म का साक्षात् किया-वही वह रूप पूज्यप्रतिष्ठित होता चला गया। इसीलिए भारत में एक ही ब्रह्म नाना रूपों में स्थापित और पूज्य दिख रहा है। रूप-भेद, पूजा भेद, साधना-भेद, कर्म-भेद, शक्ति-भेद, ये सब मानव की कल्पित धारणाएँ हैं। गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने स्पष्ट कह दिया-'मुझे जो जिस भाव से भजता है, मैं उसे उसी भाव से मिलता हूँ।'

बिना कारण के कार्य नहीं। जैसे काष्ठ में अग्नि छिपी रहती है, उसी प्रकार मन-मानस में ब्रह्म और भक्ति। महाभारत के समाप्त होने पर श्रीकृष्ण कुन्ती से मिलने गए थे। प्रणाम करके कुछ माँगने को कहा था। कुन्ती ने दुख माँगा। यह क्यों? श्रीकृष्ण ने पूछा भी था। कुन्ती ने उत्तर दिया था-'दुखों में ही भक्ति जागृत होती है।' सुखी भरे-पूरे के लिए भक्ति हो, न हो। कभी राम-नाम न लेता हो। मंदिरों के सामने सिर न झुकाता हो-क्योंकि वह सुखी है। अपने को भरा-पूरा समझता है। कहीं खालीपन नहीं दिखता-अनीश्वरवादी हो गया। ठीक हुआ। अकारण भक्ति क्यों? भक्ति के लिए कारण चाहिए। विद्वान उसे मूर्ख कहते हैं। उसे अपने खालीपन की अनुभूति ही नहीं। खाने-नहाने से आजाद है- बहुत सुखी। कबीर साहब ने तो स्पष्ट कह दिया-'खाया पीया सोया टाँग पसार, भोंदू क्या जाने कोहं को संसार।'

किन्तु बुद्धिजीवी उच्च विभूति की दशाओं में भी रिक्तता रूप कारण दुखों की ही अनुभूति से ब्रह्मोपासना जारी रखते हैं। जीव की रिक्तता अपनी पूर्णता की प्राप्ति की ललक। यह भौतिक उपादानों से कभी आपूरित नहीं हो सकता। धन-वैभव-बाहरी जगत है, पूर्ण संसारी। जो एक दूसरा संसार है- अन्तस, का, पूर्ण अभौतिक-आध्यात्मिक। गहरी चित्तभूमि की जागृति, अनुभूति-अहं ब्रह्मास्मि।

चाहे जो हो, पीड़ा सबकी एक ही समान होती है- क्या अमीर, क्या गरीब। पीड़ित और निराश के लिए ईश्वर के अलावा संसार में है कौन? उसकी पलकों में नींद नहीं, भूख पर भोजन नहीं, रहने के लिए घर नहीं-भक्ति तो उसी के अन्तः से आग की लपटों की तरह, आसुओं के समुद्र की हजार-लाख उत्ताल तरंगों में उमड़ती, हाहाकार करती परमब्रह्म को छू लेने के लिए बाध्य करती रहेगी। जितनी संकल्पबद्धता और अमिट विश्वास उसकी भक्ति में होगा-एक सुसम्पन्न में नहीं। वह औपचारिक अधिक होगा। टूटा हुआ दिल ईश्वर से मिलने के लिए अधिक बेकरार रहता है।

प्रेम जगावै विरह हो, विरह जगावै जीव।
जीव जगावै पीव को, वही जीव वही पीव।

किन्तु प्रेम को जगाता दुख है। अभाव है। हर दुखी भगवान् के सामने अपनी झोली फैलाकर कृपा-प्रसाद मांगता है-प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष। यही भक्ति की उत्पत्ति का कारक है। जब विद्वानों का बड़ा समुदाय यह कहता है-

भक्ती द्राविड़ उपजी, लाए रामानन्द।
प्रकट करी कबीर ने, सात द्वीप नव खण्ड।

भक्ति का उत्पत्ति-स्थल कोई क्षेत्र नहीं, न भक्ति कोई ठोस या तरल पदार्थ है, जिसे कहीं ले जाया जा सके। हाँ, दक्षिण में आलवारों ने अपना वर्चस्व बना लिया था। वे घुमन्तू गायक, भजनानन्दी साधु थे। उस समय की जनता के लिए इतना ही पर्याप्त था। संगीत की तरलता सबको द्रवित किए बिना नहीं छोड़ती। यदि आचार-विचार भी त्यागी का हो जाय तो फिर क्या पूछना? उत्तर भारत में दक्षिण की भक्ति जैसा वातावरण नहीं था। आलवार भक्त राम लक्ष्मण और सीता के विग्रहों की स्थापना, मंदिर-निर्माणदि के साथ भक्ति का वातावरण तैयार करते थे। भक्ति, भजन और ब्रह्म-सिद्धि के लिए वातावरण का मूल्य सर्वोपरि है। इससे तितीक्षा जागृत होती है और असाधु भी एक बार भक्ति-भावना से विभोर हो जाते हैं।

उत्तर भारत में अयोध्या, प्रयाग और काशी विश्व की सर्वोन्नत तीर्थ-भूमि हैं।

श्रीराम जन्म भूमि अयोध्या में पलकों के पावड़े विछाए श्रीराम भक्तों की भरमार रही तो शिव-भक्तों साधुओं की कमीं नहीं। प्रयाग में तो शैवों का वर्चस्व ही था। करीब काशी होने से शैवों का प्रभुत्व उत्तर भारत में कहा जाय तो अत्युक्ति नहीं। शैव नागा कठोर साधक, उदग्र और होते थे। जन-समुदाय पर अपनी विनम्रता, साधुता, सरलता, त्याग या साधना का प्रभाव न डालकर अघोर सिद्धियों का प्रदर्शन कर भय वश उनसे अपना वर्चस्व स्वीकार करवा लेते थे। ऐसे दुर्घटकाल में जनता के लिए कोई दूसरा मार्ग न था। चारों तरफ त्राहि-त्राहि मची हुई थी। औषधियों का विकास बड़े पैमाने पर न था। रोगी जनता के लिए खाक-भभूत देने वाले ओझा-सोखा के साथ शैव नागाओं और साधुओं के अलावा कौन था? शिव-भक्ति में आस्था और प्रेम के बावजूद शैव-साधुओं के द्वारा जनता प्राय: शोषित और प्रताड़ित रहती थी। ये प्रभावित करके नहीं प्रताड़ित करके, शाप दे देने, अनिष्ट कर देने का भय दिखाकर उनका दोहन और शासन करते थे। ऐसे ही दुर्घट काल में महाप्रभु रामानन्द का अवतरण हुआ। दुष्टों ने कपटी चालें चली। षड़यन्त्रों की कस-कस कर चोटें मारीं। तथाकथित साधुओं और नागाओं ने व्यंग्य-बाण छोड़े; किन्तु स्वामी रामानन्द के प्रभा-मण्डल की एक किरण ने ही सबकों प्रभा-हीन, दीन कर दिया। वे उनके सम्मुख होते ही निष्प्रभ होने लगे। महाप्रभु ने नागाओं और शैवों के रागों में राग नहीं मिलाया। व्यक्ति-व्यथित जनता की आर्तध्वनि पर विचार किया। प्रेम और सम्मान की भूखी जनता को स्नेह का सरल मार्ग चाहिए। जिस पर चलकर वे मुक्ति-द्वार तक पहुँच सकें। महाप्रभु ने पुरुषोत्तम भगवान श्रीराम के सरल चरित्र का बीज जनता की चित्तभूमि में बोना आरंभ कर दिया। काशी नगरी जो शैवों का अखाड़ा मानी जाती थी, धीरे-धीरे श्रीराम रूपी प्रेम-जल से सबको सींचने लगे। क्या धोबी, क्या चमार, क्या जुलाहा-जो भी मानव-तनधारी आया, श्रीराम-जल से आप्लावित, सिंचित हुए बिना नहीं रह गया। शिव की नगरी में श्रीराम-ज्योति धीरे-धीरे अपनी दिव्य दीप्ति विखेरने लगी। अज्ञान का अंधकार छँटने लगा। निष्कपट, सात्विक, सरल स्नेह पाकर रामानन्दी भक्तों की कतारें लग गईं। उन्होंने श्रीराम और शिव की अभेद व्याख्या करके सबको तृप्त कर दिया। एको ब्रह्म द्वितीयो नास्ति। ब्रह्म एक है। नाम और रूप-भेद से मार्ग अनेक हो जाते हैं किन्तु परिणति सबकी एक बिन्दु ही है-ब्रह्म। स्वामी रामानन्दजी ने समाज में व्याप्त ऊँच-नीच, जाति-पाँति के भेद-भाव को मिटाकर जीव मात्र को एक समझा। जैसे भगवान श्रीराम ने पक्षिराज जटायु से लेकर पशु बन्दर-भालू और अछूत भीलनी, निषादराज को भी गले लगाया। प्रत्यक्ष कर

दिया-सबमें समान रूप से एक ही ब्रह्म की सत्ता है। श्रीराम सूर्यवंशी थे। बारह कलाओं के धाता सूर्य। स्वामी रामानन्द भी अवतारी थे- श्रीराम के। बारह शिष्यों के द्वारा उन्होंने अपने संदेश सम्पूर्ण भूमण्डल पर फैला दिए। स्वामी रामानन्दजी का संदेश युगों-युगों से भक्ति भाव की प्यासी जनता को तृप्त कर रहा है और आगे भी करता रहेगा।



श्रीरामानन्दसम्प्रदाय में प्रपत्ति

डॉ. रामजी मिश्र

प्रख्यात है भारत भूमि नर-रत्न प्रसू है। समय समय पर इस जगती पर ऐसे महापुरुषों, सन्तों, महात्माओं का आविर्भाव होता रहा है, जिन्होंने अपनी प्रभामयी रश्मियों से समस्त तमसाच्छन्न जगती को आलोक प्रदान किया है। गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने कहा है–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानम् धर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥

धर्म शाश्वत है। उसका कभी विनाश नहीं हो सकता। परन्तु काल और युग के प्रभाव से कभी कभी उसका ह्रास प्रतिभासित होता है। जब जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म बढ़ता है तब तब भगवान् इस धार्मिक मर्यादा की पुन: स्थापना के लिए या तो स्वयं अवतरित होते हैं या उनके भक्तजन, महापुरुष, इस कार्य को सम्पादित करते हैं। तभी तो गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने सभी महापुरुषों को अपना अंश भू: तेज कहा है।

यद्यद्विभूतिमत्सत्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंश सम्भवम् ॥

कलिकाल के प्राबल्य से जब हिन्दू धर्म चीत्कार कर रहा था ऐसे समय में इस धराधाम पर जिन महापुरुष का प्राकट्य हुआ वे स्वामी रामानन्दाचार्य के नाम से जग प्रसिद्ध हुए।

स्वामी जी का जन्म सन १२९९ ई. में प्रयाग में एक प्रतिष्ठित कान्यकुब्ज ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का नाम पुण्य सदन तथा माता का नाम सुशीला था। कतिपय विद्वान् इससे सहमत नहीं है। भविष्य पुराण के अनुसार उनके पिता का नाम राघव शर्मा था और वे काशी क्षेत्र के निवासी थे। स्वामी जी ने श्री सम्प्रदाय की दीक्षा काशी में स्वामी राघवानन्द से ली थी। जो रामानुज परम्परा की चौथी पीढ़ी में पड़ते हैं। श्री सम्प्रदाय विष्णु और उनकी शक्ति लक्ष्मी की पूजा में विश्वास करता था किन्तु विष्णु के रामावतार की पूजा का प्रचलन उस सम्प्रदाय में नहीं था। रामोपासना का वास्तविक प्रवर्तन स्वामी रामानन्द ने किया। रामानन्द

स्वामी का सम्प्रदाय रामावत सम्प्रदाय कहलाता है जो विशिष्टाद्वैतवादी तो है किन्तु उपासना वह विष्णु के बजाय राम की करता है।

भक्ति आन्दोलन में रामानन्द बड़े ही महत्व के आचार्य हुए हैं। श्रीमद्भागवत मेंआया है कि द्रविड़देश में ताम्रपर्णी नदी के तट से भगवद् भक्तों की एक धारा निकलेगी

कलौ खलु भविष्यन्ति नारायण परायण: ।
क्वचित् क्वचिन्महाराष्ट्र द्रविडेषु च भूरिश: ॥
ताम्रपर्णी नदी यत्र कृतामाला पयस्विनी ।
कावेरी च महापुण्या प्रतीची च महानदी ॥

कहना न होगा कि प्रसिद्ध आलवार भक्तों का आविर्भाव यहीं से हुआ था। भक्ति का उदय द्रविड़ देश दक्षिण में ही हुआ। श्रीमद्भागवत में भक्ति स्वयं नारद जी से कहती है–

उत्पन्ना द्राविड़े चाहं कर्णाटे वृद्धिमागता ।
स्थिता किंचिन्महाराष्ट्रे गुर्जरे जीर्णतां गता ॥

इसी भक्ति परम्परा को स्वामी रामानन्द दक्षिण से उत्तर की ओर लाए। तभी तो कहा जाता है कि–

भक्ति द्राविड़ ऊपजी लाए रामानन्द।

भक्ति आन्दोलन में स्वामी रामानन्द ने जो दूसरी सबसे बड़ी क्रान्ति की वह यह कि उन्होंने सभी जाति के लोगों के लिए भक्ति का दरवाजा खोल दिया। उन्होंने रामोपासक वैरागियों का संगठन एक स्वतन्त्र सम्प्रदाय केरूप में किया और उस संगठन में प्रवेश पाने का अधिकार उन्होंने उन वैष्णवों को भी दिया जो जन्मना शूद्र अथवा मुसलमान थे। उनका उद्घोष था "जाति पाति पूछै न कोई, हरि का भजे सोहरि का होई ।' इसी क्रम में उन्होंने अपने बारह शिष्यों को जो द्वादश महाभागवत के रूप में जाने जाते हैं को दीक्षित किया था। स्वामी जी ने प्रस्थानत्रयी पर भाष्य लिखा। उनकी ब्रह्मसूत्र की टीका 'आनन्द भाष्य' के नाम से प्रसिद्ध है। उसमें ब्रह्म को उन्होंने 'ब्रह्मशब्द वाच्य श्रीराम ठहराया है और उसी को सगुण तथा निर्गुण दोनों माना है। उन्होंने जगती का ऐसा कल्याण किया कि 'जगद्गुरु' शब्द उनके सम्बन्ध में अक्षरश: सार्थक सिद्ध हुआ।

स्वामी रामानन्दाचार्य का भक्ति परक सिद्धान्त प्रपत्ति अथवा शरणागति का पोषक है। वास्तव में प्रपत्ति और शरणागति के सिद्धान्त सामी (ऐंसूग्म) धर्मों में

आरम्भ से ही विद्यमान थे। शरणागति के भाव सभी पुराणों में भरे पड़े हैं। गीता में कहा गया है–

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज ।

अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि माशुच ।।

श्रीरामानन्दसम्प्रदाय मेंप्रपत्ति और भगवत्कृपा के आश्रय पर ही विशेष बल दिया गया है। चरमलक्ष्य प्रभुप्राप्ति का उपाय भी उनकी कृपा मेंसंनिहित है, इस कृपावलम्बित्व से भगवान् में सहज प्रपत्तिसिद्ध होती है। भगवत्कृपा का आश्रय ही इस सम्प्रदाय का चरम मंत्र है।

सकृदेव प्रपन्नाय तवास्मीति च याचते ।

उभयं सर्वं सर्व भूतेभ्यो ददाम्येतद् व्रतं मम् ।। *बा.रा. ६/१८/३३।*

जो एक बार भी शरण में आकर 'मैं तुम्हारा हूँ– ऐसा कहकर मुझसे रक्षा की प्रार्थना करता है, उसे मैं समस्त प्राणियों से अभय कर देताहूँ। यह मेरा सदा के लिए व्रत है।'

इस मन्त्र के 'प्रपन्नाय' पद से प्रपत्ति, शरणागति या भगवत्कृपावलम्बित्व को ही परम साधन या उपाय कहा गया है–

प्रपन्नायेति पदतस्तूपायस्थानमुच्यते ।

उपायत्वं भगवतस्तवेति पदतस्तथा ।। *श्री वै.मं.भा. ४५।।*

पुनः प्रभु-कृपा पर अवलम्बित रहना ही इस मन्त्र का अनुसन्धानार्थ कहा गया है–

निर्भरत्वानुसंधानमनुसंध्यर्थं उच्यते ।।

।।श्री वै. म. भा. ५२।।

इसी प्रकार इस सम्प्रदाय के मन्त्रद्वय भी प्रभु कृपावलम्बित्व का ही प्रतिपादन और उपदेश करते हैं–

श्रीरामचन्द्र चरणौ शरणं प्रपद्ये।

श्रीमते रामचन्द्राय नमः ।

प्रथम मन्त्र में 'शरणम्' पद से भगवत्कृपावलम्बित्व को उपाय तथा प्रपद्ये पद से उस उपाय का अध्यवसाय कहा गया है–

शरणेति पदेनैवो पाय स्तद्विग्रहो बुधैः ।

उपायाध्यवसायस्तु प्रपद्य इति वर्ण्यते ।। *।।श्री.वै. म.भा. ३७।।*

दैनिक त्रिकाल प्रार्थना में भी भगवत्कृपा को ही स्मरण करने कराने का विधान है–

जगत्पते श्रीश जगन्निवास, प्रभो जगत्कारण रामचन्द्र।
नमो नमः कारुणिकाय ते सदा, पदाब्जयुग्मे तव भक्तिरस्तु में ॥
॥श्री वे. म. भा.॥९॥

गीता में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं–

दैवी ध्येषा गुणमयी, मम माया दुरत्यया।
मामेवये प्रपद्यन्ते, मायामेतां तरन्ति ते ॥ *गीता ७/१४॥*

अत्यन्त अद्भुत त्रिगुणमयी मेरी माया बड़ी दुस्तर है, किन्तु जो पुरुष मुझे ही निरन्तर भजते हैं, वे इस माया से तर जाते हैं।

भगवान् कहते हैं– जो मेरे प्रपन्न हैं, वे माया को तरते हैं। प्रपत्ति और शरणागति समानार्थक प्रतीत होती हैं, पर दोनों में अन्तर है। प्रपत्ति मेंकर्ता की विशेषता होती है और शरणागति में शरण्य की। यानी जिसकी शरण ली जाती है उसकी विशेषता होती है। भगवान् जब यह स्वीकारकर लें कि 'तुम मेरे हो' वहाँ शरणागति होती है। इसमें पकड़ परमात्मा की होती है। यानी परमात्मा स्वयं पकड़कर जीव का उद्धार करते हैं। किन्तु यदि जीव यह कहे कि 'मैं तुम्हारा हूँ' वहाँ प्रपत्ति होती है। प्रपद नाम है चरण के ऊपर के हिस्से का। उसे पकड़ लेना, यही प्रपत्ति है।

एक भक्त भगवान् की उपासना करने लगा। कई जन्म बीत गए आराधना करते-करते। भगवान् उस पर प्रसन्न हुए। वैकुण्ठ से गरुड़ पर चढ़कर चले और भक्त के सामने प्रकट हुए। कहा वर माँगो। भक्त ने कहा, मैं तो निष्काम हूँ, कुछ चाहिए नहीं। भगवान् ने कहा, नहीं कुछ अवश्य माँगो, मेरा आना व्यर्थ नहीं होना चाहिए। भक्त ने कुंछ भी माँगने से इन्कार कर दिया। जब भगवान् गरुड़ पर बैठकर जाने लगे, गरुड़ उड़ने लगे तो भक्त ने भगवान् का एक चरण पकड़ लिया और एक पंजा गरुड़ जी का पकड़ लिया। बैकुण्ठ में जा पहुँचा। 'प्रपत्ति' का दूसरा अर्थ प्राप्ति भी होता है। उसे परमपद की प्राप्ति हो गयी।

इसलिए स्वामी रामानन्दाचार्य कहते हैं–

कर्मप्रवाहेण तु चेतनस्य, मग्नस्य संसार महार्णवेचिरम्।
उपर्यहो संसरतोऽवशस्य, क्रपोद्भवत्येव हरेरहेतुका ॥
॥श्री वे.म. भा. ९॥

शरणागति एवं मानवता

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

मानवता राग समाधृत परदुःखकातरता का ही दूसरा नाम है। गोस्वामीजी ने श्रुति को मथकर कहा है–

'पर उपकार सार श्रुति को सो तो धोखेहुँ न विचार्यौ''

'परहित सरिस धर्म नहिं भाई'

तथा–

'परहित बस जिनके मन माहीं। तिन्ह कहँ जग दुर्लभ कछु नाहीं ।।

यह धारा दास्यभाव या कैंकर्य को ही भक्ति मानती है– और उसी के जीने में अपनी सार्थकता मानती है। गोस्वामीजी ने 'मानस' और 'विनयपत्रिका'– दोनों कृतियों में कहा है कि 'लोक राम का ही व्यक्तरूप है–

सो अनन्य जाकें अस मति न टरै हनुमन्त ।

मैं सेवक सचराचर, रूप रासि भगवन्त ।। – *मानस।*

तथा–

'व्यक्तमेवात्र त्वद्रूप' – विनयपत्रिका।

अनन्य भक्त इसी समझ से निरन्तर सेवा-परायण रहता है– हाथ जोड़कर सामने खड़ा रहता है और कहता है– 'किं करवाणि'– क्या सेवा करूँ? प्रपन्न भक्त का यही कैंकर्य ही तो मानवता है।

'मानस' के सिद्धान्त भाष्यकार श्रीकान्त शरण ने तात्पर्य निर्णायक षड्विधलिङ्गों से इस पक्ष का निर्णय किया है कि ग्रन्थकार 'भक्ति' और 'प्रपत्ति' का मण्डन करता है। भक्ति और प्रपत्ति सेव्य-सेवक भाव में ही होती है। यह परम्परा भक्ति को दास्य भावात्मक ही मानती है। आश्रय भक्ति का मूल भाव कैंकर्य दास्य भक्ति ही है। आचार्यों का स्पष्ट मत है कि 'रति' अशेष शेषता और नित्य कैंकर्य ही है। उनकी इस भक्ति में आलम्बन का महत्त्व, अपना लघुत्व या शेषता, प्रपत्ति या अनुराग– सभी सम्मिलित हैं– पर सूक्ष्मता से विचार करने पर 'भक्ति' और 'प्रपत्ति' में अन्तर किया गया है। ऐसा लगता है कि साधन वेला में ये अलग-अलग हैं किन्तु पराकाष्ठा में भक्तिभाव ही है। साधन वेला में भक्ति के लिए अन्यान्य साधनों

(कर्मयोग, ज्ञानयोग आदि) का अनुष्ठान स्वीकृत है परन्तु प्रपत्ति के लिए केवल भगवान् स्वीकार है– वहाँ यदि कुछ और है तो वह केवल आसुरावेश से बचने का प्रयास। ठीक ही है– प्रपत्ति उपायान्तर परित्याग पूर्वक एकमात्र उपेय रूप में भगवान् की शरण जाना है– अर्थात् भगवान् की प्राप्ति के निमित्त जितने भी मार्ग बताए गए हैं– उनमें से किसी को भी न पा सकने पर जब जीव अनन्य गतिक अनुभव करता है अथवा अपने को सर्वथा असहाय या असमर्थ पाता है– तब वह उपेय को ही उपाय बना लेता है और उन पर ही सबकुछ छोड़ देता है। तुलसी ने भी कहा है– 'एक भरोसो एक बल'। महाविश्वासपूर्वक उसी का सहारा लेना 'प्रपत्ति' है। तुलसी ने कहा है– 'विश्वास एक राम नाम को'।

महाविश्वास के लिए तीन बातें होनी चाहिए– उपेय के प्रति दुर्लभ भावना, उपायान्तर की भी उपयोगिता तथा नैराश्य पर्यवसायी आत्म-दोषदर्शन। प्रपत्ति या शरणागति भक्ति से भिन्न है। भक्ति बिना अंतिम प्रत्यय के मोक्ष प्रदान नहीं करती किन्तु प्रपत्ति में मोक्ष के लिए अंतिम प्रत्यय का होना आवश्यक नहीं है। भक्ति वर्तमान शरीर-पात के समय ही मोक्ष दे दे, यह आवश्यक नहीं है, प्रपत्ति दे सकती है। भक्ति आजीवन अनुष्ठेय होती है किन्तु प्रपत्ति एक बार होती है। इन असमानताओं के बावजूद दोनों ज्ञानात्मक हैं। प्रपत्ति सुकर है– पर महाविश्वास बड़ा दुष्कर है।

प्रपत्ति के अधिकारी दो श्रेणियों में विभक्त हैं– एक है उपेयनिष्ठ और दूसरा है उपायनिष्ठ। प्रपत्ति या शरणागति को ही प्राचीन ऋषियों ने न्यास-विद्या कहा है। वस्तुतः यही संन्यास का भी स्वरूप है। श्री वैष्णवीय साहित्य में इसका निक्षेप-तत्त्व के नाम से वर्णन है। प्रपत्ति का वैशिष्ट्य यही है कि इसका एक बार ही आश्रय लेना होता है, अन्यान्य साधनों की भाँति पुनः पुनः अभ्यास नहीं करना होता। यद्यपि प्रपत्ति कोई साधन नहीं है तथापि ज्ञानयोग, कर्मयोग तथा भक्तियोग से इसका पार्थक्य स्पष्ट है। साथ ही यह कि लौकिक दृष्ट्या प्रपत्ति में भी एक प्रकार से तीनों योगों का समावेश वर्तमान है। भगवदाज्ञा पालन या भगवत् कैंकर्य ही प्रपन्न का कर्मयोग है, स्वरूप ज्ञान से युक्त रहना ही प्रपन्न का ज्ञानयोग है और युगल स्वरूप से साक्षात्कार के पश्चात् उनके प्रति प्रीतियुक्त रहना ही प्रपन्न का भक्तियोग है।

शिष्टाचार के नाम से इस त्रिविध योग का ही प्रपन्नगण एक प्रकार से पालन किया करते हैं। प्रारब्ध को भोग द्वारा समाप्त करके भगवान् के चरणों में नित्य सेवारूप महाफल के लिए प्रतीक्षा करना यही प्रपन्न का एकमात्र ज्ञानगोचर उद्देश्य है। (श्रीकृष्ण प्रसंग)

यह तो कहा ही जा चुका है कि प्रपत्ति निक्षेपया आत्मसमर्पण का नामान्तर

है। यह समर्पण तीन प्रकार का है– फल-समर्पण, भार-समर्पण तथा स्वरूप-समर्पण। जो साधक ऐश्वर्य या कैवल्य का प्रार्थी है– वह यथाक्रम से स्वर्गादि उच्च पद लाभजनित सुख एवं आत्म-दर्शनजनित आनन्द की आकांक्षा करता है किन्तु जो व्यक्ति भगवच्चरणों में प्रपन्न है, वह इन दोनों प्रकार के आनन्दों में से कुछ भी नहीं चाहता। वह जानता है कि वह स्वयं शेष या अंग है– भगवान् शेषी या अंगी हैं। अंग अंगी के आश्रित है तथा अंगी की तृप्ति करना ही अंग के जीवन की सार्थकता है। इसीलिए भगवान् का तृप्ति साधन ही प्रपन्न जीव का एकमात्रलक्ष्य है– आत्मतृप्ति नहीं। इसलिए प्रपन्न अपनी सुखाकांक्षा को सर्वतोभाव से छोड़ देता है– साथ ही साथ कर्तृत्व, ममत्व एवं स्वार्थलिप्सा भी त्याग देता है– यही है फल-समर्पण। भार-समर्पण का आशय है कि आत्मरक्षा का भार या दायित्व मुझ पर नहीं, उसी पर है। वे ही उपेय हैं और वे ही उपाय हैं। प्रपन्न जानता है कि वह अपनी रक्षा नहीं कर सकता। उसकी इच्छा पर उसकी रक्षा निर्भर नहीं है। इस कारण वह अपनी आत्मरक्षा का भार भगवच्चरणों में ही समर्पित कर देता है– इस का नाम भार-समर्पण है। स्वरूप-समर्पण और उच्चतर व्यापार है। केवल अहंकार का त्याग करने से ही स्वरूप-समर्पण नहीं होता। प्रपन्न जब समझ जाता है कि भगवान् ही आत्मा के स्वामी हैं, यद्यपि व्यवहार में माना जाता है कि जीवात्मा की भी तो सत्ता है, तथापि यह सत्य है कि भगवान् की सत्ता ही जीव की सत्ता है। उसकी सत्ता को छोड़कर जीव की कोई पृथक् सत्ता नहीं है। जिसको अहंकार समझा जाता है– वह वस्तुत: भगवान् ही हैं– अतएव इस अहं का भी त्याग करने का नाम स्वरूप-समर्पण है।

यह प्रपत्ति षडंग है–

१. आनुकूल्य का संकल्प, अर्थात् यह जानकर कि भगवान् चराचर में व्याप्त हैं– अत: जीव-मात्र के प्रति अनुकूल भाव।
२. प्रातिकूल्य का त्याग अर्थात् किसी भी जीव के प्रति मन, वचन एवं कर्म से हिंसा का भाव न रखना, यानी अहिंसा की प्रतिष्ठा।
३. वात्सल्य भाव से नित्य मण्डित आश्रय के प्रति आश्रित का यह दृढ़ विश्वास कि वह उसकी रक्षा करेगा ही।
४. रक्षक के रूप में प्रार्थनापूर्वक एकमात्र उसी का वरण।
५. आत्म-निक्षेप या आत्म-समर्पण–प्रपन्न निष्काम भगवत् सेवा को छोड़कर भोग अथवा मोक्ष जैसा वह कोई फल नहीं चाहता। वह उपाय एवं फल– दोनों के प्रति यह समझ कर निवृत्त हो जाता है कि जब सबकुछ

उसी के अधीन है– तब किसके लिए प्रयास। यही है आत्म-निक्षेप या शरणागति। वस्तुतः यह अंग नहीं, अपितु अंगी है।

६. छठा कार्पण्य है– कार्पण्य अर्थात् दैन्य, यानी आकिञ्चन्य और उपायान्तर निरपेक्षता– तदर्थ अपेक्षित सामर्थ्य के अभाववश। अभीष्ट सिद्धि के मार्ग में आने वाले विघ्नों की प्रचुरता देखकर आत्म-दैन्य का गहरा अहसास।

प्रपत्ति भी द्विविध है– दृप्त और आर्त। आर्त में सभी अंगों का सान्निध्य एकसाथ होता है और इसमें तत्काल सर्वदुःख-शमन तथा अविलम्ब भगवत्-प्राप्ति की तीव्र उत्कण्ठा होती है जबकि दृप्त प्रपन्न एक निर्दिष्ट क्रम लक्षित होता है। वह प्रारब्ध भोगकर देहान्तर ग्रहण नहीं करना चाहता– फलतः इस विश्वास के साथ शरणागत होता है। प्रपन्न का मुख्य गुण है– चातक की भाँति दृढ़ विश्वास।

इसी के साथ 'भक्ति' पर भी थोड़ा विचार कर लिया जाय। युगपुरुष श्री रामानन्दाचार्य के सम्प्रदाय में भक्ति और प्रपत्ति साक्षात् द्वार है। इनके यहाँ सर्वोपरि पुरुषार्थ है– भक्ति। यह मोक्ष से बड़ी– फलतः पंचम पुरुषार्थ है। लक्ष्यानुरूप मार्ग में आरूढ़ होने के लिए सर्वप्रथम आवश्यक है– पंच संस्कारों से संस्कृत होकर महाभागवत बन जाय और फिर सीता-लक्षण सहित राम के प्रति रागमय हो उठे। 'श्री वैष्णव मताब्ज भास्कर' में कहा गया है–

एवं महाभागवतः सुसंस्कृतः, श्रीरामभक्तिं विदधात्वहर्निशम् ।
महेन्द्रनीलाभरुचेः कृपानिधेः, श्रीजानकीलक्ष्मणसंयुतस्य वै ।।

ये पंच संस्कार हैं– मुद्राङ्कण (अग्नितप्त धनुष और बाण से भुजमूल में मुद्राङ्कण), ऊर्ध्वपुण्ड्र धारण, वैष्णव-सूचक नाम, श्रीराम (तारक) मंत्र और तुलसी-कण्ठी धारण। भगवान् की सेवा ही भक्ति है। भक्ति ईश्वर में परानुरक्ति है। इस भक्ति के यमादि आठ अंग हैं, वे हैं– यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। भक्ति के उत्पादक हैं– विवेक, विमोक, अभ्यास, क्रिया, कल्याण, अवसाद तथा अनुद्धर्ष। इन सात साधनों से निष्पन्न भक्ति शिरारूढ़ होती हुई दर्शन समाकारता को प्राप्त कर लेती है– लगता है जैसे भक्त भगवान् का दर्शन ही प्राप्त कर रहा हो। यह भक्ति अंतिम प्रत्यय पर्यन्त बनी रहती है। साधन सप्तकानुगृहीत भक्ति अंतिम प्रत्यय उत्पन्न करती है– वह इस जन्म में भी हो सकती है अथवा अगले जन्म में। अंतिम प्रत्यय का अर्थ है– ध्येय के स्वरूप, ऐश्वर्य तथा सम्बन्ध आदि का स्मरण होते रहना। अंतिम प्रत्यय सम्पन्न अधिकारी ही मोक्ष प्राप्त करता है।

भक्ति के तीन पर्व हैं– पराभक्ति, परज्ञान और परमभक्ति। पराभक्ति प्रीति रूप, दर्शन समाकार तथा मोक्षकारणीभूत स्मृति सन्तान ही है–

सा तैलधारासमनित्यसंस्मृतेः सन्तानरूपेशि परानुरक्तिः ।

भक्तिर्विवेकादिकसप्तजन्या तथा यमाद्यष्टसुबोधकाङ्गा ।।

परज्ञान भगवान् के विषय में होने वाला वह परिपूर्ण साक्षात्कार है जो प्रेममय भगवद्-ध्यान से विह्वल भक्त की निष्ठा से भगवदनुग्रहवश प्राप्त होता है। चरम भक्ति या परम भक्ति परम भोग्य भी भगवान् का साक्षात्कार होने के बाद उनको प्राप्त करने की उत्कट त्वरा ही है। यह भक्ति साधन भी है और साध्य भी। जो यमादि साधन तथा साधन-सप्तक के अनुष्ठान से मुमुक्ष जीव में उत्पन्न होती है। साध्य भक्ति भगवत्कृपा से प्राप्त होती है। इन तीनों क्रमों वाली भक्ति ही प्रपत्ति का अंग बनती है। भक्ति के अतिरिक्त मुक्ति के लिए कर्म और ज्ञान के उपायान्तर भी हैं। यह भक्ति सामान्यतः गौणी और पराभेद से द्विविध है। गौणी के भी दो भेद हैं– वैधी और रागानुगा। गौणी भक्ति साधन भक्ति है और परा साध्य।

स्वामी रामानन्दाचार्य ने भक्ति के श्रीमद्भागवतप्रोक्त नवधा रूपों (श्रणव, कीर्तन, स्मरण,पदाश्रिति, समर्चन, वन्दन, दास्य,सख्य और समर्पण) को स्वीकार किया है। इन नव के अतिरिक्त एक और है– नाम-स्मरण। इस सन्नाम के अन्तर्गत 'राम-मंत्रराज का जप भी आता है। 'वैष्णवमताब्जभास्कर में कहा गया है–

श्रीरामसन्नामसुकीर्तनं च द्वयानुसंधानभयो विदध्यात्

श्रीरामजी के उत्तम नाम का संकीर्तन और द्वयमंत्र का अनुसंधान करते रहने का आदेश है। इस राममंत्र के तीन रूप हैं– राम-षडक्षर मंत्र, राम-द्वय मंत्र और राम-चरम मंत्र। इसी भक्ति और प्रपत्ति से इष्ट-लाभ होता है।

ऊपर प्रपत्ति और उसके अंगों का जो स्वरूप निरूपित किया गया है– उसकी चरम परिणति जिस कैंकर्य में है– वही तो 'मानवता का पर्याय है। मानवता सेवा में ही चरितार्थ होती है और भक्ति तथा प्रपत्ति की भी वही चरम परिणति है।

●

सामाजिक-सांस्कृतिक चेतना के अग्रदूत : रामानन्दाचार्य

डॉ. वेदप्रकाश उपाध्याय

प्राय: सात सौ वर्ष पूर्व भारत की इस पवित्र धरती पर एक ऐसे विलक्षण व्यक्तित्व का प्राकट्य हुआ था, जिसने भारत ही नहीं विश्व में अपनी चिन्तनधारा की ज्योति जलाकर सम्पूर्ण मानवता को आलोकित किया। हम उन्हें श्रद्धा से ज.ग. रामानन्दाचार्य कहते हैं। वे भारत के क्षितिज पर उदित ऐसे प्रखर सूर्य थे, जिसका उज्ज्वल प्रकाश जनमानस में हताशा के रूप में छाये हुए तमस को विदीर्ण कर दिग्-दिगन्त में भास्वर हुआ। आध्यात्मिक महापुरुष के रूप में उनकी जितनी व्याप्ति उत्तर से लेकर दक्षिण तक फैली, ठीक उसी मात्रा में उनकी सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना का भी प्रसार हुआ। इस अर्थ में उनका बहुआयामी एवं विराट् व्यक्तित्व मानवता के कल्याण के लिए ही अवतरित हुआ था। भारतीय मनीषा की ऐसी अवधारणा रही है कि जब कभी धर्म की हानि होती है और अधर्म फूलने-फलने लगता है, तब प्रकृति विवश होकर महान व्यक्तित्व का सृजन करती है। स्वामी रामानन्दाचार्य जी भी ऐसी ही विभूति थे।

सात सौ वर्ष पूर्व भारत कैसा रहा होगा? इसकी सहज अनुभूति की जा सकती है। स्वामी जी का प्राकट्य उस संक्रमण काल में हुआ था जब भारत की महानता दोलायमान थी। इसलाम के प्रचार-प्रसार से सनातन संस्कृति एवं भारतीय परम्परा आहत हो रही थी। जीवन के मानदण्ड खण्ड-खण्ड हो रहे थे। करणीय और अकरणीय का ज्ञान विलुप्त हो रहा था। मानवता का करुण-क्रंदन थमने का नाम नहीं ले रहा था। जनमानस पूर्णतया विक्षुब्ध हो चुका था। संक्रमण, संत्रास एवं कुण्ठा का घनीभूत रूप पर्त-दर-पर्त मोटा होता जा रहा था। ऐसे समय में केवल आध्यात्मिक चिन्तन से ही मानवता की रक्षा संभव नहीं थी। क्षरित होते हुए सांस्कृतिक मूल्यों की सुरक्षा एवं संवेदना के धरातल पर मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा अनिवार्यता हो गयी थी, जिसका प्रवर्तन उदारमना सन्त स्वामी रामानन्दाचार्य ने किया। इस अर्थ में उनके व्यक्तित्व की व्यापकता एवं महानता आज भी हमारे लिए प्रेरणा का स्रोत बनी हुई है। वे एक ऐसे युग-प्रवर्तक एवं युगान्तकारी महानायक

थे जिनकी वाणी का प्रभाव सम्पूर्ण भारत में प्रभावी हुआ। जातीयता के स्थान पर मानवता की प्रतिष्ठा हुई। स्वामी रामानन्दाचार्य को समग्र मानवता का स्वस्तिवाचक स्वीकार करना सर्वथा समीचीन है।

हिन्दी-साहित्य के मध्यकाल में अनेक ऐसे साधक हुए हैं, जिन्हें कवि कहना उतना श्रेयस्कर नहीं है, जितना कि सामाजिक संचेतना का अग्रदूत मानना। इन्हें पाकर हिन्दी साहित्य धन्य ही नहीं हुआ प्रत्युत् स्वर्णयुग के नाम से भी अभिहित हुआ। सामाजिक प्रतिबद्धता के कारण ही इनकी रचनाएँ कालजयी सिद्ध हुईं। ये समाज से सीधा संवाद करते थे। साहित्य के माध्यम से समाज का परिष्कार ही इन संतों का ध्येय था। सामाजिक कुरीतियों पर बेवाक टिप्पणी के लिए आज भी कबीर हमारे मानस में छाये हुए हैं। सामाजिक छिद्रों पर जितना प्रहार कबीर ने किया उतना कोई अन्य कवि नहीं कर सका। उन्हें आज भी समाजसुधारक के रूप में स्मरण किया जाता है। कबीर पर सीधा प्रभाव ज.गु. रामानन्दाचार्य का रहा है। उनके विराट् व्यक्तित्त्व में कबीर ने अपने जीवन का लक्ष्य प्रतिबिम्बित होते हुए देखा था। यही कारण था कि उन्होंने अपना गुरु रामानन्दाचार्य को बनाने का संकल्प लिया था। वे उन्हें अपने गुरु के रूप में प्रतिष्ठित करने के मोह का संवरण नहीं कर पाये। अपनी अन्तर्वृत्तियों की आकुलतां के कारण वे गंगा की सीढ़ियों पर लेट गये। स्वामी जी के पैरोंकी धूलि से उनकी सुप्त चेतना जगी, और उन्होंने स्वीकार किया कि–

गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागौं पाय।
बलिहारी गुरु आपने, गोविन्द दियो बताय॥

ऐसे सिकलीगर गुरु को प्राप्त करके ही कबीर, कबीर हुए। स्वामी जी के गुरुत्व ने ही उनके जीवन पथ को प्रशस्त किया था। कबीर तो पेशे से जुलाहा थे। स्वामी जी की उदारता के समक्ष कबीर की जाति बाधक नहीं बनी। 'हरि को भजे सो हरि का होई' की कहावत चरितार्थ हुई। इससे बढ़कर जातीय समरसता का कोई दूसरा साक्ष्य नहीं हो सकता। स्वामी रामानन्दाचार्य के शिष्यों में भक्त रैदास की भी गणना होती है। समाज के निम्न वर्ग के लोगों को स्वामी जी ने अपने गुरुत्व से वह गौरव प्रदान किया जो समाज के लिए आज भी आदर्श है।

मुझे यह कहने में संकोच नहीं है कि गोस्वामी तुलसीदास पर भी प्रत्यक्ष अथवा प्रच्छन्न रूप से रामानन्दाचार्य जी के जीवन-दर्शन का प्रभाव अवश्य पड़ा है। ऐसा इसलिए कि गोस्वामी तुलसीदास रामचरितमानस के द्वारा जिन मानवीय मूल्यों की स्थापना करना चाहते थे, उसका बीज-वपन स्वामी जी ने बहुत पहले

ही कर दिया था। स्वामीजी की स्पष्ट अवधारणा थी कि शास्त्र समाज का अनुशास्ता होता है। सद्विचारों से ही समाज को अनुशासित किया जा सकता है। वही चिन्तन चिर स्थायी होता है, जो समाज के प्रति प्रतिश्रुत हो तथा समाज की आवश्यकताओं की पूर्ति करे। यही कारण रहा है कि स्वामी रामानन्दाचार्य ने अपने विचारों को व्यापक एवं सर्वजनहिताय बनाने के लिए जातीयता के सारे बन्धन तोड़ डाले। जातीय समरसता की भावभूमि पर मानवता का महल खड़ा करना ही उनकी साधना का एक प्रबल पक्ष था। यह स्वीकृत सत्य है कि स्वामी रामानन्दाचार्य जी के प्रभाव से प्रभावित समग्र भक्ति-काल एक ऐसा आन्दोलन सिद्ध हुआ जिसके केन्द्र में मानवता रही है। उनके अध्यात्म में भी कहीं न-कहीं जन सामान्य की वह करुणा रही है जिसने सन्तों को प्रभावित किया। इस अर्थ में इस काल को सांस्कृतिक द्वन्द्व का काल भी कहा जा सकता है।

ज.ग. रामानन्दाचार्य से पूर्व के आचार्यों ने वर्ण-व्यवस्था के परम्परित मूल्यों को तोड़ने का कोई सार्थक प्रयास नहीं किया। आचार्य शंकर ने भी वर्ण-व्यवस्था का पुरजोर खण्डन नहीं किया। स्वामी रामानन्दाचार्य ने ही सर्वप्रथम इस वर्ण-व्यवस्था में सुधार का मार्ग प्रशस्त किया। इसके मूल में सामाजिक विकृति एवं तज्जन्य अस्पृश्यता का भाव रहा है। स्वामी जी ने अनुभव किया कि सर्वहारा को सामाजिक दंश से बचाना ही सबसे बड़ी साधना है। इसके लिए उन्होंने संस्कृत भाषा से इतर हिन्दी को अपनी स्वीकृति प्रदान की। ऐसा इसलिए कि जनभावनाओं की अभिव्यक्ति जनवाणी में ही हो सकती है। अपनी दार्शनिक परम्परा को उन्होंने मानवतावाद से जोड़ने का प्रयास किया। अपने दर्शन सियाराममय का निदर्शन किया। स्वामी जी का दर्शन, आत्मचिन्तन, विचारधारा सन्त समाज का आज भी सिरमौर है। निश्चित् रूप से दलितों का सबसे बड़ा मार्गदर्शक स्वामी रामानन्दाचार्य ही थे।

सम्प्रति रामानन्दाचार्य की विचारधारा, जीवन-दर्शन एवं सामाजिक सोच की पुनर्प्रतिष्ठा अपरिहार्य हो गयी है। ऐसे समय में जब कि भारत की आत्मा में रचे-बसे 'राम' के अस्तित्त्व पर ही प्रश्न खड़ा किया जा रहा हो, रामसेतु को खण्डित करने का कुचक्र रचा जा रहा हो, रामानन्दाचार्य का स्मरण होना अत्यंत स्वाभाविक है। आज हमें उनकी जीवनानुभूति की आवश्यकता है, जिस पर चलकर हम अपने भारत एवं भारतीय परम्परा को सम्बल प्रदान कर सकें। अस्तु।

संतों की अध्यात्मयात्रा : दिग्विजय-सुरत शब्द योग

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

जो सत्य स्वरूप, नित्यसिद्ध वस्तु का साक्षात्कार कर चुके हैं अथवा अपरोक्षरूप से उपलब्ध कर चुके हैं और इस उपलब्धि के फलस्वरूप अखण्ड सत्यस्वरूप में प्रतिष्ठित हो गए हैं– वे ही संत हैं। वे ब्रह्मज्ञ, ब्रह्मदर्शी और ब्रह्मसंस्थ हैं। ये 'सबद' के उपासक होते हैं– अचेतन शब्द, शब्द ब्रह्म नहीं कहा जा सकता– इसीलिए न्यायशास्त्र में मंत्रचैतन्य की व्यवस्था है। शब्द को चेतन किए बिना उस शब्द की सहायता से परब्रह्म का साक्षात्कार नितांत असंभव है।

शब्द ब्रह्मणि निष्णात: परब्रह्माधिगच्छति अचेतन शब्द (मंत्र) का बार-बार जप करने की एक विशेष प्रक्रिया के द्वारा बहुत परिश्रम से उसे चैतन्य किया जा सकता है। एतदर्थ शरीरी शब्द स्वरूप सद्‌गुरु की शरण ही एकमात्र उपाय है।

सन्तगण अपनी 'सुरत' को 'शब्द' से एकाकार कर लेते हैं– मंत्र चैतन्यीकरण ही यहाँ मार्ग है– जो शरीरी शब्द सद्‌गुरु सम्पाद्य है। इसकी उपासना रागात्मक है। संत जन वैष्णव भक्त हैं– उनकी भक्ति नारदी है। कबीर कहते हैं– **भगति नारदी मगन सरीरा।**

जप और ध्यान एक ही सिक्के के दो पक्ष हैं– एक के करने से दूसरा चलता रहता है। ध्यान भी सुरत से शब्द का ऐकात्म्य कराने में योगदान करता है। वैदिक ऋषि ध्यान के माध्यम से आन्तरिक यात्रा हृदय देश से करते थे, नाथपंथी नाभिदेश से और संतजन दोनों भौहों के मध्य से आरम्भ करते हैं– यह सावलंब नहीं, निरवलंब उड़ान है– इसीलिए इसे विहंगममार्ग भी कहा जाता है। इस मार्ग में जो शब्द की बात कही गई है– वही बात 'सुरतशब्द' में भी मान्य है। हठयोगियों का मार्ग सावलंब पिपीलिका मार्ग है– वहाँ जो स्थान षट्‌चक्र (वेध) का है– इस सहज मार्ग में अष्टदल कमल कर है– वहाँ जो स्थान सुषुम्णा या मेरुदण्ड का है– यहाँ बंकलाल का है। संतों का मार्ग हठयोग नहीं है। हठयोग में जो कुछ सायास होता है– वह यहाँ अनायास होता है।

जिस प्रकार दिग्विजय में पूर्व आदि दिशाओं के क्रम से चारों दिशाओं में

विजय प्राप्त करनी पड़ती है उसी प्रकार आध्यात्मिक मार्ग में भी अग्रसर होने पर भी चारों दिशाओं को यदि अपने अधीन न किया जा सके, तो पूर्णता प्राप्त नहीं हो सकती। इस अन्तर्यात्रा में पिण्ड और ब्रह्माण्ड के संधि-स्थान-पर्यन्त पूर्व दिशा का पक्ष विस्तृत है। हठयोग में षट्चक्रभेद के बाद ही यात्री इस संधि को भेदकर ब्रह्माण्ड में पहुँचता है। सहजयोगी के इसमें क्षेत्र यह संधि भेद अष्टदलकमल करता है (जिसका उच्चावस्था दोनों के बीच है) सुरतिनिरति के मंथन की प्रक्रिया से चित्तस्थैर्य रूप नवनीत प्रदान होता है और नव सुख सुई के समान इसके मध्यवर्गी छिद्र से सम्बन्ध भेद कर पार पहुँच जाती है और पिण्ड से ब्रह्माण्ड में प्रवेश कर जाती है। तब योगी का तीसरा नेत्र खुल जाता है– यहाँ तक की साधन पूर्व मार्ग की साधना है। तदनंतर सुरति पश्चिम मार्ग का सहारा देकर महाशून्य पर्यन्त पहुँचता है। पूर्वपथ में दृश्य है– पश्चिम पथ में उसका प्रत्याहार तो जाता है। प्रज्ञोदय तक यात्री की गति अन्तर्मुखी रहती है– तदनन्तर ऊर्ध्वमुखी ग़ति आरम्भ हो जाती है और इसकी समाप्ति तक पश्चिम दिशा की यात्रा भी समाप्त हो जाती है। महाशून्य महा शून्य है– इसका अंतिम या दूसरा छोर ही भँवरगुहा है– जहाँ नाद होता रहता है– इसी नाद के सहारे सुरत सत्यराज्य में पहुँच जाती है। यही गुरु राज्य है। पश्चिम मार्ग के समाधान के बाद भ्रमरगुहा में प्रवेश के पहले थोड़ा टेढ़े-मेढ़े धुँधले मण्डल में घूमकर जाना पड़ता है। तब थोड़ी बाईं ओर अर्थात् दक्षिण से पश्चिम में आकर फिर दक्षिण से उत्तर की ओर जाना पड़ता है। भ्रमरगुहा में प्रवेश का यही स्वाभाविक क्रम है। यही भ्रमर गुहा सत्य राज्य का द्वार है।



तुलसी और कबीर के राम

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

कबीर के नाम पर यह अर्धाली प्रचलित है और इसका विरोध आज तक किसी कोने से सुनाई नहीं पड़ा-

राम नाम का मरम है 'आना'। दसरथ सुत तिहुँ लोक बखाना ॥

गोस्वामी तुलसीदास ने भी इसे स्वीकार कर इसका प्रतिवाद किया है-

तुम जो कहा राम कोउ 'आना'

'मानस' में यह सन्देह सभी श्रोताओं और वक्ताओं के बीच उपस्थित है- चाहे भारद्वाज और याज्ञवल्क्य हों, पार्वती और शिव हों, गरुड़ और काकभुशुण्डी हों अथवा कबीर और तुलसी। भारद्वाज स्पष्ट याज्ञवल्क्यजी के समक्ष अपना सन्देह रख रहे हैं-

रामु कवन प्रभु पूछउँ तोही। कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही।।
एक राम अवधेस कुमारा। तिन्ह कर चरित विदित संसारा।।
नारि विरह दुख लहेउ अपारा। भयउ रोष रन रावनु मारा।।
प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि।
सत्य धाम सर्बग्य तुम्ह कहउ बिसेष बिचारि।। १/४६

पार्वतीजी भी शिव से जानना चाहती हैं-

रामु सो अवध नृपति सुत सोई? की अज अगुन अलख गति कोई?
जौं नृपतनय, त ब्रह्म किमि, नारि विरहें मति भोरि?

शिवजी ने कहा-

एक बात नहिं मोहिं सोहानी। जदपि मोहबस कहेउ भवानी।।
तुम जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहि मुनि ध्याना।।

गोस्वामीजी 'राम कोउ आना' सुनकर जल-भुन उठते हैं और शिवजी के मुख से बोल जाते हैं-

कहहिं सुनहि अस अधम नर, ग्रसे जो मोह पिसाच।
पाखंडी हरिपद बिमुख जानहिं झूठ न साँच।। १/१२४

इतना ही नहीं, आगे और भी अनेक अपशब्द कहे हैं। अज्ञ, अंध, अभागी, लंपट, कपटी, कुटिल तथा महामोहपदपायी आदि-आदि न जाने क्या-क्या कह गए हैं और यह भी कहा- पार्वति, - "तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना।"

शिवजी का निर्णय है-

सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई।।

तुलसी के प्रतिपक्षी कबीर ही लगते हैं। कारण, साखी, सबदी, दोहरा के रचने की प्रसिद्धि उन्हीं से जुड़ी है- लगे हाथ जायसी जैसे सूफी सन्त भी पिस गए-

साखी सबदी दोहरा कह कितनी उपखान।
भगति निरूपहिं कलिहिं हरि निन्दहिं बेद पुरान।।

यही सन्देह गरुड़ को भी तब हुआ जब नारदजी ने उसे इन्द्रजयी मेघनाद के नागपाश से आबद्ध श्रीराम के नागपाश पाशमोचन के लिए भेजा। यह देखकर गरुड़ के मन में भी प्रबल सन्देह पैदा हुआ-

भवबन्धन से छूटहिं नर जपि जाकर नाम।
खर्ब निशाचर बाँधेउ नागपाश सोई राम।।

जिसका नाम जपकर लोग भवबन्धन से छुटकारा पा जाते हैं- क्या सम्भव है कि उसी राम को एक अदना निशाचर नागपाश से बाँध ले और छूटने में उन्हें मेरी अपेक्षा हो? दसरथ-सुत राम वे राम नहीं हो सकते जिन्हें वेद भी नहीं जान पाता वे राम 'कोउ आना' ही है। सन्त कबीर तो साथ-साथ ही कह रहे हैं कि त्रिलोक जिस दसरथ-सुत को राम कह रहा है- वह उनका राम नहीं है-निर्गुण-निराकार परब्रह्म नहीं है, वह तो-

ना दसरथ घर अवतरि आवा। ना जसुदा के गोद खिलावा।।

कबीर निर्भ्रान्त रूप से अपना पक्ष दृढ़ता के साथ रख रहे हैं। कबीर श्रीरामानन्दाचार्य के द्वादश महाभागवतों में सम्मान के साथ गिने जाते हैं। अन्य सन्तों ने भी उन्हें बराबर सादर स्मरण किया है।

गुरु ग्रन्थ साहब में भी इनका सादर स्मरण है। पारम्परिक सूक्तियों में भी तुलसी और सूर के साथ कबीर का स्मरण प्रचलित है-

तत्व तत्व सब सूरा कही तुलसी कही अनूठी।
बची-खुची कबिरा कही और कही सब जूठी।

इस प्रसंग में दो ग्रन्थियाँ बड़ी दुर्निवार प्रतीत होती हैं- एक तो यह कि दोनों

- कबीर और तुलसी - एक ही वैष्णव परम्परा से किसी न किसी प्रकार सम्बद्ध माने जाते हैं - कबीर की प्रसिद्धि रामानन्द के शिष्य के रूप में (यद्यपि कुछ लोगों ने दोनों के बीच समय की बाधा खड़ी की है) और तुलसी भी रामाश्रयी वैष्णव परम्परा में प्रतिष्ठित हैं। एक ही परम्परा से जुड़े रहने पर भी इतना अन्तर्विरोध क्यों? कबीर के प्रति तुलसी का विरोध स्वर किन अपशब्दों में उभरा है- यह ऊपर बताया जा चुका है।

दूसरी ग्रन्थि कबीर का राम यदि दसरथ-सुत नहीं है तो क्या? क्या उनकी दृष्टि में राम का विध्यात्मक अर्थ कोई है ही नहीं? और है तो क्या है? तीसरी ग्रन्थि इसी से जुड़ी हुई यह है कि जिस कबीर पर तुलसी इस प्रकार बरस पड़े हैं, वह कबीर क्या सचमुच वही कबीर हैं, जो वैदिक युग से चले आ रहे 'वाग्योग' के रूपान्तर 'सुरत शब्द योग' के द्वारा रामानन्दाचार्य से उपदिष्ट होकर भ्रमर गुहा से होते हुए सत्य राज्य में प्रतिष्ठित हो चुका है? अथवा महत्वाकांक्षी असमर्थ व्यक्तियों ने जिसको आम जनता में बदरूप कर प्रतिष्ठित कर रखा है? ऐसी अनेक समस्याएँ कबीर और तुलसी को लेकर खड़ी की जाती हैं। जो तुलसी यह कहता हो कि एक बार भी किसी भाव से जो राम का नाम ले ले, तो मैं अपने शरीर पर पड़ी चमड़ी की पनहीं बनाकर उसके पैरों में पहना दूँ- वही तुलसी उस कबीर को जो यह कहता हो-

राम नाम के पटत्तरे देवे को कछु नाहिं।
क्या लै गुरु सन्तोषिये हौंस रही मन माहिं।।

उतने अपशब्दों का प्रयोग कैसे कर सकता है?

इन सबसे और चाहे जो हो, पर कबीर और तुलसी- दोनों राम नाम को अनुपम और अद्वितीय महिमा का तत्त्व मानते हैं। यदि कबीर राम नाम को अप्रतिम और अतुलनीय मानते हैं तो तुलसी भी 'ब्रह्म राम तें नाम बड़' की ऊर्ध्ववाहु घोषणा करते हैं। नाम साधना दोनों की साधना है - पर गन्तव्य दोनों के भिन्न हैं। क्या दोनों के सत्य अलग-अलग हैं? क्या सत्य दो हो सकते हैं? और अगर वह सत्य एक ही है तो गोस्वामी जी ने इतना गहरा अन्तराल क्यों बताया? क्या दोनों का गन्तव्य एक ही है- नाम या पर्याय भिन्न-भिन्न हैं - स्थिति क्या है? ऐसे अनेक प्रश्न हैं।

अध्यात्म राज्य के मर्मी चिन्तक म.म.पं. गोपीनाथ कविराज कबीर और तुलसी दोनों को पूजनीय और श्रद्धाभाजन मानते हैं और नाम-साधना की दो भिन्न

दिशाएँ निरूपित करते हैं। उनका पक्ष है कि नाम साधना की दो दिशाएँ हैं- एक है नादपर्यवसायी और दूसरी है लीलारस पर्यवसायी। दूसरी में यह रूपाभिव्यक्ति के माध्यम से नाम साधना रस में पर्यवसित होती है। नाम-साधक सुतीक्ष्ण के हृदय में रूपाभिव्यक्ति के माध्यम से रस की स्थिति उमड़ गयी थी। यह पक्ष नित्य लीला का पथ है।

स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित होने के लिए विहित साधनों में नाद-साधना या नादानुसंधान की उत्कृष्ट रूप में गणना है। प्राचीनकाल में 'वाग्योग' अपेक्षाकृत एक सरल राजमार्ग माना जाता था। परवर्ती काल में सन्तों ने 'सुरत शब्द योग' नाम देकर तथा कीर्तन की महिमा की घोषणा कर प्रकारान्तर से मन के स्थैर्य साधना के लिए तथा मूढ़ बोधन के लिए नाद की परम उपयोगिता स्वीकार की है। साधकों की आधारगत योग्यता में सातिशयता होती है। यह योग्यता जहाँ और भी कम होती है- वहाँ अशुद्ध विकल्प के शोधन में शुद्ध विकल्प ही पर्याप्त नहीं होते- एतदर्थ जीव सत्ता की ओर से किसी न किसी उपाय का अवलम्ब लेना पड़ता है। ये साधन विभिन्न प्रकार के हो सकते हैं जिनमें से तीन मुख्य हैं-

(क) ध्यानात्मक

(ख) उच्चारणात्मक (स्थूल और सूक्ष्म) वर्णात्मक तथा

(ग) करण - अर्थात् मुद्रा आदि क्रियात्मक।

इनमें उच्चारण सर्वापेक्षया अन्तरंग है। प्राण का स्वाभाविक धर्म ही उच्चार है। इस प्राणात्मक उच्चार से एक अव्यक्त ध्वनि निरन्तर उदित होती रहती है- यही अनाहत नाद है। अविभक्त रूप से इसमें सभी वर्ण विद्यमान रहते हैं- इसीलिए इसे वर्णात्मक भी कहा जाता है। सृष्टिबीज 'स' और संहारबीज 'ट' है। इन बीजों का आश्रय करके ही नाद अभिव्यक्त होता रहता है। यही अजपा मंत्र है। बिन्दुयुक्त 'ट' परम पुरुष का और विसर्गयुक्त 'सः' परमा प्रकृति का वाचक है। दोनों की युक्तावस्था ही आदि टंस का रूप है। यह निःस्पन्द और स्पन्द की संधि का स्थान है। इस आदि प्राण को ही संवित् का प्रथम परिणाम कहा गया है- "संवित् प्राक् प्राणे परिणता' (तंत्रालोक)

साधन में शब्द की गति वैखरी से मध्यमा, पश्यन्ती होती हुई परावाक् तक जाती है। प्रयासपूर्वक किए जाने वाले जप में कर्ता की इच्छा-शक्ति और कर्तृत्वाभिमान रहता है- परन्तु श्री सद्गुरु द्वारा प्राप्त मंत्र निष्ठापूर्वक यथाविधि उच्चारण करते-करते एक ऐसी स्थिति आती है जब चेष्टा या आयास की स्थिति नहीं होती- तब

यह वर्ण हृदय से अपने-आप चलता है अर्थात् तब तदर्थ चेष्टा या आयास की आवश्यकता नहीं होती। यदि साधक का हृदय परिष्कृत होता है तो गुरु-प्रदत्त चिन्मय मंत्र स्वत: स्फूर्त ढंग से चलता है। बस अब इसका एकमात्र श्रवण करना चाहिए। सुदीर्घ काल के अभ्यास या श्रद्धा-भक्ति के प्रभाव से जप अनायास होने लगता है। यही मंत्र चैतन्य का पूर्वाभास है। इससे स्वभाव की धारा खुल जाती है- फिर पुरुषार्थ की आवश्यकता घट जाती है। कुण्डलिनी भी नाद रूप लेकर ऊर्ध्वगमन मध्य नाड़ी या सुषुम्णा में करती है। इस क्रम में अनेक प्रकार की श्रुति-मधुर ध्वनियाँ सुनाई पड़ती हैं- ये ध्वनियाँ स्वयम् अनाहत नहीं हैं- अनाहत प्रापक हो सकती हैं। अनेक प्रकार की होने पर भी इन्हें प्राय: नौ (नवनाद) प्रकार का कहा गया है। गुरु-कृपा-वश इसको सुनते-सुनते अनाहत भी सुनाई पड़ने लगता है। वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती के बाद परा है। यही शब्द ब्रह्मरूप सूर्यमण्डल है। इसे भेदकर स्वरूप प्रतिष्ठ होना ही ज्ञान का फल है - सन्तजन का गन्तव्य है।

शब्द ब्रह्मणि निष्णात: परं ब्रह्माधिगच्छति

प्राण के चलन से वर्णादि का उदय होता है। यह चलन दो प्रकार का है- स्पन्दात्मक या स्वाभाविक और प्रयत्नजन्य। पहले से ही नाद-श्रवण का पथ खुलता है। कबीर आदि सन्तगण इसी मार्ग के यात्री हैं और यही शब्द-ब्रह्म (स्पन्दात्मक) या तदतिक्रान्त स्पन्दातीत परब्रह्म ही इन सन्तों के 'राम' हैं - वे 'सबद' रूप में निराकार हैं और शरीरी सबद रूप सद्गुरु साकार ब्रह्म हैं। बिनु गुरु जगत को निर्गुण पावा (जायसी)। उपनिषदें भी परात्पर सत्ता या राम को एजनात्मका (स्पन्दात्मा) और अनेजात्मा (स्पन्दातीत) कहती हैं-

तदेजति तन्नैजति (ईशावास्योपनिषद्)

कबीर भी अपने शब्दों में कहते हैं-

साधो सबद साधना कीजै।
जेहि सबद से सब उपजे हैं ताहि गहि लीजै।।

जहाँ स्पन्दन होगा, वहाँ शब्दन क्रिया होगी ही। हाँ, उसके लिए निरतिशय श्रवण-सामर्थ्य अपेक्षित है। यही सामर्थ्य प्रजापति है- सृष्टि इसी से होती है। हिलना-डुलना ही बनना-बिगड़ना है और यही बनना-बिगड़ना संसृति है। इस आद्य स्पन्द के लिए ही गत्यात्मक और सर्जनात्मक होने के कारण 'शब्द' संज्ञा का औपचारिक प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार कबीर आदि संतों का राम यही बोधात्मा परावाक् या तदतीत परब्रह्म ही है। इस रूप में वह निराकार और अगुन है और सदगुरु

शरीरी 'सबद' है- वह सगुन है। इसी को पकड़ने से इस तक पहुँचा जा सकता है- फिर मालूम पड़ता है-

अगुनहिं सगुनहिं नहि कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा।।

गोस्वामी जी का मार्ग भिन्न है- परन्तु परात्पर सत्ता का स्वरूप वे भिन्न कोण से निरूपित करते हैं- फलत: भिन्न रूप उभरता है। इनकी नाम साधना लीलारस पर्यवसायी है। इनकी नाम-साधना रूपाभिव्यक्ति के माध्यम से भावसाधना के पथ पर चलकर अनुभूति गोचर 'रस' के रूप में पर्यवसित होती है। सद्‌गुरु की अपेक्षा सर्वत्र है। उनका तो दृढ़ विश्वास है-

गुरु बिनु भवनिधि तरै न कोई। जो विरंचि शंकर सम होई।।

भक्ति, तुलसी और कबीर - दोनों की साध्यरूपा है - पर पद्धति में भेद है। एक कहता है-

"श्रुति सम्भव हरिभक्ति पथ....।"

कबीर कहता है-

"साधो भक्ति सतोगुरु आनी।"

पर कबीर ही नहीं, तुलसी भी कहते हैं-

तात भक्ति अनुपम सुख मूला। मिलहिं जो संत होहिं अनुकूला।

मंत्र साधना में दैहिक उपादान शुद्ध-विशुद्ध होते हैं- और मन्त्रसिद्धि के साथ-साथ भाव-देह का विकास होता है तब स्वभाव का पथ खुलता है और विधि-निषेध की सीमा कट जाने से रागमार्ग में भजन का अधिकार प्राप्त होता है। साधना के आरम्भ में आश्रय तत्व अभिव्यक्त होता है। तदन्तर प्रेम (भावकुसुम के विकसित होने पर) का विकास होता है। 'मानस' में 'भाव भगति' तथा 'अविरल प्रेम भगति' का संदर्भ आता रहता है।

आश्रय तत्व की अभिव्यक्ति के बाद भाव कुसुम की प्रेमात्मक अभिव्यक्ति के साथ-साथ विषय तत्व का अधिकार बनता है। भाव-साधना एक प्रकार से विरह का क्रन्दन है किन्तु प्रेम-साधना मिलन का उल्लास है। बाद में जो आश्रय और विषय का ऐक्य हो जाता है। यही तादात्म्य 'रस' है- इसमें सत्तागत भेद है ही नहीं। यही समरसता सिद्धावस्था या रसाद्वैत है। यहीं अनन्त लीलाओं का स्फुरण होता है- उसी एक में। अभेदमय समुद्र से भेदमय लीला की तरंगे समुच्छलित होती रहती हैं।

इस प्रकार नाम-साधना की दो भिन्न धाराएँ हैं- एक 'गुरुयान' में और दूसरी

'अवतारयान' में फलित होती लक्षित है। ऐसे में गोस्वामी जी यदि अपने ही मार्ग को एकमात्र मार्ग मानते हैं तो समन्वयी वृत्ति के कैसे होंगे? फिर महिम्न स्रोत के इस कथन का क्या होगा?

ऋजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।

सूफी सन्त (किहनी उपखान वाले) जायसी में भी इसी मान्यता की प्रतिध्वनि सुनाई पड़ती है-

विधिना के मारग हैं तेते। सरग नखत तन रोवाँ जेते।।

एक बात और भी है। इन उभयात्मक पक्षों में परस्पर सम्बन्ध योग सम्भव है और इन दोनों में पृथक प्रस्थान भी सम्भव है। जब कबीर कहते हैं-

ब्रह्म झलक्कै सीस

तब नाम-साधना यहाँ भी रूपाभिव्यक्ति के माध्यम से आगे बढ़ती है और बिना रूपाभिव्यक्ति को माध्यम बनाए भी आगे बढ़ सकती है। कबीर में लगता है दोनों का परस्पर योग है।

इस प्रकार एक समस्या या ग्रन्थि का समाधान तो यह हुआ कि कबीर का राम 'सबद' या बोधात्मा परावाक् या तदतिक्रान्त परब्रह्म या परासत्ता है और तुलसी के राम दसरथ-सुत अवतीर्ण राम परब्रह्म का ही व्यक्त रूप है। इसलिए कबीर को यह कहने का हक है- 'राम कोउ आना' पर तत्वतः विचार करने पर क्या दोनों की मान्यता परात्पर सत्ता के विषय में अलग-अलग है? कभी नहीं। कबीर 'सबद' के गायक हैं और तुलसी लीलाराम में डूबकर रामचरित के गायक हैं।

सम्प्रति, दूसरा सवाल यह है कि बोधात्मक परावाक् या तदतीत के सिद्ध उपासक उसी कबीर को तुलसी अपशब्दों में याद करते हैं- अलजात और अलसिफात के समरस रूप में निमग्न उसी जायसी को गाली देते हैं या पिण्डपद समरसीकरण में निमग्न उसी गोरख को भला-बुरा कहते हैं- आदि-आदि। मुझे नहीं लगता कि तुलसी जैसा सिद्ध चिन्तक अपनी प्रकृति के अनुरूप अध्यात्म यात्रा करने वाले इन पहुँचे हुए सन्तों को वैसे भद्दे शब्दों से याद करते हैं। तब सवाल खड़ा होता है, वे कबीर, जायसी, गोरख आदि कौन हैं जो इनके कोप-भाजन हैं?

गोस्वामी एक वर्णाश्रयी समाज के कट्टर पक्षधर हैं, उन्हें वही समाज प्रिय है जिसका एक व्यवस्थित ढाँचा है- वे उस ढाँचे के विरोध को बर्दाश्त नहीं कर

सकते। वे एक समाज के होकर इन्सानियत की जमीन से जुड़ते हैं- कबीर सीधे इन्सानियत की जमीन से जुड़ते हैं। इन्सानियत की जमीन से जुड़ने वाले से किसी का अमंगल नहीं हो सकता- शर्त यही है कि वह इन्सानियत को जीता हो। विनयपत्रिका में विनय की विभिन्न भूमियों में एक है- मनोराज्य की भूमि। इस भूमि या मनोवृत्ति की कितनी चाह है तुलसी में-

कबहुँक हौं यहि रहनि रहैंगो?
परहितनिरत निरन्तर मन क्रम वचन नेम निबहौंगो।

इन्सानियत की यही परिभाषा है। 'रागसमाधृत परार्थ पर्यवसायी परदुःखकातरता' का ही दूसरा नाम इन्सानियत है। हमारी परम्परा तो इससे ऊँची भूमि कोई मानती ही नहीं है-

"न मानवाच्छ्रेष्ठतरं हि किञ्चित्"

तुलसी की भक्ति लोकमंगल पर्यवसायिनी ही है। तुलसी भी भक्ति के क्षेत्र में किसी वर्णाश्रयी विधि-निषेध की बात नहीं करते। उनकी भक्ति इन्सानियत के रस में निमग्न- इसलिए उससे लोकमंगल को कोई भय नहीं है। मनावन के निमित्त प्रस्थित भरत के विषय में जब शंकालु इन्द्र बृहस्पति से बचाव की प्रार्थना करते हैं तब बृहस्पति यही कहते हैं कि काष्ठापन्न भक्ति की भूमि में प्रतिष्ठित भरत से अ-लोकमंगल हो ही नहीं सकता। भक्त स्वभाव मानवीय भूमि पर ही रहता है। कबीर के भीतर की इन्सानियत ही बोलती है-

ऐसी बानी बोलिए, मन का आपा खोइ।
आपन तन सीतल करै, औरन सीतल होइ।।

मन का आपा अहंकार विघटक तत्व है- उसके गलने पर ही सर्वतोमुखी मंगलमुखी सर्जना उदित और चरितार्थ होती है। कबीर का पक्ष है कि प्रकृति या परमात्मा हमें धरती पर इन्सान के रूप में भेजता है- पर हम उसे हिंदू-मुसलमान आदि के रूप में विभक्त करके गैर-इन्सान बनने लगते हैं। पैदा होते समय हमारे ऊपर ऐसी कोई विभाजक रेखा नहीं होती। हम अपनी रागात्मक सत्ता को जितना व्यापक बनायेंगे- हमारी सम्भाव्य इन्सानियत उतनी ही उभरती जायेगी।

निष्कर्ष यह कि कबीर इन्सान को बाँटना पसन्द नहीं करते। गोस्वामीजी की निष्ठा श्रुति-सम्मत विधान से सुगठित हिन्दू समाज के मर्यादावादी पक्ष में है। यह सही है कि धर्म या संस्कृति (मानवता या इन्सानियत) एक सार्वभौम और अखण्ड तत्व हैं- पर हर राष्ट्र का भी उसका अपना एक पहलू होता है। तुलसी इसी के माध्यम से सार्वभौम तत्व के पक्षधर हैं। इन्सानियत से कोई सीधे जुड़ता है और

कोई अपनी राष्ट्रीय या सामाजिक पहचानं के साथ। यदि नीयत उस सार्वभौम तत्व से जुड़ने की है तो वह साक्षात् जुड़े या अपनी समाजानुमोदित मर्यादाओं के साथ। कबीर को क्षीयमाण होती वर्णाश्रयी व्यवस्था में आस्था नहीं है- तुलसी उसकी सुदृढ़ और व्यवस्थिति को बरकरार रखना चाहते हैं। रहना तो हमें समाज में ही है- अत: उसकी मांगलिक और इन्सानियत - अविरोधी मान्यताओं के परिपालन में जागरूक रहना चाहिए अन्यथा असमर्थ महत्वाकांक्षी तथा सुविधापरस्त जन समाज की मर्यादा पर कुठाराघात करने लगते हैं और मर्यादाएँ टूटने लगती हैं- ऐसे समाज में अराजकता बढ़ जाती है। तुलसी ने इस पर प्रकाश डाला है और बताया है कि परिवार और समाज ने मनुष्य के भीतर के सामाजिक को अपने मंगल सम्पादन के लिए बनाया है- अत: उनका निर्वाह आवश्यक है। कबीर जैसे लोगों को इसकी चिन्ता नहीं है- क्योंकि भक्त से किसी का अमंगल हो ही नहीं सकता। अत: ये लोग विधि-निषेध की लगाम से मुक्त हैं। लगाम बिगड़े घोड़े को लगाई जाती है- सधे के लिए तो महज वह औपचारिक है। इसीलिए महापुरुषों की ओर से कहा जाता है- जो हमारे सुचरित हैं- उन्हीं का अनुधावन करो। अस्तु, अन्तिम सवाल यह है कि तुलसी क्या सधे और पहुँचे कबीर, जायसी गोरख और अलखियों को जली-कटी सुना रहे हैं या असमर्थ महत्वाकांक्षी अनाचारियों द्वारा समाज में उनकी प्रतिष्ठित मूर्ति की आलोचना कर रहे हैं? ऊँचे से ऊँचा तात्विक सिद्धांत देश-काल के चौखटे में गिरे हुए लोगों से अपनाया जाकर आलोच्य हो जाता है और लोक का उससे अमंगल होता है- फलत: लोक या राष्ट्र के पुरोधा इस अराजक रूप पर आक्रोश व्यक्त करते हैं। प्रजातंत्र को ही लें- क्या उसकी मूल तात्विक कल्पना ऐसी ही थी जैसी आज गिरे हुए सत्ताधारियों के हाथ पकड़कर बद्रूप हो गयी है? आज वह आलोच्य हो गयी है। प्रजातंत्र की रीढ़ है - आत्मानुशासित प्रजा। क्या आज औसतन प्रजा में आत्मानुशासन है? आत्माहीन देह सड़ेगी और सड़ी की अवहेलना या अलोचना संगत है। कबीर यदि 'को बाम्हन को सूदा' कह रहे हैं तो वे द्वन्द्वातीत भूमि से बोल रहे हैं- आम आदमी यही दुहराने लगे तो 'कोई किसी को आँख दिखावहि डाँट' की अराजक स्थिति पैदा हो जायेगी। समाज व्यवस्था का विरोध कैसी-कैसी स्थितियाँ पैदा कर सकता है- तुलसी ने इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है। पहुँचे हुए के लिए कोई मर्यादा की लगाम नहीं है। कहा है-

निस्त्रैगुण्ये पथि विचरतां को विधि: को निषेध:

द्वन्द्वातीत से जब लोक का कोई अमंगल सम्भावित ही नहीं है- तो विधि-निषेध की आवश्यकता? तुलसी के ही राम ने शबरी से सारी मर्यादाओं को

दरकिनार कर भक्ति जैसे परम मूल्य की पक्षधरता की है। राम कहते हैं-

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानहिं एक भगति कर नाता।।
जाति पाँति कुल धरम बड़ाई। धनबल परिजन गुन चतुराई।।
एक भगति बिनु सोहइ कैसे। बिनु जल बारिद देखिय जैसे।।

कबीर इसी भूमि से गिरती हुई व्यवस्था की आलोचना करते हैं।

यदि तुलसी सुरत-शब्द-योग से 'सबद' जैसे तत्व का साक्षात्कार करने वाले कबीर का विरोध करते हैं, यदि तुलसी सातवीं मंजिल पर पहुँचे हुए जायसी जैसे सूफी सन्तों को जली-कटी सुनाते हैं, यदि तुलसी पिण्ड पद का समीकरण कर स्वरूप-प्रतिष्ठ गोरख को ऐसा-वैसा कहते हैं तो वे अपने ही विरुद्ध बोलते हैं। क्या तुलसी अपने ही मार्ग को मार्ग मानते हैं- शेष कुमार्गी हैं? उनका भी अपना मार्ग है और वे भी अपने मार्ग से उसी गन्तव्य तक पहुँचे हुए हैं।

अतः निष्कर्ष यह कि नाम-साधना का सहारा लेकर एक ही रामाश्रयी वैष्णव धारा के तुलसी और कबीर एक ही गन्तव्य पर पहुँचते हैं- यह बात अलग है कि कबीर के राम बोधात्मा परावाक् हैं और सद्गुरु उसी का शरीरी और सगुण रूप है जबकि तुलसी अपनी साधना से जिस चरम तत्व के लीला रस का पान कर चरितगान करते हैं वह भी 'समरूप निराकार रसमय तत्व' है और राम दशरथ-सुत के रूप में साकार। एक अपनी परात्पर सत्ता को सीयराम का समरूप मानता है-

तुम समरूप राग भगवाना।

जहाँ सीता 'प्रभा' हैं और राम 'भानु'। तभी तो कहा गया है-

प्रभा जाइ किमि भानु बिहाई।

और दूसरा परात्पर सत्ता को सुरत कथा शब्द का समरस रूप निरूपित करता है। इसलिए तत्वतः कबीर और तुलसी को पक्ष-प्रतिपक्ष रूप में देखना उचित नहीं है। उनके राम का अर्थ-भेद हो सकता है।

भारतीय भक्तिप्रस्थान : स्वामीरामानन्द का प्रदेय

डॉ० (श्रीमती) अर्चना सिंह

उत्तरी भारत की संत परम्परा में स्वामी रामानन्द का नाम सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। स्वामी जी स्वाधीन चेता होने के साथ ही अत्यन्त सहृदय भी थे। उनका वैचारिक दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। इन्होंने अपने चरित्र बल एवं व्यवहार से समग्र हिन्दू समाज एवं तत्कालीन वातावरण को प्रभावित किया। ये अपने समय के श्रेष्ठ पथ प्रदर्शक संत के रूप में हमारे सामने आते हैं। उस युग के प्रत्येक विशिष्ट संत या समाज सुधारक ने किसी न किसी प्रकार इनसे मार्ग दर्शन लिया।

जिस भक्ति साधना का विकसित एवं व्यापक रूप हमें उत्तरी भारत में दिखाई पड़ रहा है उसके प्रधान प्रवर्तक स्वामी जी ही थे। वर्ण सम्बंधी कड़े नियमों को शिथिल करके सर्व साधारण को महत्व देकर मानवीय मूल्यों को स्थापित करने का श्रेय इन्हें ही जाता है। लोक संग्रह की दृष्टि से जनता के बीच कार्य करने वाले संयमशील साधुओं की टोली संगठित करके उसे वैरागी या अवधूत नाम देकर उन्हें सर्वत्र भ्रमण करते रहने की प्रेरणा दी। धर्म प्रचार के लिए संस्कृत की अपेक्षा हिन्दी को अधिक उपयुक्त माना।

अगस्त्य संहिता के आधार पर-

जन्म-कलियुग के ४४०० वें वर्ष, विक्रम सं० १३५६ में हुआ। पिता-कान्यकुन्ज कुल के पुण्य सदन शर्मा, माँ- सुशीला थीं।

कहा जाता है बचपन में इन्हें पढ़ने के लिए काशी भेजा गया था, जहाँ पर ये शांकराद्वैत मत के प्रभाव में अपनी शिक्षा पूर्ण कर अंततः विशिष्टाद्वैतवादी स्वामी राघवानंद के शिष्य हो गये। ये अपना अधिकतर समय पंचगंगा के आस-पास किसी गुफा के भीतर व्यतीत करते थे, केवल ब्राह्मवेला में कुछ समय के लिए बाहर निकला करते थे। इनके शिष्यों एवं सम्पर्क में आने वाले उत्साही अनुयायियों ने दूर-दूर तक इनके सिद्धान्तों का प्रचार-प्रसार किया।

शिष्य- परम्परा में यह प्रसिद्ध है कि स्वामी जी के द्वादश शिष्य थे। रहस्यमयी के टीकाकार ने सेन नाई, कबीर साहब, पीपाजी, रमादास, धन्ना के साथ पद्मावती नामक शिष्या को जोड़ लिया है। उन्हें 'जितेन्द्रिय' कहा है। अनंतानंद, सुरसुरानंद, नरहर्यानंद, योगानन्द, सुखानन्द, भावानन्द, गालवानन्द, नामक सात शिष्यों को 'नन्दना' कहकर संबोधित किया गया है। सद्धिद्वादशशिष्याः स्युः रामानन्दस्य सद्गुरोः। द्वादशादित्य संकाशाः संसारतिमिरापहा। श्रीमदनन्तानन्दस्तु सुरसुरानन्दस्तथा नरहरियानन्दस्तु योगानन्दस्तथैव च सुखाभावागालवंच सप्तैते नाम नन्दनाः। कबीरश्च रमादासः सेना पीपा धनास्तथा। पद्मावती तदर्द्धश्च षडेते च जितेन्द्रियाः।

परन्तु इन नामों में भी मत भेद पाया जाता है। सर्व सम्मत नामों में पाँच जितेन्द्रिय के अतिरिक्त भावानंद, सुरसुरानंद सुखानंद का ही नाम सर्वसम्मति से लिया जाता है शेष चार नामों पर मतभेद है।

निःसंदेह भक्ति आन्दोलन को गति प्रदान करने वाले आचार्यों में रामानन्द ही एक ऐसे संत थे जिन्हें हिन्दी एवं संस्कृत भाषा का समुचित ज्ञान था तथा जो शिक्षित थे। इनका संस्कृत में "श्री वैष्णवमताब्ज भास्कर' नामक ग्रंथ प्रसिद्ध है। 'श्री रामार्चन पद्धति' नामक पुस्तक में 'पूजन प्रणाली' वर्णित है। इसके अतिरिक्त इनकी अन्य कई रचनाएँ है। एक पद हनुमान के विषय में मिलता है। आनंदभाष्य रामानंद की प्रचण्ड मेधा का निदर्शन है। रामार्चनपद्धति की मान्यता सम्प्रदाय में सर्वविदित है।

दूसरी एक अन्य रचना है जिसमें बाह्य पूजन अर्चनादि के प्रति विरक्ति भाव प्रकट होता है। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी द्वारा सम्पादित रचनाएँ महत्वपूर्ण हैं उनके बारे में मतभेद नहीं के बराबर है।

श्री गुरुग्रंथ साहब, राग बसंत पद एक में जो कुछ कहा गया है उसका आशय है-"मुझे मंदिरादि में पूजन के लिए अब कहाँ जाना है, अब तो मेरे हृदय में घट के भीतर ही रंग चढ़ गया है, अब तो मेराचित्त चलायमान होने की जगह पंगु वनकर स्थिर हो गया कोई दिन था जब मैं पूरे उमंग के साथ चोआ चंदन प्रभृति सुगंधित द्रव्य लेकर ब्रह्म का स्थान विशेष पर पूजन करने जाया करता था। गुरु ने मुझे उस ब्रह्म का परिचय मन के भीतर ही करा दिया। अब मैं जहाँ कहीं भी मंदिर तीर्थादि जाता हूँ, वहाँ जल तथा पत्थर ही दिखाई पड़ता है। वेदों और पुराणों का अध्ययन कर लेने पर भी मेरी यही धारणा है कि वह सर्वत्र एक समान ही व्याप्त है। इसलिए हमें उसके पूजन के लिए वहाँ मंदिरादि में तभी जाना चाहिए जब वह यहाँ विद्यमान न हो।

मैं अपने उस सतगुरु की बलिहारी जाता हूँ जिसने मेरे समस्त विखरे भ्रमों के जंजाल को नष्ट कर दिया। रामानन्द इस समय केवल ब्रह्म में लीन है।''

श्री सम्प्रदाय एवं रामावत सम्प्रदाय :

डॉ० जे० एम० फर्कुहर का यह मानना है कि स्वामी रामानन्द के मत का मूल आधार श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के सिद्धान्तों में निहित न होकर 'अध्यात्म रामायण' में वर्तमान है। उनका यह मानना है कि राघवानन्द मूलत: दक्षिणी भारत से आये थे। उनके मान्य ग्रंथ वाल्मिकीय रामायण, अध्यात्म रामायण एवं अगस्त्य संहिता थे। उन्होंने उत्तरी भारत में रामानन्द जैसे व्यक्ति को अपने मत में खींच लिया।

पन्द्रहवीं शताब्दी में एक नये धार्मिक आन्दोलन का सूत्रपात हुआ। सोलहवी शताब्दी में यह जन आन्दोलन का रूप ले चुका था।

स्वामी रामानन्द के दार्शनिक सिद्धान्तों क़ा आधार विशिष्टाद्वैत की मूल बातों में ही निहित है। इस दृष्टि से श्री सम्प्रदाय एवं रामावत सम्प्रदाय में विशेष अंतर नहीं दिखाई पड़ता है परन्तु साम्प्रदायिक मान्यताओं के अनुसार कई भेद लक्षित होते हैं। श्री सम्प्रदाय के उपास्य देव 'नारायण' हैं जब कि रामावत सम्प्रदाय वाले राम को स्वीकार करते हैं। यह सर्वसाधारण के मनोवृत्ति के अनुकूल है।

राम के आदर्श में जहाँ एक ओर परमात्मा का सर्वव्यापी रूप परिलक्षित होता है वहीं उनके लौकिक चरित्र में मानवीय गुणों का पूर्ण विकास भी दिखायी देता है। हम क्षीरसागर में शयन करने वाले चतुर्भुजी विष्णु के अलौकिक रूप के प्रति श्रद्धा का भाव रखते हैं किन्तु मानवीय गुणों से परिपूर्ण राम हमें अधिक निकट प्रतीत होते हैं। श्री सम्प्रदाय के नियमों में कर्मकाण्ड तथा अर्चन विधियों का बाहुल्य है वहीं रामावत सम्प्रदाय के अनुसार भक्त का हृदय अपने इष्टदेव के गुणगान से तृप्त होता रहता है। यह अपेक्षाकृत सरल एवं सहज है।

स्वामी जी के शिष्यों ने भक्ति की अजस्र धारा को आगे बढ़ाया। अपने मूल और शुद्ध रूप में भक्ति आन्दोलन का जन्म दक्षिण में मुसलमानों के आने से पूर्व ही हो चुका था। दक्षिण भारत का आन्दोलन भगवान् का लीलारूप लेकर आया, जिसमें भक्ति और प्रेम की प्रधानता थी। कोई भी उसका आनन्द उठा सकता था। बौद्ध, नाथ और सिद्ध यह विश्वास नहीं दिला पाये थे। इस भक्ति ने विशृंखलित हिन्दू समाज को महान् आदर्शों से अनुप्राणित किया।

बौद्ध धर्म के ह्रास के बाद जगद्गुरु शंकराचार्य ने वैदिक धर्म की पुनः स्थापना करके अद्वैत मत का प्रचार किया। सैद्धान्तिक दृष्टि से शांकर अद्वैत में संकीर्णता का अभाव और समाज को एक सूत्र में बाँधने की क्षमता थी लेकिन व्यावहारिक दृष्टि से वह सफल न रहा।

इसे ही आधार मानकर आगे दक्षिण में चार मतों की स्थापना हुई। रामानुजाचार्य का विशिष्टाद्वैत मत, निम्बार्क का द्वैताद्वैत मत, विष्णु स्वामी का शुद्धाद्वैत मत और मध्वाचार्य का द्वैत मत। हमारे देश में वेदान्त दार्शनिक पद्धति के चरम विकास के रूप में जाना जाता है। उपनिषद् , ब्रह्मसूत्र और गीता- ये तीनों प्रस्थानत्रयी के नाम से जाने जाते हैं। इन्हीं में वेदान्त है। प्रस्थानत्रयी के आधार पर विविध दार्शनिक मतों की स्थापना हुई। शंकर के मतानुसार ब्रह्म एक, निर्विकल्प और निर्विकार है। सत् चित्त आनन्द स्वरूप ही उसका वास्तविक रूप है। ईश्वर उपादान निमित्त एवं सहकारी कारण भी है। सृष्टि निर्माण में उसका कोई प्रयोजन नहीं, वह तो केवल लीला मात्र है। माया सत् या असत् न होकर अनिर्वचनीय है। जीव भी ब्रह्म के समान अद्वैत है। शुद्ध जीव त्रयातीत (जागृति, स्वप्न एवं सुषुप्ति से परे) और पंचकोषातिरिक्त (अन्नमय, मनोमय, प्राणमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषों से परे) है। अद्वैत ज्ञान हो जाने पर जीव बन्धनों से मुक्त होकर सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है।

रामानुज का विशिष्टाद्वैत मत शंकर के मायावाद का विरोध करता है। वे चित् (जीव) अचित् (जगत) और ईश्वर यह त्रयतत्व मानते हैं। ईश्वर नियामक है, जीव नियम्य है, जीव ईश्वर पर अवलम्बित है। विशिष्टाद्वैत के अनुसार जीव, जगत् दोनों स्वतंत्र हैं पर ईश्वर के अधीन हैं। सारा जगत् ईश्वर का ही रूप है। ब्रह्म अखंड है, जीव उसका अंश है। रजतम के मिश्रण से सृष्टि का निर्माण होता है। इस मत के अनुसार "दास्य भक्ति ही चरम लक्ष्य है।"

स्वामी रामानन्द ने थोड़े परिवर्तन के साथ विशिष्टाद्वैत मत को ग्रहण किया था। रामानुजाचार्य के श्री सम्प्रदाय से अलग हटकर उन्होंने रामावत या रामानन्दी सम्प्रदाय को प्रवर्तित किया। रामानन्द ने रां रामाय नमः को मूलमंत्र के रूप में स्थापित कर राम को ईश्वर, सीता को प्रकृति तथा लक्ष्मण को चित् माना।

सम्पूर्ण भक्ति आन्दोलन को रामानन्द ने अपने सिद्धान्तों एवं विचारधारा से प्रभावित किया। निःसंदेह वह एक ऐसे संत थे जिन्होंने अपनी दार्शनिक एवं आध्यात्मिक चेतना से भारतीय समाज को अभिभूत कर दिया। रामानन्द ही एक

मात्र ऐसे आचार्य हैं जिन्होंने निर्गुण एवं सगुण दोनों उपासकों को संतुष्ट किया। उन्होंने धर्म का सरलतम एवं विश्वसनीय रूप जनता के समक्ष रखा तथा मानवधर्म को सर्वोपरि माना।

भक्त माल में उनके जिन बारह शिष्यों का वर्णन किया गया है उन शिष्यों ने भी भक्तिधारा को बहुत आगे बढ़ाया। इन भक्तों के भी भक्त हुए, जिनसे भक्ति की धारा शतधा होकर प्रवाहित हुई।

प्रगतिशील विचारधारा के होने के कारण ही इनके शिष्यों की संख्या इतनी अधिक थी। संतमार्ग के प्रचार प्रसार का पूरा श्रेय इन्हें ही जाता है। 'नाभादास' ने 'भक्तमाल' में लिखा है-"इनके अनेक शिष्य प्रशिष्य थे।" रामानन्दजी को दीर्घ, पवित्र एवं साधनात्मक जीवन प्राप्त हुआ था। भक्तमाल में भी इनके जीवन चरित्र से संबंधित अधिक जानकारी नहीं मिलती है, लेकिन इतना सुनिश्चित है कि ये दीर्घजीवी थे।

रामानन्द ने अपनी साधना पद्धति में नामस्वरूप अर्थात् सुमिरन को सर्वाधिक महत्व प्रदान किया है। 'नाभादास' के मतानुसार ये 'दशधा' भक्ति के आगार थे। दशधा भक्ति के प्रचार के साथ ही उन्होंने ज्ञान वृत्ति प्रेमियों को ज्ञानमार्ग का उपदेश दिया। रामानन्द के शिष्यों में सर्वाधिक ख्याति प्राप्त कबीरदास हैं। कबीर ने कहा है-

"काशी में हम प्रगट भये, रामानन्द चेताये।

इन्हीं से प्रेरणा ग्रहण करकें कबीर ने भक्ति एवं साधना को सभी वर्णों एवं सभी वर्गों के लिए सुलभ कर दिया। इन का धार्मिक दृष्टिकोण अत्यन्त व्यापक था। संकीर्णता से परे इन्होंने नवीन सर्वसुलभ धार्मिक मार्ग प्रशस्त किया। रामानन्द बड़े ही उदार चेता मनस्वी थे। उन्होंने सामाजिक हीनता और असमर्थता की भावना को समूल नष्ट कर साधना का एक ऐसा विशाल एवं भव्य मंदिर निर्मित किया जिसके द्वार सबके लिए उन्मुक्त थे। तीर्थयात्रा, मूर्तिपूजा जैसे वाह्य साधनों की आलोचना करते हुए उन्होंने अन्तस्साधना का मार्ग प्रशस्त किया। उनकी रचनाओं में ब्रह्म की प्रेममूला भक्ति का उपदेश है। अपने गुरु राघवानन्द से प्राप्त भक्ति एवं ज्ञान की पृष्ठभूमि में उन्होंने श्री सम्प्रदाय को परम विस्तार दिया। रामावत सम्प्रदाय में साधनात्मक प्रक्रियाओं के साथ ही व्यवहारिक जीवन की उदारता सहृदयता एवं सहिष्णुता की भावना परिलक्षित होती है। इनके आराध्य देव राम निर्गुण, निराकार, अगम, अगोचर होते हुए भी संतों भक्तों एवं आर्त्त जनों हेतु

अवतार धारण करते हैं।

स्वामी जी के प्रगतिशील विचारों के कारण ही हिन्दू धर्म का सार्वभौमिक एवं सार्वकालिक रूप सामने आ सका। सगुण विचारधारा से प्रभावित संत भी रामानन्दजी के उपदेशों से प्रभावित थे तथा बाह्याडम्बर से दूर रहने वाले भक्तों ने इनसे प्रभाव ग्रहण किया।

ग्रंथ साहब की एक घनाक्षरी में कहा गया है-

'रामभगति रामानन्दु जानै / पूरन परमानन्दु वखानै।'

कबीर के प्रमुख ग्रंथ 'बीजक' में कहा गया है-

''रामानन्द रामरस माते / कहहि कबीर हम कहि कहि थाके।''

रामानन्द जी के शिष्यों ने अलग पंथ या सम्प्रदाय अवश्य चलाया किन्तु उनकी प्रगतिशील चेतना जागृत करने का पूर्ण श्रेय उनके गुरु रामानन्दजी को ही जाता है। सेन, कबीर, पीपा, रैदास, धन्ना नामक पाँचों शिष्यों ने अपना अलग सम्प्रदाय बनाया। उनका प्रगतिवादी दृष्टिकोण रामानन्द जी की ही देन है।

रामावत सम्प्रदाय का प्रचार प्रसार स्वामी जी के जीवन काल में ही वहुत अधिक हो गया था। आज भी इस सम्प्रदाय के लोग अपने गुरु के उपदेशों एवं शिक्षाओं के विस्तार में लगे हैं। उनके समर्पण से यह स्पष्ट होता है उनकी शिक्षाओं का अपना अलग महत्व है। आज के युग में उसकी और अधिक आवश्यकता है। 'राम- ही समग्र भारतीय जनमानस को चैतन्य कर सकते हैं। रां रामाय नमः, का मूलमंत्र ही जीवन का मंत्र है जो सामाजिक जागृति के साथ मानसिक शान्ति प्रदान कर सकने में सक्षम है।



भारतीय भक्तिआन्दोलनः
ज.गु. रामानन्द का प्रदेय

-डॉ. बृजबाला सिंह

स्वामीरामानन्दाचार्य मध्यकालीन भक्तिआन्दोलन के सूत्रधार हैं। उनकी भक्ति विषयक अवधारणा एवं योगदान पर विचार करने से पूर्व एक जिज्ञासा का शमन आवश्यक है कि भारत में भक्ति का उदय कब हुआ था तथा इसके बीज कहाँ कहाँ विकीर्ण थे। वेदों में भक्ति का स्पष्ट प्रमाण नहीं है किन्तु कैसे कहा जा सकता है कि आर्यगण इन्द्र, अग्नि, वरुण और आदित्य आदि को प्रसन्न करने के लिए जो यज्ञ करते थे उसमें इन देवों के प्रति किस प्रकार का पूज्यभाव था। क्या आर्यों का इन देवों के प्रति मात्र प्रेम भाव था अथवा आस्थापरक श्रद्धाभाव। क्या यह प्रेम एवं श्रद्धा के योग से जनमा भक्ति का भाव था। जिसे आचार्य शुक्ल ने परिभाषित किया है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि बहुदेववादीं आर्य निरन्तर एक अदृश्य परम सत्ता की ओर उन्मुख रहते थे। यज्ञ-अनुष्ठान करते, हुए आर्यों का यह कहना कि "कस्मै देवाय हविषा विधेम" उनकी भक्ति विषयक भावना को रेखांकित नहीं करता? यदि हम इन धार्मिक अनुष्ठानों को धर्म से जोड़कर देखतें हैं तो यह भी हमें मान लेना चाहिए कि जिस जिज्ञासा से धर्म का उदय होता है उसी जिज्ञासा में भक्ति के उदय के बीज भी मिलते हैं।

पुराणों में विष्णु के नाना अवतारों की चर्चा की गयी है। यही विष्णु कालान्तर में भागवत सम्प्रदाय के उपास्य देव के रूप में पर्यवसन्न हुए। जहाँ षड्ऐश्वर्यों से परिपूर्ण होने के कारण विष्णु को भगवान कहा गया और उनके उपासक सम्प्रदाय को भागवत सम्प्रदाय। वास्तव में वहीं से भक्ति का प्रादुर्भाव समझना चाहिए। अन्य देशों में धर्म के एक-एक अंग को ही पकड़ा गया परन्तु भारतवर्ष का धर्म अपने तीनों अंगों कर्म ज्ञान एवं उपासना में पूर्ण रहा। गीता में इसी भक्ति का समावेश है। परन्तु हिन्दी साहित्य में जिस भक्ति का उल्लेख है वह भागवत सम्प्रदाय से सम्बन्ध रखने वाली है।

इस भागवत धर्म का उदय स्थल मथुरा मंडल था। कालान्तर में सावतवंशीय क्षत्रिय जिस में कृष्ण का जन्म हुआ भारत के उत्तर पश्चिम में चले गये। द्रविड़ देश

के इतिहासकार आयंकर का मानना है कि आज भी द्रविड़ नरेश सावतों से अपना सम्बन्ध जोड़ते हैं। अर्थात् इन्हीं सावतों से भक्ति का उदय, आर्विभाव द्रविड़ देश में हुआ। द्वितीय युग आलवार संतों से लेकर वैष्णवाचार्यों तक फैला हुआ है। आलवार तमिल देश के वैष्णव संतों की संज्ञा है। इस युग के दो अवान्तर वर्ग समझना चाहिए आलवार भक्त काल एवं आचार्य युग। इन्हीं आलवारों ने मधुमयी भक्ति भावना से बड़े-बड़े मनीषियों का ध्यान आकृष्ट किया। जिनसे नाथमुनि तथा रामनुजाचार्य तक प्रभावित हुए। उसी समय इन आचार्यों द्वारा चलाया गया आन्दोलन भक्ति आन्दोलन कहलाया। रामानुजाचार्य ने शंकराचार्य के अद्वैतवाद का विरोध कर द्वैतवादी व्याख्या की। अद्वैत में जीव एवं ब्रह्म का अभेद वास्तविक एवं भेद औपाधिक था जबकि द्वैत में जीव एवं ब्रह्म (भगवान) का वास्तविक भेद माना गया। रामानुज के अनन्तर मध्वाचार्य विष्णु स्वामी ने शुद्धाद्वैत तथा निम्वार्काचार्य ने द्वैताद्वैत के सिद्धान्त को रखते हुए जीव एवं ब्रह्म विषयक अपनी स्थापनायें प्रस्तुत कीं।

ऊपर बताये गये आचार्यों एवं उनके सिद्धान्तों में कुछ न कुछ परस्पर मतभेद अवश्य था फिर भी मायावाद का खंड़न एवं अवतारवाद का समर्थन सबने एक समान किया है। रामानुजाचार्य का श्री सम्प्रदाय इनमें सबसे प्रमुख है। वस्तुतः मध्ययुग की समस्त चिंताओं से मुक्ति के गुरु स्वामी रामानन्द ही हैं। भक्ति लाने का कार्य इन्होंने ही किया था। कबीर ने विस्तार किया :

भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
परगट किया कबीर ने, सप्तदीप नवखंड़।।

यहाँ रामानन्द के आराध्य राम का और उनकी उपासना पद्धति का स्वरूप भी जान लेना आवश्यक है। यह तो निर्विवाद सत्य है कि तेरहवीं शती में स्वामी रामानन्द का जन्म हुआ था। इस बीच बहुत से संत एवं आचार्य महात्मा हुए। परन्तु रामानन्द सर्वाधिक ख्यात हुए। रामानुजाचार्य का श्री संप्रदाय विष्णु की और उनकी शक्ति लक्ष्मी की पूजा करता था। किन्तु विष्णु के रामावतार की पूजा का प्रचलन उस सम्प्रदाय में नहीं था। रामोपासना का प्रवर्तन आचार्य रामानन्द ने किया। रामावत सम्प्रदाय का प्रवर्तन करते हुए रामानन्दाचार्य ने विष्णु के स्थान पर राम की उपासना किया है। रामावत सम्प्रदाय और श्री रामानन्दाचार्य के सिद्धान्तों को देखने पर द्योतित होता है कि उनके भीतर धर्म एवं समाज दोनों के प्रति समान रूप से चिंता थी। वे जिस सम्प्रदाय में दीक्षित थे वहाँ विष्णु की उपासना की जाती थी जिससे कृष्ण भक्ति को प्रेरणा मिलने लगी जिसमें जयदेव की भूमिका महत्वपूर्ण

है। किन्तु समाज को माधुर्य एवं प्रेम से युक्त धर्म की नहीं संघर्ष एवं तप के साथ ही धैर्य, शौर्य एवं वीरभाव उत्पन्न करने की प्रेरणा देने वाले धर्म की आवश्यकता थी इसलिए राम को आधार बनाया गया। ऐसे राम की जो धनुष बाण हाथ में लिए हों। जो राजमहलों में नहीं वनों में विचरते हैं और असुरों का संहार करते हैं।

उनके भीतर एक द्वन्द्व था जो प्राचीनता से चिंतन लेता था और नवीनता से चिंता। वे आजीवन इन दोनों के बीच का मार्ग बताते रहे। शास्त्रों का भाष्य करते समय वे वर्णाश्रम के नियमों का खण्ड़न नहीं करते थे किन्तु उन्हें यह बात भी स्वीकार्य नहीं थी कि शूद्र वेदों का पाठ करें। आनन्द भाष्य में उनकी यह विचार धारा स्पष्ट है। यह भी बहुत गम्भीरता से सोचा गया है कि किसी भक्त का आदर अथवा निरादर ब्राह्मण या द्विज वंश में होने या न होने से किया जाय। कुल मिलाकर कठोर वर्णाश्रमी किंतु उदार सन्त चरित्र के रामानन्दाचार्य मानवता के पुजारी थे। अपनी भावना को जन-जन तक पहुँचाने के लिए उन्होंने 'वैष्णव मताब्ज भास्कर' तथा 'श्री रामार्चन पद्धति' की रचना संस्कृत में की थी। उनकी रामरक्षा, सिद्धान्त पटल, ज्ञानलीला, ज्ञानातिलक तथा योगचिन्तामणि जैसी रचनायें हिन्दी में हैं। उनका एक पद गुरु अर्जुनदेव ने 'श्रीगुरुग्रन्थ साहब' में संग्रहित करके उन्हें गुरुओं के समान आदर दिया है। हनुमान आरती का यह पद 'आरति कीजै हनुमान लला की, दुष्ट दलन रघुनाथ कलाकी' रामानन्द द्वारा रचित है। साथ ही जाति पाँति पूछै नहिं कोई। हरि को भजै सो हरि को होई। पंक्ति किसी ग्रन्थ में नहीं है बल्कि जनमानस-ग्रन्थ में शताव्दियों से प्रामाणिक रूप में सुरक्षित है। जन-जन में प्रचलित यह अर्धाली स्वामी रामानन्द की प्रासंगिकता एवं आधुनिक युग में उनके योगदान के मूल्यांकन की अनिवार्यता पर वल देती है। रामावत सम्प्रदाय में न केवल राम की बल्कि राम के साथ सीता की भी उपासना की भी बात कही गई। रामके साथ सीता को रखना रामानन्दाचार्य की उस व्यापक सामाजिक सोच का दृष्टान्त है जिसमें स्त्री एवं पुरुष समाज के और परिवार के दो जरूरी ध्रुव हैं। एक की उपस्थिति से सृष्टि का विकास नहीं हो सकता। अतएव दोनों को समाज का अनिवार्य, अविभाज्य अंग माना गया। 'सीय राम मय सब जग जानी' की व्यापक भावना भी संभवत: वहीं से आई होगी।

भक्ति के क्षेत्र में रामानन्द का दूसरा महत्त्वपूर्ण कार्य है यह कि उन्होंने रामोपासक वैरागियों का संगठन एक स्वतंत्र सम्प्रदाय के रूप में किया और उस संगठन में प्रवेश पाने का अधिकार उन वैष्णवों को भी दिया जो जन्मना शूद्र अथवा मुसलमान थे। इसक्रम में सवसे पहले हमारा ध्यान उनके शिष्यों पर जाता है। इनके

बारह शिष्यों में सेन जाति के नाई थे, कबीर जुलाहा, रैदास चमार, धन्ना और, अनन्तदास जाट आदि जातियों से आये थे। इसके साथ ही साथ उनकी दो शिष्याएँ सुरसुरी एवं पद्मावती थीं। शिष्यों के साथ शिष्याओं को भी अपने सम्प्रदाय में शामिल करना स्वामी रामानन्द की स्त्री विषयक विराट सोच का द्योतक है।

भक्तमाल में नाभादास ने रामानन्द की भक्ति को दशधाभक्ति कहा है। इस दशधा भक्ति का क्या अभिप्राय है, इसकी मान्यता क्या है इसके विषय में रामानन्द के शिष्य अनन्तानन्द और उनके शिष्य गणेशानन्द का संवत् १६०९ का लिखित ग्रन्थ 'भक्ति भावतीजोग' कुछ महत्वपूर्ण सूचनाएँ देता है। उनके अनुसार दसवीं प्रकार की भक्ति प्रेम भक्ति है जो नवधा के बाद आती है 'जो पहले नौधा करि आवै। प्रेम भगति ता पीछे पावै'। पहले संतों की संगति करके योग्य गुरु की खोज करनी चाहिए और गुरु मिल जाने पर उसी की उपासना करना तथा नवधा भक्ति में मन लगाना चाहिए। साथ ही भक्त के कर्तव्य बताये गये हैं- अपनी गृहिणी के साथ संयम से गृहस्थ जीवन बिताना परधन एवं परदारा में लिप्त न होना, हरिकृपा के अतिरिक्त अन्य किसी वस्तु की आशा न करना, संत को सर्वस्व मानना, गुरु और गोविंद में भेद न करना, वर्णधर्म के नियमों का पालन करना, दूसरों में गुण-अवगुण न देखना, पराई निंदा न करना, कटुभाषण न करना, शत्रु और मित्र को समान समझना तथा हरि को हृदय में धारण किए रहना है। इस ग्रन्थ में स्थान-स्थान पर स्वामी रामानन्द एवं अनन्तानन्द के प्रति श्रद्धा प्रकट की गयी है। इससे अनुमान दृढ़ हो जाता है कि रामानन्द दशधा भक्ति के आराधक एवं उपदेशक रहे होंगे।

गुरु ग्रन्थ साहब में रामानन्द जी का एक पद मिलता है जिससे बहुत सी बातें स्पष्ट होती हैं-

कत जाइए रे घर लागे रंगु। मेरा चितु न चलै मन भयो पंगु।।
एक दिवस मन भई उमंग। धारी चंदन चोआ, बहु सुगन्ध।।
पूजन चली ब्रह्म गुरु ठाई। सो ब्रह्म बतायों मनही माहिं।।
अहं जाइए वहं जल पषान। तूरि रहयो है सब समान।।
वेद पुरान सब देखे जोइ। ऊँहों तौ जइयै जौ ईहाँ न होइ।।
सति गुरु मैं बलिहारी तोर। जिन सकल विकल भ्रम काहे मोर।।
रामानन्द स्वामी रमत ब्रह्म। गुरु का सबद काटै कोटि करम।।

इस पद में उनकी साधना का स्पष्ट दर्शन होता है। यहाँ ज.गु. रामानन्द के तीर्थ, मूर्तिपूजा, वेद, पुराण तथा बाह्यकर्मों एवं उपासनाविधियों को त्यागकर घर में ही रहते हुए अंतर्यामी एवं विश्वव्यापक ब्रह्म या परमात्मा की प्रेम भक्ति करने, गुरु के शब्द से उनके अज्ञान एवं पूर्वकर्मों के नष्ट होने, उनके ब्रह्मलीन होने का साफ संकेत है। इससे यह भी अनुमान लगाया जाता है कि प्रारंभ में उनकी सगुण पूजा की प्रवृत्ति थी वाद में निर्गुण भाव भक्ति में रत हुए। यही कारण है कि उनके शिष्य भी दो प्रकार के उपासक जान पड़ते हैं। इन शिष्यों में एक तो वे जो निर्गुण भाव से राम के उपासक हैं। दूसरे वे जो सगुण अवतार के रूप में राम के उपासक थे। रामानन्द का प्रभाव योग प्रधान भक्तिमार्ग, निर्गुणपंथी भक्तिमार्ग तथा सगुण भक्तिमार्ग तीनों पर है। इससे यह स्पष्ट होता है कि रामानन्द की साधना पद्धति उदार एवं व्यापक थी। उसमें हर एक आस्तिक एवं आस्थावादी के लिए कुछ न कुछ संभावना अवश्य थी। इनकी मुख्य भावना भक्ति की है, दर्शन की नहीं।

निःसंदेह भक्ति का अर्थ यहाँ वहुत व्यापक है और भक्ति मार्ग का उदारदृष्टिकोण सबको अपने में समाहित करने वाला है। उन्होंने भक्ति को जीवन का ऐसा अंग बना दिया था कि जिससे संसार तथा संसारेतर समस्याओं से मुक्ति पाई जा सके। भक्ति अर्थात् ईश्वर से सहज भाव से साझेदारी। कर्म का निषेध नहीं है। कोरा संसार से वैराग्य नहीं है। केवल अनावश्यक परिग्रह, अनावश्यक लोभ और लालसा से मुक्ति का अभियान है। नामजप का आग्रह तथा पाखण्ड का विरोध है। पाखण्ड का समर्थन नहीं। नामजप में यह भाव निहित है कि नाम के साथ जुड़ा हुआ जो कुछ भी है मानवीय भाव, शरणागति, कृतज्ञता, वात्सल्य, सत्यनिष्ठा, शील-सौन्दर्य और सबसे अधिक प्रिय होने का भाव ही समाया हुआ है। प्रो. विद्या निवास मिश्र ने रामानन्द की भक्ति भावना पर लिखा है "वैष्णव आचार का अर्थ है सहज नैतिक आचार के कारण लोक में प्रिय होना। वैष्णव की कुटीर एक ओर अभय स्थान है दूसरी ओर सारे दुःखों के निवारण का स्थान है। वह शैव तथा वैष्णव दोनों के लिए स्पृहणीय है। असंकुचित वैष्णव भाव ने उत्तर भारत को इतना आकृष्ट किया कि आजकल शैव और वैष्णव जैसे विवाद नहीं दिखाई देते। निर्गुण एवं सगुण का विवाद भी सीमित हुआ है। यह श्री रामानन्द जी का सबसे बड़ा प्रदेय है।"

रामानन्दाचार्य अपने समय में व्याप्त सामाजिक मतभेद से क्षुब्ध थे। वे सच्चे अर्थों में मानवतावादी संत थे तथा जन्म के आधार पर किसी भी प्रकार के वैषम्य विरोधी। अतः उन्होंने सामाजिक दृष्टि से उपेक्षित मनुष्यों के उद्धार का बीड़ा उठाया। उनकी दृष्टि में भक्ति वह साधन और साधना दोनों थी जिससे शोषित एवं

दलित मानवता का उद्धार किया जा सके। इसी से प्रेरित होकर उन्होंने समता का प्रचार किया। सभी प्राणियों को एक ईश्वर की संतान बताया तथा उसकी उपासना का सबको अधिकारी बताया। वे भ्रमणशील व्यक्ति थे उन्होंने सुदूर देशों की यात्रा करके अपने सिद्धान्तों, विचारों, मतों एवं रामभक्ति का प्रचार किया। कहा जाता है कि आबू एवं जूनागढ़ की पहाड़ियों पर अब भी इनके चरण चिह्न पाये जातें हैं तथा आबू में उनकी एक गुफा भी विद्यमान है। रामानन्द के विस्तृत यात्राकाल में वर्ण व्यवस्था का कठोरता से उल्लंघन करने पर अनेक सहजातियों ने उनसे विवाद किया। उनके आचार-विचार पर आपत्ति की फिर भी जाति व्यवस्था को शिथिल करने के अभियान पर वे आगे बढ़ते रहे। उन्होंने किसी बात की चिंता न करते हुए स्वतंत्र सामाजिक चिंतन प्रतिपादित किया। जिसका मूलस्वर मानवतावादी था। जिसमें कोई दीवार थी ही नहीं। उन्होंने यह मत सबके सामने रखा कि किसी भी जाति या वंश में जन्म लेने वाले लोग एक साथ खान-पान कर सकते हैं। ईश्वर की सेवा करने वाले सभी लोग समान हैं। ईश्वर का ज्ञान मनुष्य को सभी बन्धनों से मुक्त करता है। मंदिरों में प्रवेश पर उन दिनों सबके लिए रोक थी रामानन्दजी ने सबके लिए यह द्वार खुलवाया।

उनके द्वारा प्रवर्तित रामावत सम्प्रदाय में बहुत से लोक कल्याणकारी कार्य किए। इसके अन्तर्गत मठ एवं अखाड़े स्थापित हुए जिसमें दीक्षित वैरागियों ने भक्ति का प्रचार न केवल समूचे उत्तर भारत में किया अपितु दक्षिण भारत'में भी उसका प्रभाव बढ़ा। इन मठों एवं अखाड़ों में विभिन्न देवी-देवताओं के साथ-साथ सीताराम के मंदिर बनवाये गये। धर्म शालाओं एवं अतिथि शालाओं की स्थापना की गई। जिसके माध्यम से राम भक्ति के प्रचार-प्रसार में अभूतपूर्व सफलता मिली। 'उत्तरी भारत की संतपरम्परा में परशुराम चतुर्वेदी ने इस सम्प्रदाय में दीक्षित व्यक्तियों के लिए बड़ी महत्वपूर्ण टिप्पणी की है "इन सबके लिए मूल मंत्र केवल राम अथवा 'सीता राम' हैं। और इनके इष्ट देव भी रामचन्द्र हैं। जिन्होंने ब्रह्म की दशा में निर्गुण निराकार होते हुए भी भक्तों के लिए तथा विश्व का संकट दूर करने की इच्छा से नर देह धारण किया।

स्वामी रामानन्द के तपोनिष्ठ जीवन का प्रतिफल उनके जीवनकाल में ही मिल गया था। उनके शिष्यों ने मुक्तकंठ से उनकी प्रशंसा एवं कीर्तिगान किया। कबीर ने कहा-

आपन आस किए बहुतेरा, काहु न मरम पाव हरि केरा।
रामानन्द राम रस माते, कहहिं कबीर हम कहि-कहि थाके।।

नाभादासजी ने भक्तमाल में लिखा-

श्री रामानंद रघुनाथ ज्यों दुतिय सेतु जग तरन कियो।

इस प्रकार स्पष्ट है कि समाज सुधारक, विश्व बन्धुत्व, एवं मानवतावाद के सच्चे उद्घोषक ज.गु. रामानंद का प्रदेय भारतीय समाज के लिए अमूल्य है। उनकी चेतनता से भरी वाणियाँ आज भी मानव समाज को उद्बुद्ध करती रहती हैं।



भक्ति आन्दोलन नहीं, एक आध्यात्मिक प्रस्थान

आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी

पदार्थवादी चिन्तक प्राय: भक्ति-प्रवाह या भक्ति की अविरल, चिन्मयी धारा को एक भौतिक स्तर पर आन्दोलन समझकर उसे 'भक्ति आन्दोलन' संज्ञा दे देते हैं। वस्तुत: 'भक्ति' की परिकल्पना आत्मवादियों की है। अभिधा में उसका प्रयोग 'साधन' और 'सिद्धि' उभयपरक होता है। गोस्वामी तुलसीदास ने कहा है-

"साधनसिद्धि रामपग नेहू"

चिदाह्लादमय आराध्य के चरणों में नेह साधन भक्ति है- जो तदाकार अन्त:करण की वृत्ति है और सिद्धि के रूप में उसी की आह्लादिनी शक्ति की वृत्ति है। लाक्षणिक रूप में किसी के प्रति प्रगाढ़ लगाव या राग को भी भक्ति कह दिया जाता है। पर यह उसका मुख्य अर्थ नहीं है। पदार्थवादियों की चेतना पदार्थ का विकार है और समाज की सत्ता से नियंत्रित है। कोई उसे जड़ता में सङ्क्रान्त होती हुई शास्त्रीय चेतना के प्रति उदग्र लोक चेतना का विद्रोह कहता है तो कोई उसे विकारग्रस्त वर्णाश्रमवादी समाज के ढाँचें में पिसती हुई निम्न जातियों का द्विज वर्ग की विरोधी वृत्ति के रूप में देखता है- कोई उसे अस्पृश्यता के खिलाफ जेहाद बोलता है। फलत: अभीष्ट की प्राप्ति के खिलाफ एक आन्दोलन समझता है। अपने ढंग से अपनी सीमा में उसकी समझ ठीक या बेठीक हो सकती है- पर आत्मवादियों की दृष्टि में यह सर्वथा बेठीक ही है। कारण वैचारिक या दार्शनिक भूमि-भेद है। पदार्थवादियों के यहाँ 'भक्ति' संज्ञा आत्मवादियों के यहाँ से लाक्षणिक अर्थ में उधार ले ली गयी है। इसलिए आत्मवादियों के चैन्तनिक प्रसंग में 'भक्ति आन्दोलन' संज्ञा का प्रयारेग नितान्त और अतर्कसंगत है, अतर्कसंगत ही नहीं, एकदम आधारहीन है।

आत्मवादियों के चैन्तनिक प्रसंग में स्वामी मधुसूदन सरस्वती के अनुसार द्रवशील प्रकृति उपासकों की दृष्टि से 'ज्ञान' (स्वरूपबोध या तत्त्वबोध) से भी ऊपर पंचम पुरुषार्थ है। जो उपासक रूक्ष प्रकृति के हैं- उनका मार्ग तत्त्वबोध या तत्त्वात्म पर्यवसायी ज्ञान मार्ग है- श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन साधनात्मक उपासना का मार्ग उनके लिए विहित है। तदर्थ साधन चतुष्ट्य सम्पन्न होना आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। इस प्रक्रिया से स्वरूप या तत्व पर पड़ा हुआ आवरण का भंग होता

है- स्वरूप तो स्वयम् प्रकाश है। इन रूक्ष अन्त:करण वालों में वासना ही होती है - वह कहकर जो न्यायेन सोऽहमस्मि' - इव्याकारक अखण्ड वृत्ति से इतर अविद्या प्रसूतवृत्ति को ध्वस्त करती हुई अन्ततः स्वतः ईंधन की समाप्ति से स्वयम् भी शान्त हो जाती है।

द्रवशील (अन्त:करण की) प्रकृति वालों के यहाँ वासना का एक शुद्ध रागात्मक पक्ष भी है। वह स्वरूपवोध मात्र से तृप्त नहीं होता- स्वरूपबोध के बाद भी जो तैलधारवत् अविछिन्न ध्रुवास्मृति स्वरूपा भक्ति है- उससे वह बोध अनायास निवृत्त हो जाता है। गोस्वामीजी कहते हैं-

भगति करत बिनु जतन प्रयासा। संसृतिमूल अविद्या नासा।

जाठर अग्नि अशन को पचा देती है- तदर्थ भोक्ता को अलग से परिश्रम नहीं करना पड़ता। उद्धव, जो ज्ञान के प्रतीक हैं- अहंकारसिक्त होकर मूर्तिमती भक्तिस्वरूपा गोपियों को ज्ञान की बारह खड़ी पढ़ाने गये थे, पर उनके संपर्क में आने पर उन्हें लगा कि वे तो आचार्य पहले से ही हैं।

द्रवशील अन्त:करण वाले महर्षि शण्डिल्य, जो सात्त्वतों के पुरोहित थे- को स्वरूपबोध से तृप्ति नहीं मिली, शुद्ध वासना अपनी तृप्ति के लिए बेचैन थी। तदर्थ वे कर्म, ज्ञान एवं उपासना परक काण्डमय वाली श्रुतियों के पास गए- पर वहाँ भी उसके पल्लवित रूप की झलक नहीं मिली। चित्त की भावमय प्रकाश वाली भक्ति का, अह्लादिनी की माया, महामायोत्तरा वृत्ति का अनुसंधान नहीं मिला - तब वे आगमों विशेषकर पांचरात्र आगम - की ओर मुड़े। नैगमिक दर्शनों में भी न तो अह्लादिनी-वृत्ति का प्रसंग है और न ही चित्त के भावमय प्रकाश का। इस तरह की भावात्मिका वृत्ति का आलंकारिकों में विवेचन मिलता है। इसीलिए 'ब्रह्मसूत्र' की 'रत्नप्रभा' नाम की टीका में एक वाक्य मिलता है जिसे भाष्यकार आचार्य शंकर वेद निन्दापरक अर्थवाद घोषित करते हैं, पर आगमज्ञ भक्तिमार्गी भूतार्थवाद मानते हैं। पंक्ति है- 'चतुर्षुवेदेषु परं श्रेयोऽलब्ध्वेदंशास्त्रं (पांचरात्रागमशास्त्रं) अधिजगमशाण्डिल्यः' - अर्थात् वेद या श्रुतियों में जब उन्हें पंचम पुरुषार्थ स्वरूप तृप्तिदायिका भक्ति का सम्यक रूप नहीं मिला- तब वे पांचरात्र आगम की ओर मुड़े। नारद का भी झुकाव इसी तरफ है।

यह समझ अधूरी है कि भक्ति दक्षिण में ही उपजी, हाँ मध्यकालीन संतों या भक्तों का वह उपजीव्य अवश्य है। यही कारण है कि संत और भक्त कबीर दोनों बात कहते हैं-

"भगती द्राविड़ उपजी लाए रामानन्द"

और "भगति नारदी मगन सरीरा।"

श्रीमद्‌भागवत भी कहता है

उत्पन्ना द्राविड़े साऽहम्

पर उत्तरांचल के शण्डिल्य और नारद जैसों को नजरअन्दाज कैसे किया जा सकता है? एक बात और। आध्यात्मिक उपलब्धि के संदर्भ में द्रवशील उपासकों की खोज जारी रही- उन्हें मात्र स्वरूप बोध या तत्व ज्ञान से तृप्ति नहीं मिली। उन्हें अशुद्ध वासना की शान्ति के बाद शुद्ध वासना (शान्त, दास्य, सख्य, वात्सल्य एवं माधुर्य) की अतृप्ति व्यग्र कर रही है। गोस्वामीजी ने कहा है-

प्रेम भगति सरबिनु अन्हवाये। अभिअन्तरमल कबहुँ न जाये।।

निष्कर्ष यह कि गीताकार कहता है- इस क्षेत्र में पहले दो ही निष्ठाएँ थीं - ज्ञाननिष्ठा और कर्मनिष्ठा उन्होंने कहा है-

लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुराप्रोक्ता मयानघ

ज्ञान योगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम् ।

परन्तु यही आत्मवादी परम्परा श्रीमद्‌भागवत में कहती है-

योगास्त्रयो मयाप्रोक्ता नृणां श्रेयो विधित्सया

ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च, तथा सुक्तिर्नचान्यथा।

इससे स्पष्ट है कि अध्यात्म के क्षेत्र में पहले दो ही निष्ठाएँ व्यक्त थीं, बाद में खोजियों ने तीसरी निष्ठा पा ही ली। लोकमान्य तिलक ने 'गीतारहस्य' में भाष्यकार शंकर के प्रभाव में आकर कहा है कि निष्ठा तो द्विविध ही है- भक्ति की नितरां संस्थिति नहीं है। भक्ति वहाँ अंग है- शाण्डिल्य की धारा में वह अंगी है- पंचम पुरुषार्थ है।

इस प्रकार इस अंगी भक्ति संबंधी अध्यात्म के विभिन्न प्रस्थानों में सर्वोच्च स्थान प्राप्त है। यह प्रस्थान भक्ति को उपलब्धि रूप में प्राप्त कर तृप्त हो जाता है और अतृप्तों को वहाँ तक पहुँचाने की राह दिखाता है। इस प्रस्थान का नायक यदि अतृप्त है तो लोकमंगल या लोकाराधन की दृष्टि से, अन्यथा स्वयम् तृप्त है। 'आन्दोलन' का नायक अभीष्ट की अप्राप्ति से व्यग्र रहता है- तृप्त होने के लिए आन्दोलन करता है। भक्ति जैसे आध्यात्मिक प्रस्थान स्वरूप भक्ति का प्रवर्तक भी उस अभीष्ट की प्राप्ति न होने से अतृप्त रह सकता है- पर व्यक्तिगत। व्यक्तिगत स्तर पर अनुसंधान करता हुआ शाण्डिल्य की तरह जब स्वयम् तृप्त हो जाता है- तब इस प्रस्थान में शरीक होने वालों का नेतृत्व आचार्य के रूप में करता है। न तो वह उस स्वयम् के अभीष्ट की उपलब्धि के लिए आन्दोलन करता है और न ही वह आन्दोलन के नेता की तरह अपने पक्ष में लाने के लिए गिरोह बनाता है

और न ही अभीष्ट की प्राप्ति के लिए तोड़-फोड़ का तरीका अपनाता है। निष्कर्ष यह कि सर्वसम्मत आन्दोलन को आन्दोलन मानने के लिए जो शर्तें नेता अपनाया करता है- ये सब भक्ति प्रस्थान पर लागू नहीं होती- कारण वह इस लक्षण का अलक्ष्य है। आन्दोलन की शर्तें है-

१. उसका स्तर भौतिक उपलब्धि के लिए होता है

२. उसका नायक उस उपलब्धि से स्वयम् वंचित रहता है।

३. इसके नायक को उस अभीष्ट की उपलब्धि हो न हो, परअनुवर्तियो को भी अनिवार्य रूप से होती ही हो- यह आवश्यक नहीं। अथवा जो अनुवर्ती नहीं भी हों, उन्हें भी उसकी उपलब्धि हो जाती है। स्वतंत्रता आन्दोलन को ही लें, उसके प्रवर्तकों को वह जिस अभीष्ट रूप में अपेक्षित थी- उस रूप में गांधीजी को नहीं मिली, परन्तु योगलिप्सु अनुवर्तियों ने उतने को ही अभीष्ट मानकर अपना लिया। जिन अनुवर्ती वामपंथियों को विश्व भर के शोषितों की मुक्ति अपेक्षित थी, वह तो पूँजीवादी शक्तियों के बढ़ते प्रभुत्व के कारण नहीं प्रदीप्त हो सकी, पर जो मिली उसमें अपनी अंगुलियाँ ही नहीं डुबाई, उनके प्रभाव में आकर निजीकरण के रास्ते ही चल पड़े।

भक्ति के आध्यात्मिक प्रस्थान या निष्ठा में आन्दोलन के लक्षण सर्वथा अव्याप्त हैं- अत: इसे आंदोलन कत्तई नहीं कहा जा सकता। फिर पदार्थवादियों को भक्ति संज्ञा के अभिधेयार्थ से कुछ लेना-देना नहीं है।



श्रीरामानन्दसम्प्रदाय और गोस्वामी तुलसीदास

प्रो. जयकांत शर्मा

आधुनिक चिन्तकों की बुद्धि आजकल तुलसीदासजी के दार्शनिक सिद्धान्त के निर्णय में जुटी है, कुछ समीक्षक इनके कतिपय भावों एवं शब्दों के आधार पर इनके साहित्य को अद्वैतपरक मानते हैं तो कुछ विचारक इनकी परम्परा एवं वर्ण्य सामग्री के आधार पर भक्तिप्रधान रामानन्दीय विशिष्टाद्वैत के सर्वथा अनुकूल स्वीकार करते हैं। इस विवाद का तात्त्विक एवं निष्पक्ष दार्शनिक मूल्याङ्कन अपेक्षित है। यह कार्य मनीषा की सन्निष्ठता का शुभ सङ्केत तो है ही समालोचकों की परीक्षण दृष्टि के लिए एक कसौटी भी है। यद्यपि लोक में कहीं कहीं वस्तु परीक्षण के लिए स्थालीपुलाक न्याय से भी निर्वाह देखा जाता है किन्तु अनुबन्ध चतुष्टय का विचार कर किसी संकल्प विशेष की सिद्धि के लिए प्रणीत किसी महनीय ग्रन्थ के विचार-विलास, चिन्तनदृष्टि का निर्णय तो अन्त:प्रवेश सापेक्ष होता है अत: तदनुरूप सूक्ष्मेक्षिका अपेक्षित होती है, पल्लवग्राही बुद्धि के विनियोग को निर्धारक नहीं माना जा सकता। गहन प्रवेश एवं पर्याप्त विमर्श के अभाव में स्थापित धारणा से उस महात्मा के स्नेहाग्रह का अनादर ही नहीं, भागवतापराध होगा। मेधा की उद्दाम प्रवृत्ति ही तो बौद्धिक आतंक है मनोरोगाणु है जो प्रकारान्तरेण अन्धतामिसु का ही पर्याय है, इससे संवेदनापूर्ण तुलसी के कोमल व अनुभूतिस्निग्ध भावों की सुरक्षा करनी होगी ताकि उस महात्मा की झोली के अमोघ प्रसाद को प्रदूषित होने से बचाया जा सके। एतदर्थ अपेक्षित है कवितार्किक केसरी वेदान्त देशिक जैसी श्रद्धापूर्ण गहन दृष्टि जो एक साथ काव्यकला बोध एवं दार्शनिक ऊहापोह में समान रूप से अधिगम में अधिकृत हो।

नि:सन्देह तुलसी साहित्य अनेक विषमताओं में समन्वय की एक विराट् चेष्टा है जिसमें लोक-वेद, निर्गुण-सगुण, ज्ञान-भक्ति, शैव-वैष्णव इत्यादि परस्पर विद्ददवत् प्रतीत होने वाले विषयों का मञ्जुल एवं सर्वग्राह्य सामञ्जस्य स्थापित किया गया है, समन्वय की यह दृष्टि उन्हें कहाँ से मिली निश्चित ही किसी परम्परा का प्रसाद है? उस मूल के अन्वेषण के विना अनुसन्धान अधूरा ही रहेगा। किसकी प्रेरणा ने उनकी कविता में शास्त्रीय चैतन्य का आधान किया। किस मन्त्र ने उनके

मानस को अपने काव्यविषय के निर्धारण को उद्वेलित किया, किस अद्भुत महाव्यक्तित्व ने उनकी दृढ़ वैदिक मान्यताओं को अपनी परमोदार दृष्टि से नवनीत जैसा मसृण बनाया। किस आचार की पाठशाला में उन्हें वैराग्य एवं अनन्य श्रीराम प्रेम का उपदेश प्राप्त हुआ। किस उपासना पद्धति ने उन्हें काव्य रचना में ऐश्वर्य माधुर्य के सँभाल की सूझ दी तथा किस दार्शनिक सिद्धान्त ने उन्हें सगुण-निर्गुण के समन्वय की दृष्टि प्रदान की। तुलसी के अभ्यन्तर एवं बाह्य रूप को तरासनी वाली उस परम्परा की आचार्यपादुका को प्रणाम किये विना आगे बढ़ना अनुचित होगा। तुंलसी में तुलसीत्व का आधान करने वाली परम्परा का नाम है श्रीरामानन्द सम्प्रदाय। इसी तथ्य की सिद्धि इस निबन्ध का उपपाद्य है।

यह सर्व विदित है कि भाषा कृतियों में तुलसीदास की रचना को वह गौरव प्राप्त है कि वह केवल अपने वर्ण वस्तु वैभव, लोकाश्रित भाषा सौष्ठव, प्रकरणों के समुचित सन्निदेश, लालित्याधान, समन्वय की अन्तर्दृष्टि तथा जन सन्देश के कारण ही नहीं अपितु अकुण्ठ प्रमाणभूत वेदादि शास्त्रों की सम्मति तथा तत्त्वनिरूपण की दार्शनिक प्रेक्षा ने उसे प्रामाणिक शास्त्रों के समानान्तर में ला खड़ा किया है जिसके फलस्वरूप लोग आज भी सरल सुलभ मानकर बड़ी सहजता से उसमें आत्मकल्याण का उपाय पाते हैं तथा पूर्ण आश्वस्त होकर तदनुसार आचरण कर कृतकृत्यता का अनुभव करते हैं। तुलसी की दार्शनिक दृष्टि के परीक्षण की दिशा में बढ़ने से पहले उत्साह को चिन्ता का सघन अन्धकार तब घेर लेता है जब स्वयं में निर्धारणार्थ अपेक्षित कसौटी या मानदण्ड के स्वरूप का अपरिज्ञान की दुर्बलाता साथ हो। शास्त्रों के अनुसार भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा करणापाटव आदि मानवसुलभ दुर्बलायें पहले से ही है अत: बुद्धिजीवियों का इनके ऊपर उठना असंभव नहीं तो कठिन अवश्य है। फिर भी किसी व्यवस्थित क्रमवद्ध लिखे ग्रन्थ के प्रधान प्रतिपाद्य के अवधारण हेतु शास्त्रों में सुझाये गये कुछ महत्त्वपूर्ण विन्दुओं का आश्रय हमारे मार्ग का आलोक स्तम्भ बन सकता है। शास्त्रों में इन मान विन्दुओं के आधार पर शास्त्रों के परम तात्पर्य का प्रामाणिक निर्णय होता आया है, गीता जैसे महनीय ग्रन्थों का चरम अभिप्राय इसी के प्रकाश में निर्धारित हुआ, जो मनीषियों द्वारा युक्तियुक्त माना गया। परम तात्पर्य के विश्वमार्थ शास्त्रस्वीकृत छ: मान विन्दु हैं—

उपक्रमोपसंहारावभ्यासोऽपूर्वता फलम्।
अर्थवादोपपत्ती च लिङ्गं तात्पर्यनिर्णये।।

उपक्रमोपसंहार का तात्पर्य प्रकरण के आदि एवं अन्त में समान विषयता, अर्थवाद अर्थात् प्रशंसा, उपपत्ति अर्थात् अर्थ का अबाधित होना। इस पर गहनता

से दृष्टिपात करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि मानवीय मानस की प्रकृति का पर्याप्त अनुशीलिन कर ये मानदण्ड निर्धारित किये गये हैं। किन्तु स्वस्थ मूल्यांकन के लिए परीक्षण की दिशा सही हो तथा परीक्षण रागान्धता से मुक्त हो।

विवेचक को यह भी ध्यान में रखना होगा कि सिद्धान्तपक्ष के निरूपण के लिए खण्डन से पूर्व ईमानदारी से पूर्वपक्ष का उत्थापन ही नहीं उसका उपपादन भी अनिवार्य होता है, पौर्वापर्य परिशीलन के अभाव में चिन्तकों द्वारा गलत निर्धारण देखा जाता है, केवल उल्लेख मात्र से वह सिद्धान्त नहीं माना जाता है। तुलसीदास जी को अद्वैती तथा उनके काव्य को अद्वैतपरक मानने की भूल भी, लगता है, इसी शास्त्रीय प्रज्ञा, तथा समग्र समानता की दृष्टि दारिद्र्य का निदर्शन है। तुलसीदास को स्मार्त मानने युक्ति एवं प्रभाण दोनों के विरुद्ध हैं।

दार्शनिक चिन्तन पद्धति से नितान्त अनभिज्ञ उन लाल बुझक्ड़ों की बात, उनकी एकांगी दृष्टि का विपाक तो कहा जा सकता है किन्तु सर्वग्राही समग्रता में निर्णीत यथार्थ बोध नहीं कहा जा सकता। हिन्दी साहित्य के प्राचीन प्रतिष्ठित समालोचक की भ्रान्तसमालोचना भी हमारे सामने है जिन्हें तुलसी दर्शन के यथार्थ आकलन के पहले ही दार्शनिक अभिनिवेश की काई ने सोपान से पटक दिया। एततर्थ हमें उन्हीं पूर्वोक्त शास्त्रीय मामदण्ड को पाथेय बनाना उचित होगा जो हमारे पूर्वज महर्षियों के अनुभव एवं युक्तियों के आधार पर सत्यापित दायाद के रूप में प्राप्त हुआ है। उन निकषों पर संघर्ष से पूर्व प्रधान परीक्षणीय विषयों को समझना अनिवार्य है और वे हैं—क्या तुलसीदास अद्वैतवादी थे, क्या उनके चिन्तन का प्रधान आधार अद्वैतदर्शन था, क्या वे शाङ्कर परम्परा के अनुसार सगुणोपासना की अपेक्षा निर्गुणोपासना को श्रेष्ठ मानते थे, क्या वे शाङ्कर मत के अनुरूप जगत् को मिथ्या मानते थे, क्या वे अद्वैतियों के समान प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ज्ञान से ही मोक्ष स्वीकार करते थे, क्या वे अधिष्ठानप्रभा के अभाव में सगुणोपासकों की अविद्या निवृत्ति नहीं मानते थे, क्या वे व्यक्ति को साधन एवं अभेदज्ञान को साध्य मानते थे, अद्वैतियों के अनुरूप क्या वे निर्गुण ब्रह्म शुद्ध तथा ईश्वररूप राम मायोपहित चेतन हैं। क्या वे ब्रह्म एवं जीव का तात्त्विक ऐक्य स्वीकार करते थे, क्या वे तत्त्वस्यादि वाक्यों से जन्य ज्ञान से मोक्ष मानते थे? क्या वे निर्धर्मक शुद्ध चिन्मात्र संविद्रूप ब्रह्म को यथार्थ तत्त्व, तथा बाध्यमाया से उपहित चैतन्य ईश्वर को पारमार्थिक अवस्था में बाध्य मानते थे, क्या उनके अनुसार ईश्वररूप श्रीराम के शरीर की मायाकल्पित है जैसा कि शङ्कराचार्य मानते हैं, क्या वे जीव का बन्धमोक्ष अविद्याकल्पित मानते थे? क्या वे भक्ति को शङ्करानुरूप

स्वस्वरूपानुसन्धानरूप मानते थे। क्या वे परमात्मा के नाम रूप को मिथ्या मानते थे? अद्वैत मान्यता के समान ही उनके मत में भी ब्रह्म ही अज्ञान के कारण बेवकूफ़ बनकर संसार में भटकते हुए नाना दुःख भोग रहा है? क्या वे भगवद्भक्ति को साक्षात् मोक्ष का कारण नहीं मानते थे, क्या भक्ति का उपयोग केवल चित्त की एकाग्रता के लिए है? क्या आचार्य शङ्कर की तरह वे निर्गुण श्रुति से सगुण श्रुति का बाध मानते थे, अर्थात् इन दोनों में परस्पर विरोध मानते थे? क्या वे नेति नेति श्रुति के द्वारा ब्रह्मातिरिक्त सभी का निषेध मानते थे? क्या उनकी आचार्य शङ्कर की तरह पाञ्चरात्रादि आगम प्रतिपादित भागवत धर्म (वैष्णवता) में निष्ठा नहीं थी?

यदि तुलसीदास जी शाङ्करदर्शन सम्मत इन तथ्यों को यथावत् स्वीकार नहीं करते तो उन्हें अद्वैती कहना विवेचक के दार्शनिक अज्ञान को ही प्रमाणित करता है। यद्यपि तुलसीदास जी की रचना कोई दार्शनिक विषय के प्रतिपादन के लिए संकल्पित नहीं है जिससे उनके दार्शनिक सिद्धान्त का यथाक्रम नाम ग्रहण पूर्वक स्पष्ट उल्लेख हो, तथापि चरित वर्णन के क्रम में तत्तत्प्रसंगों के विभिन्न पात्रों के माध्यम से उन्होंने जिन दार्शनिक प्रमेयों को अभिव्यक्त कराये हैं उनसे उनके दार्शनिक चिन्तन का स्पष्ट आकलन होता है। यह ध्यातव्य है कि कर्मज्ञानोपासना नाम वाले तीन काण्ड जिस प्रकार वेद में हैं, वैसे मानस में भी भगवत्प्राप्ति के उपायभूत इन साधनों का संकेत है किन्तु सबका पर्यवासन भगवद्रति में ही हुआ है, 'कर्मप्रधान विश्वकरि राखा। जो जस करै सो तस फल चाखा। काहु न कोऊ सुख दुख कर दाता। निजकृत कर्म भोग सुनु भ्राता।' इत्यादि चौपाई में कर्मसिद्धान्त, तथा ज्ञान मोक्षप्रद वेद बखाना, बिनु विग्यान विसमता आवइ, इत्यादि चौपाईयों में ज्ञान प्रशंसा एवं भगति करत बिनु जतन प्रयासा, संस्सृति मूल अविद्यानासा, उत्पत्ति भगति सजीवन मूरी, राम भजे गति केहिनहि पाई इत्यादि में भक्तिसिद्धान्त प्रतिपादित हैं। इस दोहे में एक साथ सबके होने पर भी प्रधान भगवद् भक्ति ही है—

ब्रह्म निरूपण धर्मविधि बरनहि तत्त्व विभाग।

कहहिं भगति भगवन्त के संयुत ज्ञान विराग।।

कर्म-ज्ञान-भक्ति एवं प्रपत्ति की प्रधानता वाले मान के चारों घाटों में भक्तिप्रधान एवं प्रपत्ति प्रधान घाट पर काग भुसुण्डी तथा गोस्वामीजी स्वयं तत्त्व निरूपण करते हैं– मानस में मिथ्यावादी अभेदवादी इत्यादि शब्दों के प्रयोग से यह स्पष्ट है कि तुलसीदास अद्वैत सिद्धान्त से अभिज्ञ हैं, शिव पार्वती संवाद, लोमश काक संवाद में वर्णित तथ्योंसे यह निश्चय होता है कि उन्हें अद्वैत वेदान्त के प्रमुख

प्रमेय परिज्ञात था, अतः वही विवर्तवाद वाले उदाहरण विमर्श के क्रम मेंसंस्कार वशात् उपस्थित हो गये, कभी भी सिद्धान्तवुद्धि से साध्य मानकर उनके निरूपण का प्रवल आग्रह परिलक्षित नहीं होता, जबकि सेवक सेव्य भाव से भक्ति वाले का आग्रह जो उनका निज सिद्धान्त है का पदे पदे निरूपण करके भी उन्हें तृप्ति नहीं होती। तेई अभेदवादी ज्ञानी नर तथा कहहिं परस्पर मिथ्यावादी कहकर वे उनको अपने पक्ष से अलग करके बताते हैं– उनके सिद्धान्त का उपपादन कर या तो अरुचि दिखायी है अथवा स्पष्ट खण्डन कर दिया है। "सोऽहमस्मि" इति वृत्ति अखण्डा कहकर तथा उस बात को अद्वैत मत बताकर भक्ति चिन्तामणि के अपेक्षा उसका अपकर्ष सिद्ध कर दिया है– अपने को ब्रह्म कहना तो दूर, ब्रह्म के समान मानने को भी वे अपराध समझते हैं– 'प्रभु की समता बड़ दोष लहोंगों।' अभेद का चिन्तन भी उनके वैष्णवीय संस्कार में नहीं है, अपने विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार वैष्णवोचित आत्मकार्पण्य के साथ वे बार-बार यही कहते हैं– *किमि समझौं मैं जीव जड़।* उन्हें किसी भी अवस्था में जीव को ब्रह्म मानना या उनकी एकता स्वीकारना पसंद नहीं अतः वे दोनों में महान् अन्तर बताते हुए कहते हैं– जीव कि ईश समान? तुलसीदास भेदवादी वैष्णव भक्त हैं वे अनेकों स्थान पर जीव एवं ईश्वर के तात्त्विक भेद तथा पारस्परिक सम्बन्धों की चर्चा करते हैं– *ईश्वर अंस जीव अविनासी।* में अंश-अंशी भाव सम्बन्ध, मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत तथा साहिब सीतानाथ सों सेवक तुलसीदास, इत्यादि में सेवक स्थायी भाव, सम्बन्ध सिद्ध किया है, इसके अतिरिक्त विनय पत्रिका के– *तू दयाल दीन हौं तू दानि हौं भिखारी* वाले पद्य में अनेक सम्बन्ध गिनाते हुए लिखा है– *तोहे मोहे नाते अनेक मानिये जो भावे।* उमा दास जोषित की *नाईं सबहि नचावत रामु गोसाईं* कथन सेजीव एवं ईश्वर के बीच विशिष्टा द्वैत सम्मत नियाम्य नियामक भाव सम्बन्ध प्रमाणित किया है। तुलसीदास के अनुसार भले ही अन्य अभिमान त्याज्य माने जाते हों किन्तु वैष्णवों को यह अभिमान कभी नहीं छोड़ना चाहिए कि 'मैं सेवक रघुपति पति मोरे।' इस सेवक-सेव्य भाव के बिना अवतरण संभव नहीं। तुलसी के मत में जीव ईश्वर के भेद ज्ञान से ही चरण रति के साथ शोक मोह भ्रम का नाश होता है– *ईश्वरजीव भेदप्रति सकल कहहु समुझाइ, जाते होइ चरणरति शोक मोह भ्रम जाय।* जैसा हो सुपर्या श्रुति में जीव ईश्वर दोनों की मैत्री तथा साथ रहना बताया गया वैसे दोनों को पृथक् सत्ता तथा साथ रहना गोस्वामी जी भी बताते हैं– *जीव ब्रह्म इव सहज संघाती।* जीव की अनेकता, ब्रह्म की एकता, जीव की परवशता, परमात्मा की स्वतंत्रता का निरूपण विशिष्टाद्वैत के सर्वथा अनुरूप है–

परवश जीव स्ववश भगवंता। जीव अनेक एक श्रीकन्ता।। मानस में भगवान का ज्ञान नित्य तथा अचितसंसर्गावस्था में जीव का ज्ञान संकोच विकास वाला बताया गया है

जो सबके रह ग्यान एक रस ईश्वर जीवहु भेद कहहु कस ।।

विशिष्टाद्वैत के सर्वथा अनुकूल नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतानां श्रुति की व्याख्या करते हुए लिखा है–

'प्राण प्राण के जीव के जिव सुख के सुख राम' इस वाक्य से भगवान् का जीवात्माओं का आत्मा होना तथा। विषय करन सुरजीव समेता।। सकल एक ते एक सचेता, *सबकर परम प्रकाशक जोई। राम अनादि अवध पति सोई।।* के द्वारा जीव का भी नियमन करने वाला बताया गया है।

यहाँ यह भी स्मरणीय है कि गोस्वामी जी मिथ्यावादी शंकराचार्य के मत पर कटाक्षपूर्वक जगत् को मिथ्या कहने वाले को 'सठ' गँवार आदि शब्दों से फटकारते हुए कहा है कि बुभुक्षा आदि विपत्ति के काल में क्या वे भोजन को भी मिथ्या मानते हैं–

झूठो है झूठो है झूठो सदा जग सन्त कहन्त जे अंत लहा है
ताके सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करन्त हहा है
ज्ञानपनी को गुमान बड़ो तुलसी के विचार गँवार महा है
जानकी जीवन जानन जान्यो जानिकहावत जान कहा है?

(कवितावली)

आश्चर्य है, तुलसीदास के एक-एक वाक्य से टपकने वाली वैष्णवता, भक्तिनिष्ठा को कोई कैसे नकार सकता है। किन्तु विशेष बात यह है कि विशिष्टाद्वैत के आचार्यों ने जिस अद्वैतमत को सिरे से नकार दिया उसे गोस्वामी जी ने अपनी संत सुलभ उदारता के कारण उल्लेख कर अनेक दुष्करता, नीरसता आदि दोष बताकर उसकी अनुपयुक्तता एवं अनुपादेयता सिद्ध कर दी। क्योंकि सन्निष्ठ की किसी प्रकार की साधना का कुछ न कुछ तो फल होता ही है अत: गोस्वामी जी अभेदोपासना के विषय-उपमा एवं फल की अनुत्कृष्टता बताकर भक्ति के विषय साधन एवं फल को सभी दृष्टि से उत्कृष्टता बतायी है। यहाँ यह स्मरणीय है कि गीता के बारहवें अध्याय में भी अक्षरोपासना तथा ईश्वरोपासना को पृथक् दिखाकर अक्षरोपासना को अधिक क्लेशप्रद कहा है।

तुलसीदास जी के अनुसार शुद्ध ब्रह्म एवं ईश्वर में कोई अन्तर नहीं, अत:

उसे किसी माया या ज्ञान से उपहित मानकर शुद्ध ब्रह्म की अपेक्षा हीन नहीं माना जा सकता है, उपहित होने से बाध्यता है और न हीनता। वह हेय प्राकृत गुणों से रहित होने से उनमें न तो निर्गुण तथा समस्त कल्याण गुणों से मुक्त होने से सगुण है। उनकी दृष्टि में इसी प्रकार निर्गुण सगुण श्रुतियाँ भी उस एक ब्रह्म को विषय बनाकर अविरुद्ध भाव से समन्वित होती हैं। अत: उन्होंने 'सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा'' कह कर दाशरथि राम एवं शुद्ध ब्रह्म में अभेद सिद्ध करते हुए सम्पूर्ण मानस में 'जौं नृपतनयत ब्रह्मकिमि'' वाले उस प्रश्न का समाधान किया है जो उस समय के प्राय: सभी भाषा चिन्तकों के लिए अनसुलझी गांठ सा बना हुआ था। निर्गुण साधक 'तुलसी की ऊपर ऊपर की "विनु पग चले सुनै बिनु काना" वाली पंक्ति दुहराते हैं किन्तु वे भूल जाते है कि तत्काल बाद में वे उस निर्गुण तत्त्व को ही श्रीराम इसकी निरन्तरता में निरूपित करते हैं–

जेहि इमि गावहि वेद बुध जाहि धरहि मुनि ध्यान सोई दशरथ सुत...

तुलसी का यह 'सोई' शब्द पूर्ण एकता बताते हुए किसी परिवर्तन या उपाधि को नकार रहा है। वेद प्रतिपाद्य तथा मुनिजनों के ध्येय राम से दशरथ नन्दन राम अभिन्नता या भिन्नता सम्बन्धी पार्वती की जिज्ञासा पर शिव की नाराजगी की भी मूल भावना वही है, जब दो धर्म अविरुद्धभाव से साथ रह सकते हों तो वहाँ वस्तु भेद की कल्पना अनुचित है, इसे वे स्वयं कहते हैं–

एक बात नहि मोहिं सुहानी। यदपि मोह बस कहेऊ भवानी।।

तुम्ह जो कहा राम कोऊ आना। जेहिं मुनि गाव धरहि मुनि ध्याना।।

इसलिए निर्गुण सगुन का दोनों शब्दों से निर्दिष्ट करते उसकी एकता की दृष्टान्त उपपादन से जो गुन रहित सगुन सोइ कैसे। जलु हिम उपलु विलग नहि जैसे।। एक दासगत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म विवेकू ।।

अत: वे सर्वत्र श्रीराम को एक साथ **निर्गुण एवं सगुन** दोनों शब्दों से निर्दिष्ट करते हैं, कहीं से भी विरोध की प्रतीति नही होती–

निर्गुन-सगुन विषय सम रूपम् । ज्ञानगिरागोतीतमनूपम् (३-११)

जय राम रूप अनूप निर्गुण सगुन गुनप्रेरक सही (३-३२)

योगिन्द्रं ज्ञानगम्यं गुणनिधिमजितं निर्गुणं निर्विकारम् (६-१)

अगुन सगुन गुनमंदिर सुन्दर (६-११५)

जय सगुननिर्गुन रूप रूप अनूप भूप शिरोमने (७-१३)

जय निर्गुन जय जय गुनसागर (मानस-७-३४)

यह दावे के साथ कहा जा सकता है कि समन्वय की यह दार्शनिक दृष्टि अद्वैत मतमें न पहले थी, न अब तक विकसित हो पायी है, तुलसीदास को यह समझ अपनी वैष्णव परम्परा तथा रामानन्दीय दर्शन से मिली है– श्रीरामानन्द स्वामी ने अपने आनन्दभाष्य के जन्माधधिकरण में स्पष्ट लिखा है– तस्मात्प्राकृतगुणाकारयोरसत्त्वेन निर्गुणत्वं निराकारत्वं दिव्यस्वासाधारणगुणाकारतत्त्वेन च सगुणत्वं साकारत्त्वं चैकस्यैव ब्रह्मण उपपन्नतरमिति न कश्चिद्विरोधः (१-१-२)

शांकर मत में ईश्वर को मायोपहित चेतन माने जाने से उसके शरीर को सच्चिदानन्द मय तथा ईश्वर को शुद्ध ब्रह्म नहीं माना जा सकता क्योंकि वे चिद्रूप शुद्धि ब्रह्म में क्रिया नहीं मानते किन्तु तुलसीदास अपने विशिष्टाद्वैत सिद्धांत के अनुसार ईश्वर के जन्म कर्म को मायामय मानते हैं। वे श्रीराम के दिव्य विग्रह को सच्चिदानन्दमय तथा उनके सगुण रूप को मायातीत शुद्ध सच्चिदानन्दमय ब्रह्म तथा संकल्पशक्ति (स्वेच्छा) से अवतार लेना स्वीकार करते हैं–

चिदानन्दमय देह तुम्हारी। विगत विकारजान अधिकारी (२-१२५)

शुद्ध सच्चिदानंदमय कंद भानुकुलभानु (२-८७)

मायारहित मुकंद। (१-१८६)

मायागुण ज्ञानातीत अमाना वेदपुरान अनंता (१-१९२)

निज इच्छा निर्मित तनु माया गुनगोपार (१-१८६)

उल्टे उन्होंने निर्गुणियों के निर्गुण ब्रह्म को ही मायाच्छन्न कह कर उपहास किया है–

मायाच्छन्न न देखिये जैसे निर्गुण ब्रह्म *(३-३९)*

तुलसादीस ने तो निर्गुण रूप को सुलभ तथा सगुण तत्त्व को ही दुर्विज्ञेय कहा है–

निर्गुन रूप सुलभ अति सगुण जान नहि कोइ।

सुगम आगम नाना चरित सुनि मुनि मन भ्रम होई।। *(७-७३)*

यदि दुलसी अद्वैती होते तो भेद ज्ञान का निरसन कर सगुन से निगुर्ण की ओर जाने की बात न करके निर्गुण की अपेक्षा सगुण के प्रति अपना आग्रह क्यों कर दिखाते। निगुर्ण की चर्चा तो उन्हें खीर में नमक के समान प्रतीत होती है, निर्गुण तत्त्व को जानकर भी उन्होंने सगुणोपासना की कामना की है–

जदपि विरज व्यापक अविनासी-सबके हृदय निरन्तर वासी

तदपि अनुज श्री सहित खरारी वसतु मनसि मम कानन चारी।। *(३-११)*

जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता अनुभव गम्य भजहिं जेहि संता ।।

असतव रूप बखानऊ जानेऊ फिरि फिरि सगुन ब्रहमरति मानउ।। *(३-१३)*

मम हिय वसहुं निरन्तर सगुणरूप श्रीराम *(३-८)*

कोऊ ब्रह्म निर्गुन ध्यान-अव्यक्त जेहि श्रुति गाव

मोहि भाव कोसल भूप श्रीराम सगुन सरूप *(६-११३)*

जे ब्रह्म आगमद्वैत अनुभवगम्य मनपर ध्यावही

ते कहहुँ जानहुँ नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं *(७-१३)*

निर्गुण मत नहि मोहि सोहाई सगुन ब्रह्मरति उर अधिकाई *(७-१०)*

निर्गुन मत मम हृदय न आवा *(७-११४)*

तब मैं निर्गुन मत कर दूरी सगुन निरूपउ करि हठ मूरी ।।

तुलसीदास ने साफ शब्दों में कहा है कि ऐसे सगुण रूप की उपासना छोड़कर जो निर्गुण तत्त्व के ज्ञान हेतु प्रयास करता है वह कामधेनु को छोड़कर दूध के लिए आक को ढूँढने जैसी मूर्खता कर रहा है–

जे असिभगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान होतु श्रम करहीं।।

ते सठ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आक फिरहि पय लागी।। ७-११५

तुलसीदास यदि अद्वैती होते तो अभेद ज्ञान हेतु श्रम करने वालों के लिए इतनी भव्य भावना नहीं होती उनके अनुसार भक्ति भी एक प्रकार का ज्ञान है किन्तु भेदमूलक उपासनात्मक ज्ञान को छोड़कर अभेद वासना के नाश से उत्पन्न नीरस अभेद हेतु प्रयास अच्छा नहीं। इसलिए उन्होंने साधनजन्य निर्गुणज्ञान को दीप तथा रामभक्ति को चिन्तामणि कहकर भक्ति को उत्कृष्ट बताया।

एहि विधि लेसै दीप तेजरासि विज्ञानमय

सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखण्डा। दीप शिखा सोह परम प्रचण्डा।।

राम भगति चिन्तामणि सुंदर। बसइ गरुड़' जाके उर अन्तर ।।

परम प्रकाश रूप दिन राती। नहि कछु चहहि दियाघृत बाती।।

(७-११७/७-१२०)

भक्ति की अपेक्षा ज्ञान साधन की कठिनता का निरूपण करते हुए भक्तिरहित ज्ञानी को भी भवप्रीति से वंचित रहना बताया है– करत कष्ट बहु पावइ कोऊ भक्ति हीन मोहि प्रिय नहि सोऊ।। (७-४५) तुलसीदास ने अनेक स्थानों पर ब्रह्मज्ञानी की अपेक्षा अनन्य भक्त को श्रेष्ठ बताया है। भक्ति की उपेक्षा से श्रेष्ठ ज्ञानियों का

भी पतन एवं भक्ति रहित ज्ञान का अशोभनीय होना लिखा है। यहाँ तक कि रामप्रेम रहित सान को अज्ञान कह दिया–

जोगु कुजोग ग्यान अग्यानू। जँह नहि राम प्रेम परधानू ॥

यहाँ ध्यातव्य है कि अद्वैत मत में उपासना का प्रयोजन चित्त की एकाग्रता या अन्तःकरण की शुद्धिमात्र है, भेद वासना के नाशके बाद उसकी कोई उपयोगिता नहीं अतः साधन है। किन्तु तुलसी के मत में भक्ति फल रूप परम साध्य है अतः ज्ञानप्राप्ति के बाद भी इसका परित्याग नहीं है।

यह विचारि पंडित मोहि भजहीं। पाएहुँ ग्यान भगति नहि तजहीं।। *(३-४३)*

यहाँ ज्ञानपूर्णिका भक्ति है, विमल ज्ञान जल से स्नान के बाद परमप्रीति में प्रवेश होता है–

विमल ग्यान जल जब सो नहाई । तब रह राम भगति उर छाई।।

(७-१२२)

यदि तुलसी अद्वैती होते तो ज्ञानरूपी फल का रस हरिपदरति को कभी न बताते।

समयम नियम फूल फल ग्याना। हरिपद रतिरस वेद बखाना।। (१-३७) वे ज्ञान को साधन तथा भगवद्भक्ति भगवत्प्रीति को साध्य मानकर उसी में अपने मानसका पर्यवासन करते हैं न कि अभेद ज्ञान में।

पाई केहि गति पतित पावन राम भजि सुनुसठ मना

कामिहि नारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमिदाम

तिमि रघुनाथ निरन्तर प्रिय लागहु मोहि राम।।

अन्त के दोहों में वे अद्वैतियों के ज्ञान की चर्चा करना भी पसंद नहीं करते।

तुलसीदास जी ने रामप्रेम के सामने अनुपम ब्रह्मसुख को भी कुछ महत्त्व नहीं देते, यदि वे अद्वैती होते तो सगुण ब्रह्म के दर्शन के बाद स्वरूपानन्द ब्रह्मानंद आत्मानुभव के लिए ऐसे भाव व्यक्त करते, जैसे भाव उनके इन शब्दों से व्यक्त हो रहे हैं–

इन्हहि विलोकत अति अुरागा । बरबस ब्रह्म सुखहि मन त्यागा।। -१-२१६

सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहुँ लहेऊ

तेनहि गनहि खगेस ब्रह्मसुखहि सज्जन सुमति । -७-८८

कई चिन्तकों को ऐसा भ्रम है कि भेदवादी सगुण उपासकों को मोक्ष नहीं

होता– भेद भक्ति के कारण दशरथ को मोक्ष नहीं मिला, वस्तुस्थिति इससे भिन्न है वे बार बार जल लेकर गुनगान के लोभ से मोक्ष को स्वयंस्वीकार नहीं करते– *दीयमानं न गृह्णन्ति* (भाग) तुलसीदास जी ने भी सगुनउपासक मोक्ष न लेंहीं'' मेंनलेंही शब्द रखा है क्योंकि वे 'मुक्ति निरादर भगति लुभाने' हैं– वे स्वयं लिखते है–

सगुन उपासक संत तँह रहहिं मोक्ष सब त्यागि (४-२६)

तुलसीदास ने अपने वैष्णवपूर्वाचार्य के अनुसार भक्तिरूप कैंकर्य को विलक्षण मोक्ष माना है तथा सायुज्य को ही प्रधान मोक्ष स्वीकार किया है, *'सो सायुज्य मुक्तिनर पावहि'*– (६-३)

यहाँ यह भी ध्यातव्य है कि अद्वैतमत में सगुण ब्रह्मोपासकों को अधिष्ठान प्रभा के अभाव में उपासना द्वारा अविद्या की निवृत्ति नहीं, ईश्वरानुग्रह से अभेदज्ञान प्रकट होने पर भेदवासना को नाश के अनन्तर अविद्या एवं तत्कार्य की निवृत्ति मानी गई है, भक्ति में साक्षात् मोक्षजनकता नहीं है। मोक्ष तो तत्त्वमस्यादि वाक्यों के श्रव्य, मनन, निधिध्यासन से भेद वासना नाश पूर्वक ज्ञान से ही मान्य है। किन्तु तुलसीदास जी को यह कथमपि मान्य नहीं वे तो ज्ञान को साधन तथा भक्ति को साध्य मानते हैं तथा भक्ति से अविद्यानिमित्ति में किसी भवान्तर व्यापार को स्वीकार नहींकरते– इसलिए वे मोक्ष में भक्ति को स्वतंत्र बताते है– *भक्ति स्वतंत्र सकल सुख खानी*– इसके अतिरिक्त निर्वाण पद हेतु किसी अन्य साधन को स्पष्ट नकारते ही नहीं, अपितु भक्ति की उपेक्षा करने वाले ज्ञानी को विना पूंछ सींघ वाला पशु बताते हैं–

रामचतन्द्र के भजन बिनु जो चह पद निर्वाण ।
ज्ञानवंत अपि सो नर पशु बिनु पूंछ विषाण।। *(७-७८)*

वे स्पष्ट रूप में भक्ति को कामनाशक, वासना नाशक, भवभय नाशक संसृतिमूल अविद्या का निवर्तक, अज्ञान निवर्तक बताते है–

राम भजन विनु शियइ कि कामा ७-९०
उर लघुप्रथम वासना रही प्रभुपद प्रीति सरित सो वही ५-४९
विनु हरि भजन न भवभय नासा-७-९०
प्रवल अविद्या तम मिटि जाई। हरहिं सकल समुदाई ।।७-७२०
भगति करत विनु जतन प्रयासा। संसृतिमूल अविद्या नासा ।। ७-११९
तव तो मोहि न व्यापी माया । जव ते रघुनायक अपनाया ।। ७-८९
सुमिरत जाहि मिटै अज्ञाना। सोई सर्वज्ञ राम भगवाना ।। १-५३

हरिभक्ति पथ को श्रुति सम्मत मानते हुए श्रुति का चरम प्रतिपाद्य परमार्थ भक्ति को बताने वाले तुलसीदास को अद्वैती कहना कितनी बड़ी मूर्खता है यदि वे अद्वैती होते तो उपनिषद् वाक्यों का चरम तात्पर्य प्रत्यक्ष चैतन्यचित्र ज्ञान को बताते, जैसा कि अद्वैत परम्परा में ग्रन्थों मेंप्रतिपादित है– किन्तु वे तो कहते हैं कि जँह लगि साधन वेद बखानी सबकरल फल हरि भगति बखानी ।। ७-१२७

उनके अनुसार रामचरणानुरागी ही वास्तव में वेद के सिद्धान्त को अच्छी तरह जानता है, श्रुति का फलार्थ रामभक्ति है—

रामचरण जाकर मन राता
नीति निपुण-सोई पर सयाना, श्रुति सिद्धान्त नीक तेहि जाना।। (७१२७)

मानस के अन्तिम में उन्होंने अत्यन्त दृढ़ता के साथ अपना भक्तिपरक अकाट्य मत स्थापित करते हुए कहा है कि—दुनिया के सारे असंभव संभव हो सकते हैं पर भक्ति विना मोक्ष नहीं हो सकता—

वारि मथे घृत होई वरु सिकता ते वरु तेल।
बिनु हरि भजन न भव तरिय यह सिद्धान्त अपेल।।
विनिश्चितं वदामि ते न अन्यथा वचांसि मे।
हरिं नरा भजन्ति तेऽतिदुस्तरं तरन्ति ते।। *(७-१२२)*

उन्होंने डंके की चोट पर इस तथ्य का उद्घाटन किया भले ही कोई कितना भी बड़ा ज्ञानी विज्ञानी धर्मनिष्ठ तपस्वी हो किन्तु जब तक उसके स्वामी श्रीराम की सेवा न करेगा तब तक उसका उद्धार नहीं होगा—

साधन सिद्ध विमुक्त उदासी, कवि कोविद कृतज्ञ सन्यासी।
जोगी सूर सुतापस ग्यानी धर्मनिरत पण्डित विज्ञानी।
तरहि न विनु सेये मम स्वामी, राम नमामि नमामि नमामी।।
(७-१२४)

भक्ति की उत्पत्ति में जो क्रम तुलसी ने स्थापित किया वह वैष्णवाचार्य के ही अनुकूल है, वे ज्ञान से भक्ति की उत्पत्ति मानते है—यहाँ भी—

जाने विनु न होई परतीति, विनु परतीति होई नहीं प्रीति।
प्रीति विना नहि भगति दृढाई, जिमि खगेस जल की चिकनाई।।

यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि रामानन्दाचार्य उपासनात्मक ज्ञान से मोक्ष, तथा शंकराचार्य तत्त्वमस्यादि महावाक्यजन ज्ञान से मोक्ष मानते हैं—'अस्यां श्रुतौ

विद्या-शब्देन ध्यानोपारुनादिशब्दवाचं वेदनमेवाच्यते न तु वाक्यजनभाषातज्ञानम् (आनन्द भाष्यम्-जिज्ञासाधिकरण)। तुलसी दास जी ने भी विनयपत्रिका में वाक्यजन्य ज्ञान से मोक्ष का उपहासपूर्वक खण्डन किया है। यदि वे अद्वैती होते तो, इस प्रकार अद्वैत की इस दार्शनिक मान्यता के खण्डन में रुचि न दिखाते—

अस कछु समुझि परत रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु दासहित मोह न छूटै माया।
वाक्यज्ञान अत्यन्त निपुण भव पार न पावै कोई।
जिमि गृह मध्य दीप की वातन्ह तम निवृत्त नहि होई।
जैसे कोई इन दीन द्रवित अति असनहीन दुख पावै।
चित्र कल्पतरु कामधेनु गृह लिखै न विपत्ति नसावै।।

विशिष्टाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार भक्ति प्रपत्ति से प्रसन्न भगवान् मोक्ष प्रदान करते हैं, उस सत्यसंकल्प निग्रह संकल्प से वन्धन तथा निग्रह संकल्प से बन्धन होता है। तुलसीदासजी अपने वैष्णवमत के अनुसार ही ईश्वर को बधमोक्षप्रद कहते हैं। विनय पत्रिका में भी—'जो बाँधै सो छोड़े' कहकर इसी भाव की पुष्टि करते हैं। अद्वैत मत का वेचारा ईश्वर माया की उपाधि से बाहर आ जाये, यही बहुत है। तुलसीदास के ब्रह्म राम को माया छू नहीं सकती। जैसे सूर्य को अन्धकार—

राम सच्चिदानन्द दिनेसा, नहि तँह मोह निसा लवलेसा।
सहज प्रकासरूप भगवाना, नहि तह पुनि विग्यान विहाना।। *(१-११७)*

सीता जी के लिए प्रयुक्त मायाशब्द अभिन्नस्वरूपा शक्ति का वाचक है कोश में माया शब्द की कृपा वाचकता, तथा निघण्टु में ज्ञानवाचकता प्रसिद्ध है। उनके मत में भगवान् के नाम, रूप गुण मिथ्या नहीं हैं इसलिए वे उसे अबाधी कहते हैं, जिसका अर्थ है—अबाध्य। रामनाम को भी *कलिमलप्रध्वसनं चाव्ययं* शब्द से कहकर अव्यय अर्थात् नित्य बताया।

बहुत कमलोग जानते हैं कि अद्वैतमत के विशेषज्ञ विद्वान् भगवान् के नाम रूप एवं चरित को तात्त्विक दृष्टि से अबाध्य नहीं मानते, परमार्थिक सत्ता में अध्यस्त होने से अविद्याकल्पित उनके यहाँ रामचरित की पारपार्थिक सत्ता नहीं है, आहार्यबुद्धि से इसका आश्रयण करते हैं, जो कालान्तर में बाध्य होगा ऐसे विषय में उनकी निष्ठा की शाश्वत शुद्धि ही सन्दिग्ध है, इस तथ्य को उजागर करता है—करपात्री जी द्वारा रचित राघ्यसुधा नामक ग्रन्थ की भूमिका का वह अंश जिसमें स्वामी अखण्डानन्द करपात्री जी के पारस्परिक संवाद का उल्लेख है जिसमें

कथाप्रवचनादि को परमत के अनुकूल माना है। किन्तु रामकथा तो तुलसी का सर्वस्व है, वे तीनों काल में इसकी बाध्यता की कल्पना भी नहीं कर सकते।

तुलसी की माया अद्वैतियों के समान अनिर्वचनीय न होकर विचित्र सृष्टि उत्पत्ति में समर्थ शक्ति है जो अपने विषय में भोग्य बुद्धि को उत्पन्न करती है, अतः बार-बार इसे इन्द्रजाल से उपमित करते हैं सो नर इन्द्रजाल नहीं भूला। जापर होय सो नट अनुकूला।। तैलाधारावत् अविच्छिन्न भगवत् स्मृति सन्तान रूप उपासना से उसकी निवृत्ति वतायी है। सतत स्मरण से चित्र की उस प्रत्यक्ष समानाकार वृत्ति की चर्चा तुलसी करते है जो विशिष्टद्वैत दर्शन में मान्य है। मारीत तथा राम से भी कुछ ऐसी दशा हो गयी थी—

भइ मम कीट भृंग की नाई। जँह तँह मैं देखऊ दोऊ भाई।।

रामाकार भये तिनके मन। मुक्ति भये छूटे भवबन्धन।। (६-११४)

रामकृपा से देवमाया के सन्तरण का निरूपण वैष्णवों के ही अनुकूल है जिसे तुलसी अनेकः अंकित करते हैं

नाथ जीव तव माया मोहा। सो निस्तरय तुम्हारेहिं छोहा।। (४-३)

अतिशय प्रबल देव तव माना। छूटइ राम करहु जो दाया।। (४-२१)

यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि शंकराचार्य, शांकर भाष्य ने उत्पत्त्यसंभवाधिकरण में पाञ्चरात्र आगम के पूर्ण प्रामाण्य पर अपनी अनास्था व्यक्त करते हैं जबकि सात्वतमत-भागवतधर्म जिसके वक्ता भगवान् हैं तुलसीदास ने भगवान् के मुख से *मम धर्म* शब्द से उसी को उत्पन्न आदर पूर्वक निर्दिष्ट किया है-

एहिकर फल पुनि विषय विरागा। तब मम धर्म उपज अनुरागा।। (३/१७)

कहि निज धर्म ताहि समुझावा। निज पद प्रीति देखि मन भावा।। (३-३४)

भागवत धर्म का अनुष्ठान ही वैष्णवता है, जिसके आचार संहिता हैं पाञ्चरात्र आदि आगम ये सब छान्दोग्योपनिषद् वर्णित एकायन शाखा पर आश्रित होने से वैदिक हैं जिसका विवरण यामुनाचार्य के 'आगम प्रामाण्य' नामक ग्रन्थ में है। तुलसीदास जी भागवत धर्म के अनुरूप वैष्णवता में जीने वाले साधक हैं इसीलिए अपनी परम्परा के अनुसार ही उन्होंने अपनी निष्ठा को व्यक्त करने हेतु भगवान् के मुख से इसका संकेत करवाया है।

स्वतन्त्र भक्ति के अधीनस्थ ज्ञान को मोक्षप्रद बताते हुए भगवान् ने लक्ष्मण गीता में, परम भक्ति की उत्पत्ति का जो क्रम बताया है वह वैष्णव मत के ही अनुकूल है।

अद्वैत मत के अनुसार जब, ब्रह्मातिरिक्त कुछ है ही नहीं, किन्तु यहाँ तो पर ब्रह्म ही अज्ञान के कारण बेवकूफ बनकर भटक रहा है, ऐसी मान्यता वाले दर्शन को तुलसीदास जैसे रसिक वैष्णव कत्तई पसन्द नहीं करते, यदि जीव ब्रह्म परस्पर एक ही हैं, तो ब्रह्म की यह दुर्दशा किसने की? स्वयं प्रकाश को अज्ञानी किसने बनाया? इस बेवकूफी का अधिष्ठान कौन है? अस्तु, तुलसी अपने राम के विषय में स्पष्ट कहते हैं—जगत् प्रकाश्य प्रकाशक रामू। "एकमेवाद्वितीयम्" श्रुति का विशिष्टाद्वैतपरक व्याख्यान करते हुए गोस्वामी जी कहते हैं—

निरुपम न उपमा आन राम समान राम निगम कहे।।

ज्ञातव्य है—गोस्वामी जी यहाँ अद्वैतियों की तरह ब्रह्मातिरिक्त सत्ता का निषेध नहीं करते हैं अपितु तत्मादृश का निषेध करते हैं, अद्वितीय राजा कहने से उसके पुत्र पत्नी प्रजा परिजन का निषेध नहीं होता, तत्तुस्य राज्य का ही निषेध होता है। अद्वितीय शब्द से अतिरिक्त एक शब्द श्रीराम जी का मौलिक रूप दूसरा नहीं है। यह कहा गया है। गोस्वामी जी ने स्वयं कहा है—रामरूप दूसर नहीं देखा।

उपलब्ध अद्वैत सिद्धान्त की चर्चा वस्तुत: खण्डन करने के लिए पूर्वपक्ष के रूप में उपस्थापित हुए हैं, उसी क्रम में कुछ विवर्तवाद में प्रसिद्ध शांकर सिद्धान्त के पोषक उदाहरण जैसे रज्जुसर्प-स्वप्न-द्विचन्ददर्शन आदि भ्रम के स्वरूप को समझाने के लिए ही हैं जिसके माध्यम से उन्होंने रामजी के ऊपर जीवत्व मनुष्यत्वादि के भ्रम का खण्डन किया है—इसलिये स्पष्ट कहते है कि *उमा रामविषयक अस मोहा* तथा *प्रभुपर मोह धरहिं जड़ प्राणी*, हरि विषयक अरु मोह विहंगा इत्यादि। जहाँ तक *"जासु सत्यता जड़ माया-भास सत्य इव मोह सहाया* का प्रश्न है, ऐसे स्थलों पर वैष्णवाचार्यों ने भी वस्तु में विषयव्यवहार का बाध होने से भ्रमत्व तो माना ही है, यह और बात है कि उसका ज्ञान तो सत्य ही है। उत्तरकाण्ड के दोहा नं-७३ में तो नामोल्लेखपूर्वक बता दिया कि यह हमारा मत नहीं है—*कहहिं परस्पर मिथ्यावादी*। परमत का निरूपण तो उसके सिद्धान्त के अनुरूप ही किया जायेगा। मायान्तु प्रकृति विद्यात्। इस श्रुति के अनुसार सत्यजगत् की अथित्परिणाम विशेष रूप होकर परिवर्तन शीलिता के कारण अनित्यता तथा स्वयं प्रकाश न होने से जड़ता तो वैष्णवों को भी मान्य है। जानत तुम्हहि तुम्हहि होई जाईं का भी तात्पर्य यह है कि अचित्संसर्ग मुक्त जीव अपहतपारमत्वादि गुणाष्टक से युक्त हो परम साम्य को प्राप्त होता है—किन्तु यह भी स्मरणीय है कि साम्य भी तो भेद घटित ही होता है। सोऽहमस्मि इति वृत्ति अखंडा इत्यादि तो अद्वैत सम्मत ज्ञानप्रकार के निर्देशार्थ है, जिसे खण्डनार्थ उपस्थितकर उसकी कठिनता,

विघ्नप्रचुरता, तथा अन्त में अयुक्तता सिद्ध कर खण्डन कर दिया है। तुलसीदास ने कहीं भी स्वरूपानुसन्धान को भक्ति नहीं माना है किन्तु शांकर परम्परा में भक्ति का लक्षण यही है। 'जीव पाव निज सहज स्वरूपा' का तात्पर्य अपनी शेषता को पहचान कर तत्प्रीत्यर्थ कैंकर्य करना है। जब ग्रन्थकार स्वयं प्रतिपाद्य के विषय की भ्रान्ति को दूर करते हुए लिखते हैं—जेहि मह आदि मध्य अवसाना। प्रभु प्रतिपाद्य राम भगवाना।। तो इस विषय में सन्देह की सम्भावना नहीं रह जाती किन्तु जब ग्रन्थकार के दार्शनिक मत का निर्धारण करना हो तो पूर्वोक्त छः लिङ्गों का आश्रय लेना होगा।

१. उपक्रमोपसंहार—यह दो होकर भी एक ही लिङ्ग माना जाता है। जिसके द्वारा आरम्भ एवं अवसान के विषयों में साम्य होना आवश्यक होता है—यत्पादप्लव एक एवहि भवाम्भोधेस्तितीर्षावानाम्। वन्देहं तम शेष कारणपरं रामाख्यमीशं हरिम् से उपक्रम कर कामिहिनारि पियारि जिमि लोभिहि प्रिय जिमिदाभ, तिमि रघुनाथ निरंतर प्रियलागहुं मोहि राम से उपसंहार करके ये बताया कि राम। जी हाँ मुमुक्षुओं के उपास्य तथा अशेषकारण पर अर्थात् ब्रह्म हैं अतः कामी एवं लोभी के दृष्टान्त द्वारा उनकी निरन्तर स्मरणीयता विहित की गई। इस प्रकार अजस्रस्मरण रूप राम भक्ति में ही इस ग्रन्थ का तात्पर्य है—स्मार्त शंकराचार्य भक्ति निरन्तर स्मरण रूप न होकर स्वरूपानुसन्धानरूप होने से उसमें तात्पर्य नहीं माना जा सकता। वैसे भी मानस के काव्यरूप सरयू का प्रवाह राम भक्ति सुरसरि में जाकर पर्यवसन्न हो रहा है, तुलसी ने स्वयं लिखा है—रामभगति सुरसरितहि जाई। मिली सुकीरति सरजु सुहाई।। (१-४०)

२. अभ्यास-ग्रन्थभर में जिसकी विषय की बार-बार आवृत्ति हुई हो, अथवा जिसके महत्त्व का ही निरूपण हो भक्ति की सर्वोत्कृष्ट महत्ता सर्वत्र वर्णित है जैसे रामभगति जँह सुरसरिधारा (१-६) हरिपदरति रसवेद बखाना (१-३७) कहहि भगतभगवँत के (१-४४) जल जल रतिरामपद यह वरदान न आन (२-२०४) सोह न रामप्रेम विनु ज्ञान (२-२७७) रामदि भझहि त चतुरनर (३-६) पाएहुं ज्ञान भगति नहि तजहि (३-४३) लीन्हेसि परमभगति वर मांगी (४-११) कोऊ एक पाव भगति जिमि मोरी (४-१६) भक्तिं प्रयच्छ रघुपुंगव निर्भरामे (५-२) रघुपति चरण भगति सोइ पावा (५-३४) तव भक्ति बिना भव इलि परे (६-१११) दे भक्ति रमानिवास (६-११३) अबप सिन्धु अगाध परे तर ते पद पंकज प्रेमन जे करते (७-१४) भक्ति स्वतंत्र सकल सुखरदानी (७-४५)

३. अपूर्वता– इसका तात्पर्य यह है कि जिसके समान फल प्राप्ति अन्य

प्रकार से न हो सके, शास्त्रों में इसे विषय की अज्ञान का बोधक माना है। जैसे– भाववस्य भगवान् (७-९२) भगति करत विनुजतन प्रयासा। संसृतिमूल अविद्या नासा (७-११९) रामे भजनु बिनु मिटहिं कि कामा (७-९०) रामभजें गति केहि नहि पाई (७-१३०)

४. फल– अनेक प्रकार से जिसके फल का प्रतिपादन हो अथवा प्रयोजन का निर्देश फल है– सब कर माँगहि एक फल रामचरण रति होऊ (२-१२९) सकल सुकृत कर बरफल एहू। राम सीयपद सहज सनेहू ॥ (२-७५) सबकर फल हरि भगति सुहाई (७-१२०) सब कर फल रघुपति पद प्रेमा (७-९५)

५. अर्थवाद– प्रशंसा, महत्ता का प्रतिपादन। साईन केहि गति पतित पावन राम भजि सुनुसठमना (७-१३०) कर्म परायण सोइ कुल त्राता। रामचरण जाकर मनराता (७-१२७) अस विचारि हरि भगत सयाने मुक्ति निरादर भगति लुभाने।। (७-११९) लाग कि किछु हरि भगति समाना (७-११२)

६. उपपत्ति– विपक्ष मत का खंडन करके स्वसिद्धान्त का मंडन करना उपपत्ति है। भक्ति की उपपत्ति लोमश भुशुंडि संवाद में देखी जा सकती है, वहाँलोमश ने *तत्त्वमसि, सोऽहमस्मि* इत्यादि वाक्यों द्वारा विपक्षमत अद्वैत मत की स्थापना की किन्तु काकभुसुण्डि द्वारा सगुन मत का अद्वैत प्रत्याख्यान पूर्वक विवेचन करना उपपादन ही है। अद्वैत के विवेचक लोमश के क्रुद्ध होने पर अद्वैत के फल से विपरीत लक्षण के देखने से लोमश स्वयं निगृहीत हो गये। इस प्रकार ज्ञान दीपक प्रकरण का निरूपण करने पर भक्तिमणि के विवेचन से ज्ञान की अपेक्षा भक्ति की श्रेष्ठता का उपपादन किया गया।

इन छहों लिङ्गों के आधार पर मानस का तात्पर्य भगवद्भक्ति में सिद्ध होता हैं साथ ही स्मार्त सम्मत केवलाद्वैतवाद अनुपपन्न हुआ। इन्हीं लिङ्गों के आधार पर इस मान्यता का भी खण्डन होगया जिसमें मानसकार का स्मार्त होना कहा जाता है।

समालोचक जन तुलसी की समन्वय दक्षता की तो भूरि-भूरि प्रशंसा करते हैं किन्तु उन्हें समन्वय की यह दृष्टिकिस परम्परा से प्राप्त हुई, इसका आकलन नहींकर पाते। यह दृष्टि उनको उस उदार रामानन्दीय आचार्य परम्परा से प्राप्त हुई जिसका उदार उद्घोष उनसे पूर्व भगवान् रामानन्दाचार्य ने इन शब्दोंमें किया था– जाति पांति पूछे नहि कोई– हरि को भजे सो हरि का होई। इस दिव्य उद्घोष को ही कालांतर में परिणतकर तुलसी ने अपने आराध्य के मुख शबरी के समक्ष व्यक्त कराया है–

कह रघुपति सुनु भामिनि बाता। मानउ एक भगति कर नाता।।
जाति पाति कुल धरम बड़ाई। धनबल परिजन गुन चतुराई।।
भगतिहीन नर सोहइ कैसा। बिनु जल बारिद देखिऊ जैसा।।

लेकिन यहाँ यह भी स्मरणीय है कि समन्वय का नाम लीपापोती नहीं है इतने सकलांगपूर्ण ग्रन्थ का कोई निज सिद्धान्त होना ही चाहिए, जिसमें सभी विषयों का पर्यवसान होता हो, भले ही अलग-अलग प्रसंगों में कर्म ज्ञान वैराग्य तप की महिमा बताई गई हो किन्तु चरम प्रतिपाद्य तो कोई एक ही होता है और वह रामानन्द वेदान्त सम्मत भक्तिप्रपत्ति सिद्धान्त।

तुलसी का समग्र साहित्य रामानन्द सम्प्रदाय की उपासना भावना एवं मान्यता की ही व्याख्या करता है जो उपासना के साथ-साथ अपने सामुदायिक दायित्व का भी निर्वाह है। भगवान् रामानन्द ने जैसे श्रीरामभक्ति परम्परा की मूलपीठ अयोध्या में न बनाकर श्रीमठ काशी में स्थापित कर अपनी वैष्णवपरम्परा की उदारता व्यक्त की तदनुसार अपने सम्प्रदायाचार्य के पद चिह्नों का अवलम्बन कर गोस्वामी जी ने भी शैव-वैष्णव में फैली विषमता में समन्वय की चेष्टा की। आधुनिक चिन्तकों ने उनके समुदाय की भावना तथा उदार दृष्टिकोण के अनुरूप किये गये अनुसरण को न देखकर उन्हें स्मार्त समझने की बड़ी भूल की है। लगता है उनको वैष्णव न मानकर स्मार्त मानने वालों के लिए उन्होंने पहले से ही यह वाक्य लिख रखा था– *लोचन सहस न सूझ सुमेरू।*

तुलसीदास जी के मूल स्वरूप, संस्कार, जीवन, आचार विचार तथा उनकी परम्परा को भूलकर जब उत्प्रेक्षा के बल पर उनकी व्याख्या होगी तो भटकने के अतिरिक्त कुछ हाथ नहीं लगेगा। गुरु नाम का स्पष्ट उल्लेख शास्त्र से निषिद्ध होने के कारण, थोड़ी आनुपूर्वी भंग कर बताया है कि रामानन्द सम्प्रदाय के परम रामानन्द महात्मा श्री नरहरिदास उनके दीक्षा गुरु है। वन्दौं गुरु पद कंज कृपा सिन्धु नर रूप हरि, जिनसे उन्होंने वैष्णवीयपंच संस्कार के साथ रामायण रहस्य तथा दार्शनिक अर्थपंचक प्राप्त किया है, निश्चय ही उन्हें रामानन्द दर्शन के अनुरूप दार्शनिक सिद्धान्त भी बताया गया होगा जिसके अनुरूप उन्होंने अपने साहित्य को भक्तिप्रधान बनाया। वे रामानन्दाचार्य की चौथी पीढ़ी (अर्थात् भगवान् रामानन्दाचार्य अनन्तानन्दाचार्य नरहर्यादास, तुलसीदास में आते हैं। उनके विरक्त सुलभ भाव का दर्शन उनके *वैराग्य सन्दीपनी* नामक ग्रन्थ से प्रकाशित होता है। उनका नाम ही उनके वैष्णव होने का प्रयास है क्योंकि दासान्त नाम केवल वैष्णव परम्परा में ही दीक्षा के समय एक संस्कार के रूप में दिया जाता है, आज भी रामानन्दसमुदाय

के विरक्त साधु महात्मा रामदास रघुवीर दास इस प्रकार के नाम से ही जाने जाते हैं। अद्वैत मत के दसनाम संन्यास में कहीं भी ऐसा नाम नहीं मिलता, यह उनके भाव के अनुरूप भी नहीं है– सेवक सेव्य भाव का तो वैष्णव मत में ही आदर है– गोस्वामीजी ने स्वयं भी इसका समर्थन किया है। इसलिए भी उनके काव्य के नायक रामजी हैं उनके सम्प्रदाय के ध्येय ज्ञेय प्राप्य भगवान् श्रीराम हैं उनके परत्व में उनकी अविचल निष्ठा उनके रामानन्दीय होने को पुष्ट करती है।

पञ्चदेवोपासक स्मार्त्तों में पाँचो देवों को समान ईश्वरत्व प्राप्त है, जबकि तुलसी की दृष्टि में श्रीराम सबसे विलक्षण तथा अनुपमेय हैं, ब्रह्मा विष्णु भी उनके यथार्थ रूप को नहीं जानते, ये सब उनके चरण कमल की सेवा करते हैं, उनके अनुसार श्रीराम कोटि विष्णु, कोटि रुद्र एवं अमित कोटि दुर्गा के समान है ऐसा कहने का साहस कोई परम्परावादी स्मार्त नहीं कर सकता। स्मार्तों में तो अभी भी यही भावना है कि श्रीराम श्रीविष्णु के अवतार हैं किन्तु तुलसी तो श्रीराम के अंश से अनन्त विष्णु ब्रह्मा शिव की उत्पत्ति मानते हैं, जैसा कि वे स्वयं लिखते हैं– उपजहिं जासु अंश ते नाना। शंभु विरंचि विष्णु भगवाना।। कोटि विष्णु सम पालन कर्ता आदि। यदि तुलसी रामानन्दीय वैष्णव न होते तो श्री सीताजी के सामने लक्ष्मी पार्वती व सरस्वती तथा श्रीरामचंद्र के सामने ब्रह्मा शिव एवं विष्णु को अपकृष्ट कर निरूपण नहीं करते। ऐसा वर्णन उनकी समुदाय सम्मत इष्टस्वरूप की स्थापना के लिए प्राप्तसंस्कारानुरूप चेष्टा है, किसी काव्यात्मक चमत्कार के लिए नहीं।

इस तथ्य को अत्यन्त दावे के साथ कहा जा सकता है कि वे वैष्णव थे तथा श्रीरामानन्दीय वैष्णव ही थे। यदि वे स्मार्त या रामानुजीय आदि परम्परा के वैष्णव होते तो राम विवाह वर्णन के क्रम में श्री लक्ष्मीनारायण को बरात बनाकर प्रस्तुत नहीं करते है, इतना ही दूलहरूप श्रीरामचन्द्र को देखकर उनकी मुग्धता का वर्णन करना कोई स्मार्त सोच नहीं सकता है, अपने परमाराध्य श्रीरामजी के परात्परत्व की ऐसी भावना केवल रामानन्दीय वैष्णवों में ही उपलब्ध होती है, ऐसी अमान्यता का चिन्तन इस सम्प्रदाय के भाव के सर्वथा अनुरूप ही है। गोस्वामी जी के रामानन्दीय भावना से पूर्णत: सिक्त होने का प्रमाण उनकी नाम निष्ठा है, आज भी उस समुदाय के साधुओं के टकसाल में रामनाम को आहार बताया जाता है, यह नाम निष्ठा तुलसी की रचना के बाद फैली है ऐसी बात नहीं, उनसे पूर्व भी वैष्णवाचार्य गुरु के द्वारा साधुओं को रामनाम को जीवनधार के रूप मेंबताकर जपने का आदेश दिया जाता था। रामनाम जप की विशेष साधना इस सम्प्रदाय की अनितर साधारण विशेषता है, नाम जप द्वारा अनेक सिद्ध सन्त इस परम्परा में

हुए हैं, आज भी हजारों साधक लाखों नाम नित्य जपते है। स्वयं करपात्री जी अयोध्या आकर किसी लाखपति (लाख रामनाम का नित्य जापक) वैरागी के दर्शन की अभिलाषा व्यक्त करते थे। गोस्वामीजी ने अपने सम्प्रदाय के साधुओं की जीवन पद्धति का दिग्दर्शन कराते हुए लिखा है–

मज्जहि सज्जन वृन्द बहु पावन सरयू नीर ॥
जपरि राम धरि ध्यान उर सुन्दर श्याम शरीर ॥

आज भी रामानन्द सम्प्रदाय के मंदिरों में धनुष वाण के चिह्न अंकित दीखते हैं, यह परम्परा अर्वाचीन नहीं है, तुलसीदास जी के पहले से इस प्रकार के साम्प्रदायिक चिह्न अंकित होते आये हैं– रामजी के आयुधों का अंकन रामानन्दियों की खास पहचान है– इसी भावना से भावित होकर उन्होंने विभीषण के घर को भी 'रामायुध अंकित गृह-शोभा वरनि न जाय' शब्द से कहा। रामानन्द समुदाय में धनुष बाण की छाप (ताप संस्कार) का पंचसंस्कारों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस प्रकार का वर्णन उनके रामानन्द समुदाय के साथ अन्तरङ्ग परिचय को सूचित करता है। तारक षडक्षर राम मन्त्र को मन्त्रराज कहने की परम्परा इसी सम्प्रदाय में है। स्मार्तों में उपास्य देवों की अनेकता के कारण मन्त्रों की भरमार है, राम मन्त्र को मन्त्र राज समझने की सोच भी नहीं है। जिस प्रकार मन्त्रराज शब्द के प्रयोग मात्र से विशेष मन्त्र को सूचित करना तथा राममन्त्र की दीक्षा का अनेकशः स्मरण भी इस तथ्य को प्रमाणित करता है कि श्री गोस्वामी उसी सम्प्रदाय में दीक्षित वैष्णव थे, जिसके श्रीराममन्त्र की परम्परा चली आ रही हो। उन्होंने स्वयं लिखा है– *मन्त्रराजनित जपहिं तुम्हारा। मन्त्र जाप मम दृढ़ विश्वासा। हरषित राममन्त्र तब दीन्हा* इत्यादि। गोस्वामी जी ने जिस रामचरित का प्रणयन किया, वह उनकी स्वयं की उत्प्रेक्षा नहीं थी, निश्चित ही किसी रामपरायण महात्मा से उन्होंने रामकथा सुनी, उस समय की श्रीराम भक्ति परम्परा से सम्बद्ध उस महात्मा को गुरु बताकर उन्होंने अपनी परम्परा की स्पष्ट सूचना दे दी है– सीताराम भक्ति परम्परा के रामानन्दीय वैष्णव नरहरिदास जी के ही शिष्य हैं। *जदपि कही गुरु बारहि बारा* शब्द ग्रामीण कथावाचक का व्यवर्तन करता है तथा उनके साधुसुलभ कल्याणभावना को प्रमाणित करता वैसा कोई विरक्त साधु ही हो सकता है। यह उस महात्मा तुलसीदास की विरक्त सुलभ साधुता ही थी कि मधुसूदन सरस्वती जैसे अद्वैती के सम्पर्क या आग्रह से उनकी कथाधारा के प्रवाह में विवर्तवाद के कुछ प्रसिद्ध उदाहरणों का संस्कारवशात उल्लेख कर दिया गया किन्तु शास्त्र का पर्यवसान ही अधिक विचारणीय होता है। करपात्री जी आदि ने भी समन्वय के नाम पर उस महात्मा के

निष्कपट शब्दों से अपने सिद्धान्त की एकवाक्यता दिखाने की चेष्टा की है किन्तु एक दृष्टि से यह रामानन्द सम्प्रदाय के गौरव की ही बात हुई कि पूर्वाचार्यों से ऊर्जा प्राप्त कर इस सम्प्रदाय के एक विलक्षण प्रतिभा सम्पन्न विरक्त महात्मा ने ऐसे प्रबन्ध की रचना की जिसका वैशिष्ट्य चिन्तन शुचिता, भाव व्यापकता, साधना क्रम तथा विषयंसमृद्धि इतनी स्पृहणीय हो गई कि इन्हें अपना मानकर उन्हें अपनी दार्शनिक दुर्बलता की ग्लानि से मुक्ति मिलती है। प्रायः सभी सम्प्रदाय एवं मान्यताओं के उपदेशक मानस की पंक्ति बोलकर अपने शास्त्रीयज्ञान के अभावबोध से निजाद पाते हैं, प्रतिपाद्य के निरूपण में सौकर्य का अनुभव करते हैं, रामानन्दीय दिव्य सन्देश का ही प्रकारान्तरेण वितरण करते हैं क्योंकि उच्चारणमात्र से जनमानस पर प्रभाव डालने वाली तुलसी की साधनासिद्ध तथा ओजस्विनी पंक्ति न केवल प्रतिपाद्य को दृढ़ शास्त्रीय आधार प्रदान करती है; अपितु वक्तव्य में जीवन्तता का सञ्चार भी करती है।

यद्यपि उपर्युक्त उपपत्तियों के अतिरिक्त भी अनेक युक्तियाँ हैं जो श्रीगोस्वामी तुलसीदास जी का रामाननन्दीय परम्परा का वैष्णव होना तथा उनकी रचना का भक्तिवादी विशिष्टाद्वैत भाव का चिन्तन सिद्ध करने में समर्थ हैं। कतिपय शब्दों के आधार पर तुलसीदास को स्मार्त कहना वैसा ही होगा जैसे कतिपय समानताओं के आधार पर शङ्कराचार्य को बौद्ध कहना।



स्वामीरामानंद और तुलसीदास

डॉ० कन्हैया सिंह/ डॉ० विभा सिंह

स्वामीश्रीरामानन्द भारत के अत्यन्त प्रभावशाली आचार्य थे। उनके पंथ को श्रीरामानन्दसम्प्रदाय कहा गया है। काशी के पंचगंगा घाट पर उनका श्रीमठ है जो इस परम्परा का प्रमुख पीठ है। इसी घाट पर कबीर को स्वामी जी द्वारा राममंत्र मिलने की कथा प्रचलित है। वैसे तो स्वामिपाद के अलौकिक प्रभाव को व्यक्त करने वाली बहुत सी कथाएँ जनश्रुति में हैं, पर लोक साक्ष्य के आधार पर भी उनके व्यापक प्रभाव का अनुसंधान किया जा सकता है।

तुलसीदास नरहरि के शिष्य माने जाते हैं। ये नरहरि स्वामी रामानन्द की शिष्य परम्परा वाले हैं या कोई अन्य; इस पर विवाद है। पर सम्भावना तो ज.गु. रामानन्द की परम्परा वाले नरहरि दास की ही है। इस सम्वन्ध में बाबू शिवनन्दन सहाय और नलिन विलोचन शर्मा का कथन है:

'स्वामी रामानन्द के मुख्य बारह शिष्यों में से एक हरियानन्द उन्हीं को किसी ने नरहरि दास, किसी ने नरहरि आचारी एवं किसी ने नरहरि स्वामी लिखा है। गोस्वामी तुलसीदास के गुरु वे नरहरिदास हो सकते हैं जो श्री १०८ रामानन्द जी के चेले श्री अनंतानन्दजी के मंत्र शिष्य तथा उन्हीं के दूसरे चेले सुरसुरानन्द जी के साधक चेले थे। अर्थात् जो १०८ स्वामी रामानन्द के पोते चेले, श्री अनंतानन्द के चेले, एवं श्री सुरसुरानन्द के भजीते तथा साधक चेले थे।...किसी किसी के मत से बाराह क्षेत्र निवासी श्री गोपालदास के चेले नरहरिदास गोसाईं जी के गुरु थे, किन्तु यह बात ठीक नहीं प्रतीत होती।..श्री स्वामी नाथ जी कृत मूल "भक्तमाल" में दोनों नरहरिदास का वर्णन आता है। अतएव यदि नरहरिदास महात्मा गोस्वामी जी के गुरु थे तो वे श्री रामानन्द स्वामी के पोते शिष्य नरहरिदास थे। अन्य कोई नरहरिदास नहीं।

हिन्दी के आलोचकों ने साधारणत: गोस्वामी तुलसीदास को रामानुज स्वामी के श्री सम्प्रदाय का अनुगत बताया है और उन्हें विशिष्टाद्वैतवादी या विशिष्टाद्वैत के सर्वाधिक निकट माना है। वस्तुत: यह निष्कर्ष रामानन्द के रामावत सम्प्रदाय और उसकी मान्यताओं के अज्ञान के कारण ही निकाला गया है। इसमें संदेह नहीं

कि अद्वैतवाद के विषय में आदि शंकराचार्य के प्रतिपादन को भक्तिपरक बनाने के लिए जिन चार भक्ति के आचार्यों का प्रमुख योगदान माना जाता है, वे हैं रामनुजाचार्य, विष्णु स्वामी, मध्वाचार्य और निम्बार्काचार्य। 'भक्तमाल' का उल्लेख है :

रामानुज उदार सुधा निधि अवनि कल्पतरु।
विष्णु स्वामी वोहित्य सिन्धु-संसार पार करु।।
मध्वाचारज मेघ भक्ति-सर ऊसर भरिया।
निम्बादित्य आदित्य कुहर अजान जु हरिया।।
जन्म करम भागवत धरम सम्प्रदाय थापी अघट।
चौबीस प्रथम हरि वपु धरे, चतुर्व्यूह कलयुग प्रकट।।

रामानन्द के रामावत सम्प्रदाय में उपर्युक्त छप्पय में 'रामानुज' के स्थान पर 'रामानन्द' पाठ माना जाता है। पर उसका कोई कारण मुझे प्रतीत नहीं होता। रामानुज का दक्षिण के चार प्रमुख आचार्यों के साथ, उल्लेख के पश्चात् 'भक्तमाल' में आगे चलकर स्वामी रामानंद का भी आदरपूर्वक उल्लेख है :

देवाचारज दुनिय महामहिमा हरियानंद।
तस्य राघवानन्द भये भक्तन को मानद।
पृथ्वी पत्रावलंब करी कासी अस्थाई।
चारि बरन आश्रम तब ही की भक्ति दृढ़ाई।।
जिनके रामानन्द प्रकट विश्वमंगल जिन्ह बंधु धर्‌यो।।
श्री रामानुज पद्धति प्रताप अवनि अमृत ह्वै अनुसर्‌यो।।

(भक्त० ३४)

यहाँ भी अन्तिम पंक्ति में 'रामानुज' के स्थान पर 'रामानंद' का पाठ-भेद माना जाता है। वृन्दावनधाम से निकले 'भक्तमाल' (प्रकाशक श्री वियोगी निश्तेश्वर निम्बार्काचार्य पीठ, परशुरामपुरी, सलेमाबाद, राजस्थान) में इस छप्पय की पाठ-टिप्पणी में विद्वान संपादक ने लिखा है : "इस छप्पय की अन्तिम तुक में प्राप्त 'श्री रामानुज' शब्द को कुछ विद्वान् 'रामानूक' का अपभ्रंश बतलाते हैं और कई एक रामानंदीय विद्वान् यहाँ 'रामानंद' पाठ भी मानते हैं, किन्तु रूप कला जी ने 'रामानुज' ऐसा पाठ ही माना है और १७७० तक की हस्तलिखित प्रतियों में भी पाठ मिलता है।" इसी क्रम में छप्पय २८ की टिप्पणी में उन्होंने लिखा है : "यद्यपि चतुष्सम्प्रदायान्तर्गत श्री सम्प्रदाय के संवर्द्धकों में कालक्रमानुसार श्री

रामानुज का नाम पहलें आया है, किन्तु उनका प्रचार क्षेत्र दक्षिण ही रहा है, अत:, सम्भवत:, उत्तर भारत के समष्टि चतुस्सम्प्रदाय में श्री रामानंद का नाम ही रहा हो। श्री घालवाल जी ने सं० १८०९ में रचित अपने भक्तमाल में चार संप्रदाय उसके बावन द्वारों का उल्लेख इस प्रकार किया है :

रामानंद धिन राम, कृष्ण जीवानंद राजै।
विष्णु, सांम नारद माधवा बुधा निराजै।।
चक्रव्यूह सिनकादि निमि जिव तारण अवतार हैं।
बानी चार प्रकार मुख अनुभव एक प्रपार है।

सम्भव है उत्तर भारत में संगठित चतुस्सम्प्रदाय में रामानंद सम्प्रदाय ही ग्रहीत हुआ हो, किन्तु रामानुज सम्प्रदाय भी सर्वथा पृथक नहीं रहा, उसका प्रतिनिधित्व श्री रामानन्द सम्प्रदाय ने ही किया होगा।'' उपर्युक्त उद्धरण को 'सर्वेश्वर भक्तमाल २३२' के सन्दर्भ में श्री वैष्णव भगवानदास ने अपने ग्रंथ 'रामानन्द दर्शन: समीक्षा' के पृष्ठ २७-२८ पर उद्धृत किया है।

साधारणत: विद्वान् यह मानते हैं कि स्वामी रामानंद ने उत्तरी भारत में रामानुज के श्री सम्प्रदाय का और उनके विशिष्टाद्वैत का प्रचार-प्रसार किया। पर रामानंद ने लक्ष्मी जी के स्थान पर श्री जानकी जी और विष्णु के स्थान पर श्रीराम को प्रतिष्ठित किया। उन्होंने राम को ही परब्रह्म माना और उसकी ही सर्वोपरि सत्ता को प्रतिष्ठित किया। उनके मत को भी रामानंदी सम्प्रदाय में विशिष्टाद्वैत न मानकर अद्वैत और विशिष्टाद्वैत के बीच का माना है। इस प्रकार स्वामी रामानंद का सम्प्रदाय उत्तरी भारत में विशिष्ट स्वरूप लेकर प्रकट हुआ और उसने राम भक्ति की सगुण-निर्गुण दोनों ही क्षेत्रों में अद्‌भुत प्रतिष्ठा की। अपने युग को स्वामी जी ने पूर्णत: प्रभावित किया और उनके काल के तथा परवर्ती काल के कई महत्वपूर्ण सन्त और भक्त कवि उनके दर्शन और भक्ति सिद्धान्त से प्रभावित हुए।

गोस्वामी तुलसीदास रामानंद स्वामी के कितने निकट थे, इसकी पड़ताल दो दृष्टियों से अपेक्षित है : वहिर्साक्ष्य और अन्तर्साक्ष्य। वहिर्साक्ष्य के दृष्टि से वैष्णव पंथ के साम्प्रदायिक ग्रन्थों के उल्लेख और अन्तर्साक्ष्य के अन्तर्गत तुलसीदास के स्वकथनों का विचार होगा। वल्लभ सम्प्रदाय में 'चौरासी वैष्णवन की वार्ता' और 'दो सौ बावन वैष्णव की वार्ता' का बहुत महत्व है। यद्यपि ये वार्ताएँ बहुत अतिशयोक्ति पूर्ण हैं और बहुत प्रामाणिक नहीं हैं, फिर भी इसके तथ्यात्मक उल्लेख निराधार नहीं माने जा सकते।

'दौ सौ बावन वैष्णव की वार्ता' में तुलसीदास और नंददास के भातृत्व के प्रकरण में तुलसीदास को रामानंदी कहा गया है। उक्त वार्ता पर गोस्वामी हरिराय की भावात्मक टिप्पणी इस प्रकार है :

"नन्ददास जी सनाढ्य ब्राह्मण रामपुर में रहते जिनके पद अष्टछाप में गाइयत हैं,...ये पूरब में रामपुर ग्राम में जन्में से वो तुलसीदास के भाई सनौढ़िया ब्राह्मण हते। सो वे नन्ददास पढ़े बोहन हते, तुलसीदास जो तो रामानंदीन के सेवक हते तक हते सो नंददास हूँ को रामानन्दीन को सेवा करवायो।"

श्री हरिवंश जी की भावात्मक टीका की प्रति सं० १८७१ वि० की है। उक्त श्री हरिराय गोस्वामी गोकुलनाथ (वार्ता लेखक) के शिष्य थे। उक्त टीका की रचना सं० १६४२ वि० के पूर्व की है। अत: यह एक प्राचीन सन्दर्भ है जिसे नंकारा नहीं जा सकता है। साथ ही यह बल्लभ संप्रदाय के अनुयायी के लेख हैं जो तुलसी को रामानंदी बनाता है। यदि कोई रामानंदी महात्मा ऐसा लिखता तो वह उतना विश्वसनीय नहीं माना जाता।

उपर्युक्त ग्रंथ के एक अंश में जिसका शीर्षक "श्री गोस्वामी जी के सेवक चारि अष्टछापी तिनकी वार्ता" में यही बात प्रकारान्तर से आई है :

"तुलसीदास तो रामानंदी के सेवक हते सो नंददास को हूँ रामानंदी के सेवक किये हते।"

शुद्धाद्वैत एकेडमी, विद्या विभाग, काकरौली के 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' संस्करण में भी यह प्रसंग है जिसका तात्पर्य है कि "नंददास रामपुर के निवासी सनाढ्य ब्राह्मण थे। वे तुलसीदास के छोटे भाई थे और बहुत पढ़े-लिखे थे। तुलसीदास रामानंदियों के सेवक थे और नंददास को भी वैसा ही बना दिया था।"

इन उद्धरणों से यह सिद्ध होता है कि 'दो सौ बावन वैष्णवन की वार्ता' में निश्चित रूप से तुलसी को रामानंदी सम्प्रदाय का अनुगामी कहा गया है। इतने पुराने सन्दर्भ में इस बात का उल्लेख सारयुक्त और सत्य प्रतीत होता है।

उपर्युक्त परम्परा में नंददास व तुलसीदास को सोरो जिला एटा के निकटवर्ती रामपुर का बताया गया है और वहाँ के कोई नृसिंहदास या नरहरिदास तुलसीदास के गुरु कहे जाते हैं। वह परम्परा तो इन्हें रामानंदी कहती है। इधर गोंड़ा जिले के सूकर खेत और उसके पास पसका गाँव में नरहरि दास की कुटी की खोज आचार्य चन्द्रबली पांण्डेय ने डॉ० भगवती प्रसाद सिंह के सहयोग से की है। ये लोग इन्हें ही तुलसीदास का गुरु मानते हैं। डॉ० भगवती प्रसाद सिंह ने लिखा है कि ये नरहरि

दास रामानंदी सम्प्रदाय के साधु थे और उनकी गद्दी बाराह क्षेत्र (पसका) में अब भी है।

अयोध्या में रसिकोपासक भक्तों की परम्परा रही है। इनमें टीकाकारों की भी लम्बी परम्परा चली। उसी परम्परा के महन्त जीवाराम-युगल प्रिया शाखा' ने सं० १८९८ में 'रसिक प्रकाश भक्तमाल' नामक ग्रन्थ लिखा जिसकी टीका सं० १९१९ में श्री जानकी रसिक शरण ने लिखी। उन्होंने तुलसी की गुरु परम्परा इस प्रकार दी है :

सुरसुरा नंद के शिष्य श्री गोपालदास
बड़े अवधुत घुघुरारे सिराबार हैं।
तितके सुशिष्टा रघुनाथदास जी मराल,
रामदास ध्यानी जिन जान्यौ रूप सार हैं।
तिनके बिमल नरहरिदास रस रास,
जिसके विदित कूबा केवल अधार हैं,
कूबा जी के छोटे गुरु भाई हैं श्री गोसाईं जिन',
रामायन गाथा गाई महिमा अपार है।

(छंद सं० १०४)

यह परम्परा हुई- रामानंद-सुरसुरानंद-गोपालदास-रघुनाथदास-नरहरिदास-कूबा और तुलसीदास। पहले हम देख चुके हैं कि रामानंद की अधिकृत शिष्य परम्परा जो 'भक्तमाल' पर आधारित है, उसमें भी ये कुछ प्रमुख नाम आते हैं। गोंड़ा वाली यह परम्परा उसी से सम्बद्ध लगती है। केवल कुछ नामों का अन्तर है। अत: रामानंद की परम्परा से तुलसीदास का सम्बद्ध होना दोनों ही से सिद्ध होता है। क्या यह सम्भव नहीं है कि सुरसुरानंद की शिष्य परम्परा दो लोगों के माध्यम से आगे बढ़ी हो एक परम्परा में रामानंद- अनंतानंद- पौहारी कृष्णदास- अग्रदास- नाभादास आते हैं और दूसरी परम्परा डॉ० ग्रियर्सन के 'इण्डियन एण्टीक्यूरी' में प्रकाशित सूची वाली है जिसे नागरी प्रचारिणी सभा ने अपने द्वारा प्रकाशित रामायण 'रामचरित मानस' में दिया है- रामानंद- सुरसुरानंद- माधवानंद- गरीबानंद- लक्ष्मीदास- गोपालदास- नरहरिदास- गोसाईं तुलसीदास। तात्पर्य यह है कि गोपालदास जिनके शिष्य पसका वाले नरहरि दास बताये जाते हैं, इन्हें भी परम्परा रामानंदी ही मानती है। इस प्रकार रामानंद की परम्परा से दोनों ही नरहरिदास का सम्बन्ध होना प्रतीत होता है। 'भक्तमाल' में दोनों नरहरिदास का

उल्लेख आया है। गुरु-परम्परा के इस सन्दर्भ से गोस्वामी तुलसीदास रामानंदी परम्परा के हैं, ऐसा विदित होता है।

तुलसीदास के समय में स्वामी रामानंद का व्यापक प्रभाव उत्तरी भारत पर पड़ चुका था और काशी तो उनका केन्द्र ही था। स्वामी जी ने भक्ति क्षेत्र में जाति-पाँति के भेद को निरर्थक बताया। प्रसिद्ध है कि उनके ही वचन हिन्दी में इस रूप में प्रचलित हैं :

जाति पांति पूछै नहिं कोई। हरिको भजै तो हरि का होई।।

स्वामी जी ने निर्गुण-सगुण दोनों ही रूपों में भक्ति का द्वार उन्मुक्त किया और नाम स्मरण को भक्ति का सबसे सुलभ मार्ग बताया। गोस्वामी तुलसीदास वर्ण-व्यवस्था के विरोधी नहीं थे पर वे जाति-पाँति को व्यर्थ मानते थे। शबरी के प्रसंग में स्वयं प्रभु राम के मुख से गोस्वामी जी ने यह कहलवाया है और अपनी व्यक्तिगत मान्यता के रूप में भी वे अपनी कोई जाति-पाँति नहीं मानते थे। इस सम्बन्ध में विस्तार की आवश्यकता नहीं, क्योंकि 'मानस' से लेकर उनके मुक्तक काव्यों में सैकड़ों उद्धरण यह सिद्ध करते हैं कि वे जाँति-पाँति के भेद को भक्ति क्षेत्र में नहीं मानते थे। व्यवहार-क्षेत्र में भी वर्ण-व्यवस्था को स्वीकारते हुए भी वे छूआछूत को नहीं मानते थे। रामराज्य में राजघाट पर 'मज्जहिं तहाँ वरन चारिउ नर' कह कर वे अपने दृष्टिकोण को स्पष्ट कर देते हैं। सामाजिक समरसता के ये विचार संत कबीर की निर्गुण परम्परा में भी हैं और तुलसीदास की निर्गुण-सगुण श्लिष्ट परम्परा में भी हैं। दोनों ने 'राम' तत्व की प्रतिष्ठा की, यद्यपि दोनों के 'राम' कुछ समान और कुछ भिन्न हैं। यह सारा समान वैचारिक स्रोत स्वामी रामानंद से ही इन दोनों धाराओं में प्रवाहित होता हुआ दीख पड़ता है।

सैद्धान्तिक दृष्टि से भी तुलसी स्वामी रामानंद के अधिक निकट हैं। रामानंद सम्प्रदाय की मान्यता है कि राम की आदि शक्ति और अभिन्न स्वरूप श्री जानकी जी ने भगवान श्रीराम की इच्छानुसार राममंत्र का उपदेश किया था और सर्वप्रथम हनुमान ने इस आदेश को प्राप्त किया था। आगे चलकर हनुमान से ही ब्रह्मा और ब्रह्मा से पाराशर आदि आगे के लोगों ने प्राप्त किया। इन विचारों का दर्शन हमें तुलसी के काव्य में बराबर मिलता है। 'सीतोपनिषद्' श्लोक ११३ में लिखा है -

श्रीराम सान्निध्यवश जगदानंददायिनी
उद्भवस्थितिसंहारकारिणीम्सर्वदेहिनाम्।।

गोस्वामी तुलसीदास बालकाण्ड के मंगलाचरण में श्रीजानकी जी की स्तुति में कहते हैं -

उद्भवस्थितिसंहारकारिणीम् क्लेशहारिणीम् ।
सर्वश्रेयस्करीं सीतां नतोऽहं रामवल्लभाम्।।
ये श्रीसीता जी राम से अभिन्न हैं :
ओम् नित्या निरंजना शुद्धां रामाभिन्नां।
मातरं मैथिलीं वन्दे गुणग्रामां रमारमाम् ।।

(मैथिली महोपनिषद्)

तुलसीदास लिखते हैं :

गिरा अरथ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौं सीताराम पद जिनहिं परमं प्रिय खिन्न।।

रामानंद स्वामी ने ही रामभक्ति का प्रचार किया। रामानुजाचार्य ने विष्णु और श्री जी की उपासना का प्रचार किया, अन्य प्रमुख आचार्यों ने राधाकृष्ण की भक्ति को अपनाया, पर रामानंद स्वामी ने राम और जानकी की भक्ति को प्रतिष्ठा दी। उन्होंने राम तत्व को ब्रह्म रूप में प्रतिष्ठा दी। जब तुलसी उन्हें 'विधि हरि शंभु नचावन हारे' (ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों को नचाने वाले राम हैं) कहते हैं तो उनका तात्पर्य यही है कि राम परात्पर ब्रह्म हैं। इसी रूप में तुलसी ने रामानंद स्वामी की ही भाँति राम तत्व की प्रतिष्ठा की। राम की भक्ति ही उन्हें अभिप्रेत है और इसके लिए वे लोक प्रचलित सभी देवी-देवताओं से प्रार्थना करते हैं, पर अन्त में हनुमान और श्री जानकी जी का ही उन्हें विशेष अवलंब है, 'विनय-पत्रिका' में वे हनुमान और जानकी जी से विशेष निवेदन करते हैं। हनुमान के विशेषणों में तुलसी साफ कहते हैं कि वे शिव ही हैं-

(१) जयति मर्कटाशीश, मृगराज-विक्रम, महादेव मुदमंगलालय कपाली
(छंद २५)

(२) जयति मंगलागार, संसार भारापहर, बानराकार विग्रह पुरारी।
(छंद २७)

उन्हें 'गुरु शंकर रूपिणौ' हनुमान का ही सबसे अधिक भरोसा है। वे जानते हैं कि 'बिनु गुरु होई कि ज्ञान'। हनुमान का भरोसा भी क्यों है :

तेरे स्वामी राम स्वामिनी सिया रे।

तहँ तुलसी कहँ कौन की काको तकिया रे॥

रामानंद सम्प्रदाय में सर्वप्रथम राम मंत्र पाने वाले श्री हनुमंत लाल तुलसी-साहित्य में भी रामानंदी सिद्धान्तानुसार गुरु हैं और उनकी कृपा के बिना प्रभु का अनुग्रह सम्भव नहीं है। अब श्री जानकी जी जो इस सम्प्रदाय की प्रथम मंत्रद्रष्टा ऋषि मानी जाती हैं और राम से अभेद रूप हैं, उनकी स्थिति तुलसी की दृष्टि में देखिए :

जयति श्री जानकी भानुकुलभानु की प्राणप्रिय बल्लभे तरणि भूपे।
रामानंद चैतन्य-धन विग्रहा-शक्ति, आह्लादिनी सार रूपे॥
जयति चित चरणि चिन्तनि जेहि धरनि, हृत काम भय कोह मद मोह माया।
रुद्र बिधि विष्णु सुर सिद्ध बंदित पदे जयति सर्वेश्वरी राम जाया॥
कर्म जप जोग विज्ञान वैराग्य लहि मोक्ष हित योगि जे प्रभु मनावैं।
जयति वैदहि सब शक्ति सिर भूषणे, तेन तब दृष्टि बिनु कबहुँ पावैं।
कोटि ब्रह्माण्ड जगदीश को ईस, जेहि निगम, मुनि बुद्धि ते अगम गावैं।
विदित यह गाथ, अहनाथ, कुलगाथ, सो नाथ, तब दान लै, हाथ आनैं।
दिव्य सतकर्म जप दान जब शिव घर्‌यो राम गुरु रूप मिलि पथ बतायो।
चितै हित लीन लखि, कृपा कीन्हौं तबै, देवि! दुर्लभ देव-दरस पायो॥

(विनय० ४० क)

शिव और हनुमान एक ही हैं। 'हर ते भे हनुमान' यह उक्ति लोकख्यात है। इन्हें सर्वप्रथम जानकी जी का अनुग्रह प्राप्त हुआ, तभी प्रभु राम की भक्ति प्राप्त हुयी। रामानंद-सम्प्रदाय की मान्यता के अनुरूप ही तुलसीदास भी श्री जानकी जी को मंत्र द्रष्टा और परम गुरु पद पर प्रतिष्ठित करतें हैं और शिव जी को उनका प्रथम अनुग्रह (मंत्र) प्राप्त करना मानते हैं। इसी कारण वे उनसे निवेदन करते हैं :

हो न तव सुमुख के संग, नहि रंक सो, विमुख जो, देव नहिं नाह तेरो।
अधम-उद्धरणि! यह जानि गहि शरण तब 'दास तुलसी' भयो चेरो॥

(विनय० ४० क)

इसी कारण अन्य देवी-देवताओं और राम के नजदीकी जनों से अपनी प्रार्थना राम तक पहुँचाने के क्रम में तुलसी श्री जानकी जी से अपनी याद प्रभु राम को दिलाने का अनुनय करते हैं :

(१) कबहुँक अंब ! अवसर पाइ।
मेरियो सुधि ध्याइबी करुन-कथा चलाइ।।

(विनय० ४१)

(२) कबहुँ समय सुधि ध्याइबी मेरी मातु जानकी।
जन कहाइ नाम लेत हौं, किए पन चातक ज्यों, प्यास सुप्रेम पान की।।

(विनय० ४२)

ये समानताएँ सहज ही उनके रामानंद से प्रभावित होने का संकेत करती हैं।

रामानंद ने राम-भक्ति का प्रचार किया। परम्परा से स्वामी रामानंद और उनके गुरु राघवानंद को रामानुजाचार्य की परम्परा का माना जाता है और दर्शन को भी रामानुज के समान विशिष्टाद्वैतवादी माना जाता है। पर इधर सूक्ष्मता से अध्ययन करके विद्वानों ने यह विचार प्रकट किया है कि रामानंद शांकर अद्वैत और रामानुज के विशिष्टाद्वैत के मध्य स्थित थे। राधाकृष्णन ने 'भारतीय दर्शन' में रामानंद को रामानुज से स्वतंत्र परम्परा का माना है। श्री सम्प्रदाय से अलग उनका रामावत सम्प्रदाय था जो आगे चलकर रामानंद सम्प्रदाय कहा गया। 'रामानंद का रामावत दर्शन' अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैत दर्शन का मध्यवर्ती दर्शन है।

गोस्वामी तुलसीदास ने 'विनय पत्रिका' में द्वैत, अद्वैत, विशिष्टाद्वैत तीनों को भ्रम कहा है। पूरा छंद इस प्रकार है :

केसव ! कहिन जाइ का कहिए ?
देखत तब रचना विचित्र हरि, समुझि मनहि मन रहिए।
सून्यभीति पर चित्र, रंग नहिं, तनु-बिनु लिखा चितेरे।
धोए मिटइ न मरइ भीति, दुख पाइय यह तन हेरे।
रविकर नीर बसै अति दारुन, मकर रूप तेहि माहीं।
बदनहीन सो ग्रसै चराचर, पान करन जे जाहीं।।
कोउ कह सत्य, झूठ कह कोऊ, जुगुल प्रबल कोउ मानै।
तुलसीदास परिहरै तीनि भ्रम तब आपन पहिचानै।।

(विनय० १११)

कवि ने संसार को न सत्य, न झूठ, न सत्यासत्य कहा। वह उसे अकथ और विचित्र कहता है। इस विचित्र संसार के दुख से मुक्ति का मार्ग आत्म साक्षात्कार है और वह भक्ति से ही सम्भव है।

संसार द्वैतमूलक और भ्रमात्मक है। इसकी विचित्रता का कोई समाधान नहीं है, सिवाय ज्ञान के और ज्ञान से भक्ति मिलती है। तुलसी साफ कहते हैं :

हे हरि ! यह भ्रम की अधिकाई।
देखत सुनत कहत समुझत संसय-संदेह न जाई।।
जौ जग मृषा ताप त्रय अनुभव होइ कहहु केहि लेखे।
कहि न जाइ मृग वारि सत्य, भ्रम ते दुख होई विसेखे।।

× × × ×

तुलसीदास सबु विधि प्रपंच जद्यपि झूठै श्रुति गावैं।
रघुपति भगति, संत-संगति बिनु को भव-पास नसावै।।

इस छंद में तुलसी अद्वैतवादी लगते हैं। तत्वत: वे अद्वैत वेदान्त को मानते भी हैं पर उससे संशय मिटता नहीं, असत्य सत्य भासता है और परिणामत: जो असत् है उसे सत्य कहा भी नहीं जाता। अत: सत्संग और भक्ति से ही धीरे-धीरे जगत् की समझदारी बन सकती है और संशय से मुक्ति मिल सकती है :

जौ निज मन परिहरै विकारा।
तौ कत द्वैत जनित संसृति दुख संसय सोक अपारा।।

× × ×

रघुपति भगति वारि छालित चित बिनु प्रयास ही सूझै।
तुलसीदास यह चिद विलास जग बूझत बूझत बूझै।। (विनय० १२४)

तुलसी की दृष्टि में संसार असत्य नहीं, न वह सत्य ही है, वरन वह सत्य ब्रह्म का विलास है। यह उसका ऐश्वर्य रूप है जो उसकी माया से ही निर्मित है। पर इसकी अनुभूति निरंतर भक्ति जल से प्रच्छालित अन्त:करण में ही धीरे-धीरे होती है।

उपर्युक्त विवेचन से मुझे यह प्रतीत होता है कि तुलसीदास जी किसी दर्शन को पूर्णत: नहीं मानते। ये विचित्र और असत् संसार की कठिनाइयों का नाश भक्ति से मानते हैं। उनका दर्शन भक्ति-दर्शन है और वह भक्ति राम-भक्ति है। उनके राम सगुण-निर्गुण दोनों हैं और पर ब्रह्म हैं। ब्रह्मा, विष्णु, शिव तीनों से परे और सबके कर्ता, पालक और संहारक हैं।

रामानंद के दर्शन का विचार करते हुए श्री वैष्णव भगवान दास जी कहते हैं : "शांकर दर्शन में ब्रह्म और जीव के सम्बन्ध को अभेद बताया है। यहाँ अद्वैतवाद में एकात्मवाद का प्रतिपादन किया है। उसमें ब्रह्म के दो भेद हैं- कारण

ब्रह्म और कारज ब्रह्म। जीव को माया रूपी अविद्या से आवृत ब्रह्म बताया है। विशिष्टाद्वैत में ब्रह्म को जीव और माया का उपभोक्ता बताया है। ब्रह्म जीव के माध्यम से माया का उपभोग करता है। माया प्रकृति को अणु स्वरूप में मानते हैं।"..."रामावत वेदान्त दर्शन ब्रह्म को पूर्ण विभु मानता है। जीव को ब्रह्म अंश नित्य रूप में स्वीकार करते हैं। माया को स्वप्नवत् जड़ या मिथ्या मानते हैं। गोस्वामी तुलसीदास का रामचरितमानस रामानंद सम्प्रदाय की अमूल्य निधि है। गोस्वामी जी के मानस में वेदान्त दर्शन का सम्प्रदाय के सिद्धान्तानुसार निरूपण किया है।"

सामग्री की स्वल्पता और रामानंद सम्प्रदाय के सिद्धान्तों के व्यापक अध्ययन के अभाव के कारण अधिकारपूर्वक कोई स्थापना नहीं की जा सकती पर लगता है कि तुलसी की ही भाँति स्वामी रामानंद का अधिकार क्षेत्र भक्तिमार्ग था और उसके लिए तुलसी की ही भाँति वे दर्शन-समन्वय के विश्वासी थे। इसी कारण भक्ति में भी 'नाम-जप' को उन्होंने विशेष मान्यता दी जो कबीर जैसे निर्गुनिए और तुलसी जैसे सगुनिए दोनों को ग्राह्य था। जैसे तुलसी के दर्शन को कोई अद्वैत, कोई विशिष्टाद्वैत, कोई दोनों के मध्य मानता है, उसी प्रकार स्वामी रामानंद की परम्परा के राम भक्ति के रसिक भक्तों ने अलग-अलग वाद माना है। तुलसीदास के दार्शनिक मतवाद की दृष्टि से कुछ रामानंदी भक्तों के विचार देखना चाहिए। रसिक राय प्रसाद दास के शिष्य रघुनाथ प्रसाद कहते हैं :

एक अद्वैत अरु द्वैत मत पुनि विशिष्ट अद्वैत।
यद्यपि तिहुँ स्वामी सो, पै राखत मत द्वैत।।

-श्री महाराज चरित्र, पृ० १००

श्री रामचरण दास 'श्री राम नवरत्नसार संग्रह' में महाशंभु संहिता के सन्दर्भ में कहते हैं, कि उनका विधेय मत शुद्ध द्वैत है :

शुद्धं द्वैतमतं विद्धि सेव्य-सेवक भावदम् ।
सामिष्यं च सुमुक्तिं च नित्यं गोलोकधामकम्।

वे ही 'रस मालिका' में लिखते हैं -

सुनहु चित्त बुधि मते जीव नहिं मिलत ईश कहं।
दास रूप नहिं मिलत दास हाइ रहत ईश पहं।।
तथा बज्रमनि कनीफूटि तेहिं मिले न भाई।
मनि समीप जड़ि जाइ परम शोभा अधिकाई।

बालक राम विनायक उन्हें शुद्धाद्वैतवादी मानते हैं। महात्मा वनादास जी द्वैताद्वैत का समर्थन करते हैं :

द्वैत मांहि अद्वैत है गुह्य गोपि अति सार।
ताते द्वैताद्वैत मत करिहैं संत बिचार।।

(आत्म बोध छं० २२२)

महात्मा सियाराम शरण जी के अनुसार उनका और तुलसी का मत 'द्वैताद्वैत' है :

द्वैताद्वैत हमार मते इमि भाखै मोपहिं।
सोई तुलसीदास विषे भासत सो मन माहिं।।

(गुरु महात्म्य छं० २९४)

यही प्रतीत होता है कि स्वामी रामानंद और गोस्वामी तुलसीदास के दार्शनिक मतवाद को कोई एक नाम देना सम्भव नहीं है। भक्ति-रसिकों एवं विद्वानों ने उसे अपने-अपने ढंग से व्याख्यायित किया है। वस्तुत: दोनों ही समन्वय मार्गी और मध्यमार्गी हैं। दोनों ही भक्तिमार्गी हैं, ज्ञान मार्गी नहीं। अत: वहाँ भक्ति की रसस्विनी बहती है, दर्शन की तार्किक भँवरें नहीं हैं। राम की भक्ति के लिए जो भी सहज साधन है, वह उन्हें ग्राह्य था।

संदर्भ

1. गोस्वामी तुलसीदास : रा0 भा0 परि0, पटना, 1961, पृ. 31।
2. रामानंद दर्शन : समीक्षा, 40 ।
3. गोस्वामी तुलसीदास : डॉ0 शम्भूनाथ सिंह, पृ. 07।
4. सरस्वती, जून 1943, पृ. 287।
5. रामांनंद दर्शन : समीक्षा, पृ. 48।
6. रामानंद दर्शन : समीक्षा, पृ. 30।

तुलसी की लोकसाधना

प्रो० देवव्रत चौबे

रामानन्द सम्प्रदाय के शिष्यों में तुलसीदास का महत्वपूर्ण स्थान है। उन्होंने उस सम्प्रदाय की रामभक्ति धारा को विशेष रूप से प्रतिष्ठित किया। ज०गु० रामानन्द ने तमाम रूढ़ियों तथा बन्धनों को तोड़कर, ब्राह्मण से लेकर चाण्डाल तक सबको रामनाम का उपदेश दिया। इसीलिए मनीषी एफ.ई.केथ ने उन्हें उत्तर भारत का सबसे बड़ा धार्मिक नेता, भक्ति-आन्दोलन का जनक एवं उत्प्रेरक तथा समवर्ती काल के अनेक मतपन्थों का प्रेरणास्रोत माना है। (ए हिस्ट्री ऑफ हिन्दी लिट्रेचर, अध्याय।, पृ० २१)। कुछ विद्वानों का मत है कि रामभक्ति को सर्वसुलभ बनाने वाले वे प्रथम आचार्य हैं। राम भक्ति की परम्परा ही भारतीय सामाजिक परम्परा की वास्तविक थाती है। उसी में प्रवृत्ति और निवृत्ति के द्वन्द्वों का समाधान होता है। उसी में मनुष्य को अपने कर्तृत्व के लिए ऐसा मार्ग मिलता है जो उसे सामाजिक स्थिति की परतंत्रता से मुक्त कर सकता है। रामानन्द सम्प्रदाय में रामभक्ति सामाजिक कर्मजीवन और आध्यात्मिक जीवन के सेतु के रूप में प्रतिपन्न है।

रामानन्द सम्प्रदाय की रामभक्ति धारा को एक व्यापक अर्थ में सामाजिक जीवन का चेतना-सूत्र कहा जा सकता है। इसी सूत्र को तुलसीदास ने अपनी रचनाओं में प्रतिष्ठित किया है। इस लेख में हमने तुलसीदास के रामलला नहछू पर विशेष प्रकाश डाला है क्योंकि यह रचना सगुण साधना एवं सामाजिक समरसता को अभिव्यक्त करती है। इसी क्रम में विनयपत्रिका पर भी कुछ कहने का साहस किया है क्योंकि भक्ति के दृष्टिकोण से यह रचना सर्वोत्कृष्ट है।

तुलसीदास ने समाज की आवश्यकता और अभिरुचि को ध्यानमें रखकर विविध ग्रन्थों की रचना की है। उन्होंने प्रत्येक वर्ग को उनकी रुचि के अनुकूल रामचरित को सुलभ कराने का प्रयास किया है। इसीलिए डॉ० ग्रियर्सन ने महात्मा बुद्ध के बाद उनको सबसे बड़ा लोकनायक माना है। इन दिनों साधारण जनता में प्रचलित सोहर, नहछू गीत आदि रागों में उन्होंने रामकाव्य लिखा। सामान्य जनता में प्रचलित पद्धति से लेकर शिक्षित जनता में प्रचलित काव्य-रूपों को उन्होंने अपनाया है। 'रामलला नहछू' का प्रणयन तुलसीदास ने इस भावना से

किया है कि समाज के हर क्षेत्र में राम का प्रवेश हो जाय। यह मंगल ग्रन्थ है। विवाह के अवसर पर गाया जाता है। रामचरितमानस में नहछू का प्रसंग नहीं आया है।

तुलसीदास लोकमंगल के कवि हैं। लोकमंगल-साधना का मूल मंत्र सबका कल्याण होता है। 'रामलला नहछू' सोहर छन्द में लिखा गया ऐसा ही ग्रन्थ है। इसमें चार चरणों की एक संख्या मानने से केवल बीस छंद हैं। सोहर मांगलिक गान को कहते हैं। यह रचना लोक संस्कृति के रस से परिपूर्ण है। इसमें भक्ति का स्थान अद्वितीय है। 'नहछू' का यही प्रयोजन है कि भक्ति के द्वारा राम के प्रति आकृष्ट होकर लोग कल्याण के भागी बनें। आरम्भ में ही तुलसीदास ने बता दिया है कि रामलला नहछू गाने से सिद्धि एवं परमनिधि की प्राप्ति होगी तथा साथ ही साथ करोड़ों जन्मों के पापों से छुटकारा मिल जाएगा-

'जेहि गाए सिधि होय परमनिधि पाइए हो।
कोटि जनम कर पातक दूरि सो जाइए हो।।१।।

अपने इस मत की पुष्टि में उन्होंने इसी ग्रन्थ में आगे यह बताया है कि नाइन राम का पग धोती है औ राम पग धुलवा रहे हैं। जिस पगधूंलि को देखने से सिद्ध और मुनि वंचित रह जाते हैं वह पगधूलि नाइन के लिए सहज सुलभ है।

जो पगु नाइनि धोवइ राम धेवावईं हो।
सो पगुधूरि सिद्ध मुनि दरस न पावईं हो।।४।।

तुलसीदास नवीन वेदांती हैं। उनका नया वेदान्त जनभाषा में है। प्राचीन वेदान्त से उनका नया वेदान्त अनेक महत्वपूर्ण अर्थों में भिन्न है। प्राचीन वेदान्त उपनिषद् में वर्णित परमतत्व को जानना चाहता है। वेद के पांडित्य पर बल देता है। वह शब्द प्रमाण को मानकर चलता है। तुलसीदास एवं अन्य संतों का वेदान्त अनुभववाद पर बल देता है। प्राचीन वेदान्त के पंडित पंक्ति पांडित्य को ढ़ोते रहते हैं। तुलसीदास अपनी अनुभूति के द्वारा अपने और अपने समाज के द्वन्द्वों को दूर करते हैं। संस्कृत में होने के कारण प्राचीन वेदांत जनता तक नहीं पहुँच पाया। किन्तु जनभाषा में होने के कारण नया वेदान्त सामान्य जनता तक पहुँच गया है। नए वेदान्त ने सवको वेदान्ती बना दिया है। वह आज का जीवन-दर्शन है। इस दर्शन ने ऋषियों और संतों के अनुभव को सामान्यजन तक पहुँचा दिया है।

प्राचीन वेदांत ज्ञानमूलक समाज बनाना चाहता है। लेकिन तुलसीदास भक्तिमूलक समाज बनाते हैं। भक्तिमूलक समाज में जाति-पाँति, छूआछूत, ऊँच-नीच आदि का कोई भेद नहीं है। महात्मा तुलसी ने दास्यभावभक्ति को सामाजिक एवं आध्यात्मिक उत्थान की दृष्टि से सर्वश्रेष्ठ माना है। नाइन सहज में ही राम के पग को इसलिए स्पर्श

कर पाती है कि वह उत्तम कोटि की भक्त है। भक्त का पक्षपात भक्ति के प्रति और भगवान् का पक्षपात भक्त के प्रति होता है। तुलसीदास भक्ति के बिना ज्ञान और कर्म की उच्चता स्वीकार नहीं करते। भक्ति की साधना में तुलसीदास दैन्यभाव को मुख्य मानते हैं। ज्ञान और कर्म की साधना में अहंता का लोप नहीं होता। लेकिन दास्यभाव की साधना में अहंता का विसर्जन हो जाता है।

रामभक्ति को तुलसीदास सबके लिए अनिवार्य मानते हैं। उनका कहना है कि भक्ति ऐसी सरल होनी चाहिए जिसे सहजता से अति सामान्य व्यक्ति भी जीवन में उतार ले। भक्ति का अधिकार उन्होंने सबका माना है। "सगुण-भक्ति का आन्दोलन केवल धार्मिक आन्दोलन ही नहीं है, वह ऐसा सामाजिक आन्दोलन है जो सामाजिक मर्यादा का प्रत्यक्ष खंडन न करते हुए सबके लिए उन मार्गों को खोल देता है जो शास्त्रीय परम्परा के अनुसार कुछ के लिए बन्द है।" तुलसी की भक्ति मानववाद में डूबी हुई है। यह कवि मनुष्य का सबसे बड़ा उपासक है। अनेक बार उन्होंने भक्त को भगवान् से बड़ा बतलाया है। मानवता के प्रति प्रेम का इससे बड़ा उदाहरण क्या हो सकता है। इसीलिए तो 'नहछू' के अंतिम सोहर में वे कहते हैं कि जो यह नहछू गाएगा या गाकर सुनाएगा उसे ऋद्धि-सिद्धि कल्याण के अतिरिक्त मुक्ति भी प्राप्त हो जाएगी:

जे यह नहछू गावैं गाइ सुनावइँ हो।
रिद्धि सिद्धि कल्यान मुक्ति वर पावहूँ हो॥२०॥

'रामलला नहछू' में विवाह की तैयारी है। राम दूल्हा हैं। तुलसीदास अपने सामाजिक परिवेश का वर्णन कर रहे हैं। यहाँ ऐसा यथार्थवाद है जिसका वर्णन तुलसी के पूर्ववर्ती कवियों ने नहीं किया है। थोड़े ही शब्दों में तुलसीदास समाज का ऐसा चित्र खींचते हैं जिसे देखकर यही कहा जा सकता है कि सामाजिक समरसता का ऐसा बिंब अन्यत्र दुर्लभ है। लुहारिन हाथ में बरायन लिए हँसते हुए आती है। अहिरिन दही की हाँड़ी लेते हुए आती है:

बिहँसत आउ लोहारिनि हाथ बरायन हो।
अहिरिनि हाथ दहेड़ि सगुन ले आवइ हो॥५॥

तंबोलिन हाथ में पान का बीड़ा लेकर आती है। हाथ में जोड़ा लिए गोरे शरीर वाली दर्जिन भी आती है। चूँकि मंगल का अवसर है इसलिए वह शरीर में केसर लगायी है जिससे चारों ओर सुगन्ध फैल रही है:

रूपसलोनि तंबोलिनि बीरा हाथहि हो।
जाकी ओर बिलोकहि मन तेहि साथहि हो।

दरजिनि गोरे गात लिहे कर जोरा हो।

केसरि परम लगाइ सुगंधन बोरा हो॥९॥

इतना ही नहीं, आँगन में पनही लेकर मोचिन भी उपस्थित है। मौर हाथ में लिए मुस्काती हुई मालिन आती है। छाता लिए बारिनि भी मौजूद है:

मोचिनि बदन सकोचिनि हीरा मांगन हो।

पनिहि लिये कर सोभित सुन्दर आंगन हो॥

बतिया कै सुघरि मलिनिया सुन्दर गातहि हो।

कटि कै छीन बरिनिआँ छाता पानिहि हो।

विशाल नेत्रवाली नाऊन अपनी भौंहें चमकाते हुए तथा अनेक प्रकार के अलंकारों से मुक्त होकर हाथ में नाहनी लिए हुए आती है। राम को देखकर वह असीम आनन्द का अनुभव करने लगती है:

नाउनि अति गुनखानि तौ बेगि बोलाई हो।

करि सिंगार अति लोनि तौ बिहँसति आई हो॥

कनक चुनिन सो लसित नहरिनी लिए कर हो।

आनँद हिय न समाइ देखि रामहि बर हो॥१०॥

तुलसी जिस राम के उपासक हैं वह उनके लिए दृश्य हैं। अदृश्य नहीं हैं। आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने अपनी पुस्तक तुलसीदास में भक्तिमार्ग के लिए लिखा है कि "वह लोक या जगत् को छोड़कर नहीं चल सकता। भक्तिमार्ग का सिद्धान्त है भगवान् को बाहर जगत् में देखना।" तुकाराम कहते हैं, "मुझको अद्वैत में सन्तोष नहीं मिलता। मुझको तुम्हारे चरणों की सेवा मधुर लगती है। मेरी सेवा तुम्हारे योग्य बन सके, ऐसा मुझे वरदान दो। तुम्हारे नाम का सम्बन्ध परम आनन्ददायक है। मुझे इसका अनुभव करने दो। मुझे अपने से पृथक् रखो। यह सब तुम्हारा है, किसी दिन मुझे दे दो।"

तुलसीदास ने रामानन्द की सगुणोपासना पद्धति को अपनाकर कुलीनता और जातिवाद पर घोर प्रहार किया है। क्योंकि तुलसी के प्रभु राम ने जातिहीन व्यक्तियों को अपनाया था।

जातिहीन अघ जनम महि, मुकुत कीन असनारि।

महामंद मन सुखचहसि, ऐसे प्रभुहिं बिसारि।

(दोहावली)

रामलला नहछू में तुलसीदास ने यह दिखलाने का प्रयास किया है कि किसी

भी जाति के लोग राम से प्रेम कर परम आनन्द को प्राप्त कर सकते हैं। साथ ही उन्होंने यह भी बतलाया है कि उनकी भक्ति सभी जातियों और वर्णों को मिलानेवाली है।

तुलसीदास के व्यक्तित्व का एक पक्ष दैन्य है। उन्होंने तीनों कालों और तीनों लोकों में अपने को सबसे बड़ा पातकी और महाअधम कहा है। उन्होंने ऐसा इसलिए किया है कि दीनदयाल का ध्यान जल्दी आकर्षित हो। उनके राम दीनबन्धु हैं :

तू दयालु दीन हौं, तू दानि, हौं भिखारी।
हौं प्रसिद्ध पातकी, तू पापपुंजहारी।।
(विनयपत्रिका)

प्रसिद्ध समीक्षक डॉ० रामविलास शर्मा कहते हैं कि "तुलसी की भक्ति का सामाजिक उत्पीड़न से घनिष्ठ सम्बन्ध है। वह राजाओं, सामन्तों, धनी लोगों के सामने हाथ पसारने वालों में आत्मसम्मान का भाव जाग्रत करते हैं। उनसे कहते हैं, राम से माँगो, वह सब कुछ देगा, मनुष्य के आगे हाथ मत फैलाओ।" वे पुनः कहते हैं, "जिस मनुष्य को आजीवन तरह-तरह के कष्ट सहने पड़े हों और जिसने भूख और यातना का स्वयं अनुभव किया हो, उसके लिए तत्कालीन समाज में भक्ति ही सबसे बड़ा सम्बल थी," विनयपत्रिका के अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि दुःख का भक्ति से घनिष्ठ सम्बन्ध है। रामकी सबसे वड़ी विशेषता यह है कि इनके यहाँ दीन का आदर है- 'यहि दरबारदीन को आदर रीति सदा चली आई।।

विनयपत्रिका में तुलसीदास सारे सामाजिक बंधनों का खण्डन करने का परामर्श देते हैं और साथ ही साथ यह भी कहते हैं कि मैं अपना मत कह रहा हूँ-

जाके प्रिय न राम बैदेही।
सो त्यागिए कोटि बैरी सम जद्यपि परम सनेही।
तुलसी सो सब भाँति परम प्रिय पूज्य प्रान तें प्यारो।
जासौ होई सनेह रामपद एतो मतो हमारो।

यदि कोई रूढ़ि तोड़नेवाला निष्पक्ष होकर देखे तो उसे पता चल जाएगा कि तुलसीदास रूढ़ि तोड़ने-तोड़वाने में किसी से पीछे नहीं थे। आचार्य विश्वनाथ प्रसाद मिश्र का कहना है कि "तुलसीदास समाज की व्यवस्था चाहनेवाले थे और यदि व्यक्ति को उसका प्राप्य समाज से नहीं मिलता, रूढ़ियाँ उसके वैयक्तिक उत्कर्ष में बाधक होती हैं, तो वे उनका उल्लंघन करने का परामर्श सहर्ष देनेवाले थे। उन्होंने इसीलिए राम का आदर्श सामने रखा था, क्योंकि राम मर्यादापुरुषोत्तम थे और तब

तक समाज की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करते थे जब तक उसके उल्लंघन से उच्च उद्देश्य की पूर्ति न होती हो।''

तुलसीदास के समय समाज में घोर वैषम्य, अत्याचार, विशृंखलता व्याप्त थी। कलियुग के अत्याचार से त्रस्त होकर उन्होंने राम के दरबार में विनयपत्रिका (अरजी) पेश की है। समाज के प्रतिनिधि के रूप में उन्होंने समाज में न्याय के लिए, समानता के लिए, सुरक्षा के लिए राम से गुहार की है। यह पत्रिका तुलसी की व्यक्तिगत नहीं, सार्वजनिक है। तुलसीदास सारे समाज का कल्याण चाहते हैं। उनकी ऐसी सोच है कि राम के बिना समाज का मंगल नहीं हो सकता। इसलिए उन्होंने जिन जिन से प्रार्थना की है उनसे यही वरदान मांगा है कि राम की भक्ति मुझे प्राप्त हो जाय। राम से बड़ा कोई दूसरा नहीं हो सकता-

भरोसो जाहि दूसरो सो करो।
मोकों तो राम को नाम कल्पतरु कलि कल्यान करो।

राम का नाम लेने से किसी का उद्धार वैसे ही होता है जैसे ऊसर खेत उपजाऊ खेत में बदल जाता है-

तेरो नाम लेत ही सुखेत होत ऊसरो।

इसी क्रम में यहाँ यह उल्लेख करना प्रासंगिक लगता है कि रामानन्द से प्रभावित होकर ही तुलसीदास ने हनुमत् पूजा का प्रसार किया। सबके कल्याण के लिए उन्होंने काशी में कई स्थानों पर हनुमान के मंदिर बनवाए। हनुमान चालीसा का पाठ घर-घर होता है। तुलसीदास ने अति पीड़ा के समय रामदूत को पुकारा हनुमान-बाहुक में। रामानन्द ने भक्ति की धारा में जिस सामाजिक आन्दोलन को चलाया उसका प्रतिफल तुलसीदास के प्रयत्नों में सम्मिलित है।

सामाजिक व्यवस्था के दीर्घकालीन परिवर्तन ही रामानन्द संप्रदाय की भक्ति परम्परा का वास्तविक सामाजिक इतिहास है। इसमें कोई संदेह नहीं। भक्ति साधना सामाजिक साधना है। इसलिए भक्ति लोकमंगल की ओर प्रवृत्त करती है।



आचार्यरामानन्द की लोकोन्मुखी वैष्णवभक्ति

डॉ. उदय प्रताप सिंह

भक्ति सम्प्रदाय की प्राय: तीन संज्ञाएँ प्रचलित हैं-भागवत, पांचरात्र और एकायन। इसे सातत्य भी कहते हैं। भारतीय धर्म, दर्शन और साहित्य के विकास में वैष्णव भक्तिप्रस्थान (आन्दोलन) का अप्रतिम योगदान है। यहाँ के मनीषियों ने मानव जीवन को पुरुषार्थ चतुष्टय का पर्याय माना है। अत: धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष मानव के लौकिक-पारलौकिक कल्याण के बोधक हैं। पारलौकिक कल्याण की पूर्ति के लिये भारतीय शास्त्रों ने आगम-निगम, पुराण-दर्शन, ज्ञान-कर्म, उपासना जिसे भक्ति भी कहा जाता है-मार्गत्रय का विधान किया है। वैदिक यज्ञ-याग कर्म की स्थापना करते हैं जो मुख्यत: ब्राह्मण ग्रन्थों से अनुशासित होते हैं। आरण्यक उपनिषद् में ज्ञानमार्ग की स्थापना है। महर्षि याज्ञवल्क्य के औपनिषदिक मीमांसा में आत्मदर्शन पर विशेष बल दिया गया है-'आत्मावारे द्रष्टव्य:'। इसी मत के अंग के रूप में जीव, जगत् और ब्रह्म की विशेष वेदांत के तत्वज्ञान रूप में कपिल, पतंजलि, गौतम, कणाद् और वादरायण के विमर्शों में परिलक्षित होता है। उपनिषदों में जगत् के कारणभूत पंचमहाभूतों का प्रसंग-अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनंदमय पंचकोशों के रूप में आता है। इतना ही नहीं व्यष्टि रूप आत्मा के साथ चेतन रूप परमात्म ब्रह्म की परिकल्पना भी की गयी है। यही ब्रह्म उपनिषदों में समस्त जगत् प्रपंच, जड़, चेतन का उपादान कारण भी है।

मनुष्य की ऐहिक और आमुष्मिक श्रेय के लिए निर्दिष्ट भक्तिमार्ग का प्रादुर्भाव आज भी मतमतांतरों की कुहेलिका में धुँधला दिखायी पड़ता है। भक्ति को कुछ वेदविहित, कुछ वेद अविहित तो ग्रियर्सन जैसे विदेशी विद्वानों ने इसाईयों का प्रदेय सिद्ध करने में भी संकोच नहीं किया है। इन निरर्थक वादों-संवादों में न पड़कर भक्ति को भारतीय भूमि से उपजा चिंतन मानने में आपत्ति नहीं होनी चाहिए। अद्वैतवादी आचार्य शंकर भक्ति को वैदिक सिद्धांतों के अनुकूल नहीं मानते। 'ब्रह्मसूत्र' में उन्होंने इसकी विस्तृत चर्चा की है। उनके अनुसार जीव नित्य होने के कारण न उत्पन्न होता है न नष्ट। इसी तरह अन्य विद्वान् इसे निगमपरक न मानकर आगमपरक ही स्वीकार करते हैं जबकि 'ब्रह्मसूत्र' पर भाष्य लिखते समय आचार्य रामानुज, वल्लभ ने भक्ति को श्रुव्यनुमोदित ही स्थापित किया है। प्रमाण स्वरूप वेद, उपनिषद और ब्राह्मण ग्रंथों

का दृष्टांत रखा है। इससे ऐसा प्रतीत होता है कि भारतीय चिंतन धारा निरंतर नव विचारों को महत्व देती रही है। फलत: किंचित अवैदिक होते हुए भी कालांतर में इसे वैदिक बनाने का उपक्रम, अभियान के रूप में चलने लगा। भक्ति के संदर्भ में आज वैदिक अवैदिक का भेद प्राय: अप्रासंगिक सा लगता है। आज भक्ति-प्रपत्ति या उपासना का उद्देश्य मानवमात्र का कल्याण और पारमार्थिक सत्ता का चिंतन हो गया है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय और मुंशीराम शर्मा ने भक्ति को वैदिक संहिताओं तक अन्वेषित किया है। वहाँ वासुदेव और विष्णु प्राय: एक ही रूप में भजे गये हैं। वासुदेव और नारायण की भक्ति का विधान पाणिनि से भी पूर्व का है। पाणिनि के व्याकरण शास्त्र में वसुदेव की पूजा करने वाला वासुदेव संज्ञा प्राप्त करता है। भागवतधर्म की उपासना पद्धति सर्वप्रथम महाभारत में मिलती है। सब मिलाकर यही कहा जा सकता है कि उत्तरी भारत में भक्ति का जो स्वरूप मिलता है वह ईसा की दूसरी-तीसरी शताब्दी में दक्षिण के तमिल प्रांत में दिखायी पड़ने लगा था। उसका उत्कृष्ट रूप छठीं से नवीं शती तक उन भक्तों में मिलता है जिन्हें आलवार और नायनार कहते हैं। इन द्वादश आलवारों में नम्मालवार, शठकोपाचार्य तथा आंडाल प्रसिद्ध हैं। नवीं शती के अंत में दक्षिणी प्रांत में जन्म लेने वाले नाथमुनि ने इनके प्रबंध काव्यों का संकलन किया। ये उत्तरी भारत में प्रचलित पांचरात्र सम्प्रदाय से सम्बद्ध थे। इन्हीं के पौत्र आलबंदार ने भक्ति को वेदों से जोड़ दिया। इनका दार्शनिक सिद्धांत विशिष्टाद्वैत था। इसे ही दक्षिण के आचार्यों ने पल्लवित कर भक्ति की मंदाकिनी प्रवाहित कर दी। यह अधोलिखित विशिष्ट तत्वों से निर्मित थी। १. ज्ञानकर्म की अपेक्षा भक्ति का महत्व २. नाम महिमा ३. स्तुति का कीर्तन ४. प्रपत्ति या शरणागति ५. गुरुमहिमा ६. सत्संग और वैराग्य।

रामानुजाचार्य, निम्बाकाचार्य, मध्वाचार्य और बल्लभाचार्य के सिद्धान्त विस्तार में न जाकर उनमें प्रचलित भक्ति की लोकस्पर्शिता और जनोन्मुखी प्रवृत्ति को समझने का उपक्रम ही इन पंक्तियों में किया गया है। भक्ति वस्तुत: आत्मा-परमात्मा के एकत्व की प्रतीति है। फलत: अनेक दार्शनिक मतों के माध्यम से मनुष्य और परमेश्वर के अनादि सम्बंध को भक्ति में विस्तार दिया गया है। महाभागवत का कथन है कि हरि का प्रिय बनने में वर्ण, कर्म, जन्म-जाति किसी का वंधन स्वीकार्य नहीं है। भक्ति और ईश्वर के प्रति अनुराग लौकिक निषेधों के पार की वस्तु है। भागवत में कहा गया है :

न यस्य जन्मकर्माभ्याम् न वर्णाश्रमजातिभि:।

संजाते अस्मिन्नहंभावो देहे वै स: हरे प्रिय:।।-भागवत ११/११/२

हरिप्रिय होना अर्थात् भगवद्भक्ति प्राप्त करना सबका जन्मजात अधिकार है।

ध्यातव्य है कि भक्ति के आचार्यों ने दार्शनिक अवधारणाओं पर विचार करते हुए जीव, परमेश्वर और संसार इन तीन इकाइयों को स्वीकार किया है। अत: प्रत्येक जीव भक्ति का अधिकारी है। इस प्रकार की अन्यान्य घोषणाएँ शास्त्रों में पदे-पदे मिलती हैं। भक्ति के आचार्य नारद ने तो भक्ति में प्रेम तत्व को ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्वीकार किया है। उनकी मान्यता है कि ईश्वर के चरणों में उत्कट अनुराग भक्ति का प्रथम अनुबंध है। भगवत् प्रेम के इस कार्य व्यापार में सवर्ण, शूद्र अथवा नारी-पुरुष के आधार पर कोई निर्णय नहीं होता। आचार्य नारद के नाम से भक्ति-शास्त्र में प्रेम, सख्य, वात्सल्य, दास्य तथा परमविरहादि एकादश आसक्तियाँ प्रचलित हैं। मुनि नारद कहते हैं : 'सात्वस्मिन परमप्रेमरूपा अमृत स्वरूपा च'। ईश्वर के चरणों में निरभिमानी बनकर शरणागत होना भक्ति का लक्षण है। आचार्य नारद भक्ति के स्वरूप पर विचार करते हुए कहते हैं कि अहंकार, द्वैतभाव, रूप, कुल की श्रेष्ठता का भाव, विद्या और धन सबका प्रभु में विलयन ही प्रपत्ति है : ।।नास्ति तेषु जातिविद्या रूप कुल धनप्रियादि भेद:।।

आचार्य रामानुज, निम्बार्क, मध्व तथा बल्लभ की भक्ति का केन्द्रीय भाव ईश्वर और जीव का एकात्म होना है। 'राधामाधव माधवराधा कीट भृंग गति ह्वै जू गयी' इस सिद्धांत के आलोक में जब हम बल्लभाचार्य के पुष्टिमार्ग का निरूपण करते हैं तब वर्ण, जाति, ऊँच, नीच, स्पृश्य, अस्पृश्य किसी भी सांसारिक उपाधि की उपस्थिति वहाँ वर्जित होती है। अत: कतिपय विद्वानों की यह धारणा कि भक्ति शास्त्रानुमोदित होकर मात्र सिद्धान्तों के तर्कजाल में ही उलझी रहती है-अथवा वर्ग विशेष की चेरी बनी रहती है-सत्य से परे है। ऐसे शास्त्रहंता शास्त्रों के प्रति शस्त्रबद्ध हो आक्रमण की तलाश में तत्पर दिखायी देते हैं। संभवत: ऐसे मतिवालों को यह ज्ञात नहीं कि लोक में उपजी प्रवृत्तियाँ अथवा मानवमन से निकले भावोच्छ्वास ही कालांतर में शास्त्र के सूत्र बनते हैं। आलवार और नायनार विष्णु और शिव की आराधना में इस सीमा तक तल्लीन होते थे कि अपनी 'सुध-बुध' खो बैठते थे। स्वयं पुरुष हैं अथवा स्त्री, स्त्री, भी हैं तो अपनी लौकिक मर्यादाएँ भूलकर भक्तिमय हो जाती थीं। कालांतर में उनकी प्रेममयी साधना को रामानुज इत्यादि आचार्यों ने सूत्रबद्ध किया। वही भक्ति शास्त्र का सिद्धांत कहा गया। अत: शास्त्र और लोक का पार्थक्य कर भक्ति सिद्धांतों की मीमांसा संभव नहीं है। भक्ति मोक्ष-प्राप्ति का सरलतम मार्ग है। न इसमें सवर्ण होने की आवश्यकता है न शास्त्रज्ञ बनने की। यहाँ तो प्रेम ही पर्याप्त है। अत: लोकपक्ष से भक्तिमार्ग का जितना सामीप्य है उतना किसी अन्य साधना पद्धति का नहीं। भक्तिमार्ग की लोकप्रियता का कारण भी यही है।

भक्ति की यह स्रोतस्विनी चौदहवीं-पंद्रहवीं शती तक अपने प्रवाह का

विशाल और विस्तृत पाट तैयार कर चुकी थी। आचार्य रामानंद (१२९९-१४१० ई.) यद्यपि रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत सिद्धांत से पूर्णत: सहमत थे फिर भी युगीन संदर्भों की आवश्यकता को समझते हुए पूर्वाचार्यों की परम्परा में उन्होंने 'रामावत सम्प्रदाय' का प्रवर्तन किया। भारतीय जनजीवन में चौदहवीं-पंद्रहवीं शती तक इसलामी शासन का प्रत्यक्ष हस्तक्षेप बढ़ गया था। अत: सैद्धांतिक मतवादों और धार्मिक सम्प्रदायों पर कई प्रकार के संकट थे। फलत: सनातनी हिन्दू परम्परा रक्षात्मक होने के कारण कहीं न कहीं संकीर्ण भी हो चली थी। भारतीय हिन्दू परकीय धर्मावलंबियों से अपने उपास्य, संस्कृति और सभ्यता को किसी भी मूल्य पर सुरक्षित रखना चाहते थे। फलत: उपास्य और आराध्य के प्रति परिस्थितिजन्य गोपन का भाव बढ़ने लगा। सर्वसुलभता कम हो गयी। कतिपय विकृतियों ने परस्पर द्वन्द्व का सृजन किया और धीरे-धीरे अनपढ़, निम्नवर्णी आलवारों-नायनारों द्वारा संचरित भक्तिमार्ग जो दसवीं से तेरहवीं शती तक शास्त्र का रूप पकड़ चुका था अब उन्हीं वर्णों के लिए असहज हो गया। इस प्रकार धर्मगत अनेक समस्याएँ और कालविशेष की रूढ़ियाँ समाज में विकृत रूप ग्रहण कर चुकी थी। परिणामत: भक्तिभावित मार्ग से सामान्य जन कुछ कटता और कम सटता सा प्रतीत हो रहा था। कतिपय वाह्य विभाजक रेखाएँ भी सगुण-निर्गुण के नाम से अपने-अपने रंग चटक कर रहीं थीं। उस समय सर्वाधिक प्रमुख रंग छूआछूत का दिखायी पड़ता था। स्वामी रामानंद की दृष्टि इस बदरंग को तीव्रता से क्षरित करना चाहती थी। अत: उन्होंने विष्णु के अवतारों में सर्वाधिक लोकप्रिय और ग्राह्य रामावतार को अपना आराध्य घोषित किया और सगुण-निर्गुण दोनों भक्ति पद्धतियों में रामावतार में निहित रामतत्व की अनिवार्यता स्थापित कर दी। 'दसरथ सुत तिहुं लोक बखाना राम नाम को मरम है आना' की उक्ति कबीर बड़ी प्रगल्भता से करते तो हैं, पर क्या राम के बिना उनकी भक्तिसाधना सिद्धावस्था को प्राप्त हो सकती है? वह कहते भी हैं 'राम वियोगी ना जिये जिए तो बौरा होय'। सगुण या निर्गुण राम जो भी हों उसे कबीर ने स्वामी रामानंद से ही ग्रहण किया है।

स्वामी रामानंद का चिंतन दिशाबोधक और कालातीत है। उन्होंने रैदास (चमार) को अपना शिष्य बनाया। सेन को दीक्षा दी। धन्ना जाट को राम सिद्धि का मंत्र दिया। कबीर जुलाहे थे। अन्य संत भक्त निम्न जातियों से आये थे; पर स्वामी जी के चिंतन में जीव, जगत और ब्रह्म की नित्यता में सांसारिक मान्यताएँ नगण्य थीं। यही कारण था कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, निम्न कुलोत्पन्न संत तथा जुलाहे तक को दीक्षित करने में उनकी लोकोन्मुखी दृष्टि सर्वत्र उदार दिखती है। उनकी द्वादश शिष्य परम्परा में सगुण का प्रभाव भी कम तेजस्वी नहीं था; पर इतना तो कहा ही जा सकता है कि उनके प्रत्यक्ष

शिष्यों में निर्गुण भक्ति धारा का प्रवाह अधिक वेगवान है। स्वामी रामानंद के प्रधान शिष्य अनंतानंद के शिष्य नरहर्यानंद थे। इन्हीं नरहर्यानंद के शिष्य गोस्वामी तुलसीदास ने सगुण भक्ति मार्ग का कैनवस इतना बड़ा बना दिया कि शेष साधनाएँ बौनी जैसी लगने लगीं। पर इसका तात्पर्य यह कदापि न लगाना होगा कि दोनों पद्धतियों में कहीं भी लोकोन्मुखता की न्यूनता दिखायी पड़ी हो। आज भी कबीर के नाम पर कबीरचौरा, सेन (नाई) के नाम पर सेनपुरा, नरहर्यानंद के नाम पर नरहरपुरा तुलसीदास के नाम पर तुलसीघाट जैसे मुहल्ले (उपनगर) बनारस में वैष्णव भक्ति की लोकसम्पृक्तता और लोकस्वीकृति पर अपनी गहरी छाप लगाते हैं। उन द्वादश शिष्यों की परम्परा में सुरसती और पद्मावती जैसी नारियों का सम्मिलित होना सर्वस्पर्शी भक्ति का एक और बड़ा प्रमाण है।

आचार्य रामानंद भक्ति के संदर्भ में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि : 'सर्वेप्रपत्तेरधिकारिणोमताः' अर्थात् प्रपत्ति सर्वजन के लिए है। सर्वजन का वह मौलिक अधिकार है। उसमें भेद या खण्ड दृष्टि का महत्व नहीं है। उसकी भित्ति समता, ममता और समरसता पर टिकी है। मायोपाधिक बंधन भक्ति के संदर्भ में ढीले पड़ जाते हैं। उसका सबसे वड़ा कारण यदि गोस्वामी तुलसीदास के शब्दों में कहा जाय : 'जगत् प्रकाश प्रकासक रामू' है। तात्पर्य यह कि एक ही ब्रह्म ज्योति से सभी ज्योतित हैं', एक जोति ते सब उत्पन्ना'। ईश्वर के सभी अंश हैं। उसी का लीलाविस्तार सृष्टि है। उसकी इच्छा का परिणाम संसार है। सवके उद्धार का आधार रामनाम है। सबमें राम का विस्तार है। राम में सबका अंश है। फिर शास्त्र और लोक का द्वन्द्व कहाँ? वर्ण, सवर्ण-विवर्ण का विवाद कहाँ? स्त्री-पुरुष का भेद कहाँ?

स्वामीरामानंद युगप्रवाह और सामयिक चेतना को पहचानने वाले भक्तिकाल के सवसे महनीय व्यक्तित्व हैं। उनके जीवनकाल और सम्प्रदाय विस्तार में संस्कृत भाषा की महत्ता सर्वस्वीकृत है। उनके हजार वर्ष पूर्व से ही समस्त भारतीय वाङ्मय पर संस्कृत का वर्चस्व स्थापित था। भरतमुनि, कालिदास, माघ, भास, भवभूति इत्यादि महाकवियों तथा बाणभट्ट प्रभृति रचनाकारों ने साहित्य के क्षेत्र में संस्कृत को माध्यम बनाकर विशाल संस्कृत-संसार का सृजन किया था। शताब्दियों उपरांत साहित्य सिद्धान्तों के निर्माणकार आचार्यों ने संस्कृत को एक विशाल फलक पर खड़ा कर उसके वैज्ञानिक स्वरूप को निखारा था। दसवीं से सोलहवीं शती तक तमाम धर्मग्रंथों की टीकाएँ, सम्प्रदायों के सिद्धांतों ग्रन्थों और बहुरंगी साहित्यों का सृजन हुआ। अभिनव गुप्त (९९०-१०२०) काव्यप्रकाशकार आचार्य मम्मट (११००ई.) इनके अतिरिक्त भट्टनायक, मुकुल, धनन्जय, महिमभट्ट, भोज, कुंतक ने संस्कृत भाषा में

साहित्य सृजन का ऐसा परिवेश बना दिया था कि आलोचक इसे टीका युग तक कहने लगे थे। कहना न होगा कि सम्पूर्ण सृजन का एकमात्र आधार उस समय भाषा के रूप में संस्कृत ही थी। यह समूचा परिवेश रामानंद के समक्ष था। फिर भी उनकी लेखनी जनभाषा-लोकभाषा हिन्दी में अपनी धार पैनी करती दिखायी पड़ती है। उनके द्वारा रचित भजनों, कवित्तों और भक्तिपरक कई एक ग्रंथों की चर्चा हिन्दी में प्राप्त होती है। आचार्य रामानंद की यह जनपरख असाधारण तो कही ही जाएगी-लोकोन्मुखता से परिपूर्ण भी है। उस युग में हिन्दी का प्रयोग दुरूह, प्रगतिशीलता से युक्त लोकोन्मुख तथा साहस भरा कदम था। इसका तात्पर्य यह नहीं कि संस्कृत में स्वामी रामानंद ने रचनाएँ की ही नहीं। 'अध्यात्मरामायण', 'रामार्चनपद्धति', 'ब्रह्मसूत्रभाष्य, 'वैष्णवमताब्जभास्कर' जैसे सिद्धांतपरक कई संस्कृत ग्रन्थों का सृजन उनकी अद्‌भूत मेधा का परिचायक है।

यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि प्राय: सम्पूर्ण भारत में भक्ति की गंगा का प्रवहन आचार्य रामानंद के भगीरथ प्रयास का ही परिणाम है। सगुण-निर्गुण भक्ति-गंगा का यह अविरल प्रवाह गत सात-सवा सात सौ वर्षों से रामानंदाचार्य का अनुगामी रहा है। उनके द्वादश शिष्यों द्वारा इस प्रवाह की गतिमयता निरंतर अभिवृद्धि को प्राप्त हुई है। सगुण-निर्गुण की तत्वत: समरूपता का निर्देश स्वामी रामानंद ने ही किया था। फलत: कबीरदास और रैदास सदृश भक्तिस्नात व्यक्तित्व जन्म लेते हैं और सगुण के भावों से समुद्रायित महात्मा तुलसीदास का अवतार होता है। ज्ञातव्य है कि स्वामी रामानंद के प्रधान शिष्य अनंतानंद के शिष्य नरहर्यानंद थे। गोस्वामी तुलसीदास के गुरु यही नरहर्यानंद थे। रामानंदाचार्य का अवतरण (जन्म) प्रयाग तथा साधना काशी में सम्पन्न हुई। एक सौ ग्यारह वर्ष के सुदीर्घ कालजीवन में रमने वाले महायोगी रामानंद की साधना भूमि काशी में अनेक ऐसे ऐतिहासिक साक्ष्य विद्यमान हैं जिनसे उनकी प्रामाणिकता और महत्ता का आँकलन किया जा सकता।

श्रीमठ पंचगंगा घाट सगुण-निर्गुण रामभक्ति धारा की आदिपीठ है। इसी आश्रम में स्वामी रामानंद के गुरु राघवानंद ने अपनी भक्ति साधना द्वारा महती कीर्ति अर्जित की थी। उनकी प्रगतिशील चेतना का अवतरण स्वामी रामानंद में पूर्णत: परिलक्षित होता है। पर समय की आवश्यकता और युग प्रवाह की चेतना को आत्मसात करते हुए स्वामी रामानंद ने १४वीं शती में रामावत सम्प्रदाय को पुनर्जीवित किया जो दार्शनिक दृष्टि से रामानुजी सम्प्रदाय से सन्निकट होते हुए भी आराध्य की दृष्टि से भिन्न था। विष्णु और लक्ष्मी की पौराणिक छबि से हटकर लोकछबि सम्पन्न शौर्य से परिपूर्ण श्रीरामसीता उनके आराध्य बनते हैं। ऐसे राम जो रावण जैसे दुर्दमनीय राजा

का संहार करते हैं, ऋषियों, भक्तों और संतों के त्राणदाता हैं। स्वयं धनुर्धर हैं। महाराज दशरथ और कौशल्या के पुत्र हैं। ऐसे राम भगवत्ता के स्वाभाविक गुणों से सम्पन्न हैं अत: गत सात-साढ़े सात सौ वर्षों से भक्ति की मंदाकिनी आचार्य रामानंद की अनुवर्ती रही है। उनकी भक्ति की यह मंदाकिनी अपने एक तट पर सगुण तो दूसरे पर निर्गुण का प्रवहन करती रही है। आचार्य रामानंद की प्रभविष्णुता, उदारता और धर्म के तात्विक स्वरूप की अचूक पहचान ने उन्हें युग चेतना का नायक बना दिया। अत: उनके आगे-पीछे सनाम और अनाम तमाम सम्प्रदायों का नाम जुड़ता गया। एक ही नहीं अनेक रामानंद का जन्म हुआ। उनका जीवन उनकी उदार प्रवृत्ति, उनके पुण्य श्लोक कार्य, उनकी अध्यात्म चेतना और सबसे बढ़कर उनकी युग चेतना ने उन्हें अमरता की श्रेणी में खड़ा कर दिया।

निष्कर्षत: कहा जा सकता है कि स्वामी रामानंद वैष्णव भक्ति प्रस्थान (आंदोलन) के ऐसे जननायक थे जो लोक और शास्त्र दोनों का समन्वय भलीभाँति जानते थे। परिणांमत: भारतीय समाज में वैष्णव भक्ति का सर्वाधिक प्रसार हुआ। उनके द्वादश शिष्यों में अधिसंख्य जनभाषा (हिन्दी) के ही कवि थे। उनके सम्प्रदाय में अधिसंख्य साधु कम पढ़े-लिखे थे। बहुत तो निरक्षर थे; पर जिसने भी रामनाम का महामंत्र ले लिया, भजन गाने लगा, त्रिपुण्ड लगाने लगा वह वैरागी भक्त हो गया। इस प्रकार सम्पूर्ण देश में अल्पतम साधनों द्वारा उच्चतम भक्ति सम्प्रदाय खड़ा करने का दूरदर्शी चिंतन स्वामी जी का था। यही कारण है कि रामानंदी साधुओं की असंख्य कुटियाँ और अगणित भक्त आज भी देश के प्रत्येक भूभाग में सहजता से मिल जाते हैं। यह स्वामी रामानंद के माध्यम से वैष्णव भक्ति प्रस्थान का मेरुदण्ड और सनातन हिन्दू समाज का एक महनीय आधारभूत कार्य है।

कहा जा सकता है कि समूचा भक्ति प्रस्थान (आंदोलन) शास्त्रबद्ध होते हुए भी लोकसम्बद्ध है। आचार्यों ने अपने उपास्य के शील, चरित्र और लीलात्मक कार्यव्यापारों को लोक की जनरंजनकारी भूमिका से अधिक जोड़ा है। राम-कृष्ण जैसे आराध्य सर्वत्र लोकमंगलमयी प्रवृत्तियों से जुड़े हैं। इसीलिए वैष्णव भक्ति प्रस्थान में प्रस्फुटित शतसहस्त्र धाराएँ शास्त्र का संस्पर्श करती हुई लोक की मधुमती भूमिका में अपना पर्यवसान कर देती हैं। कृष्ण का बालचरित्र, रसियारूप और योद्धा की भूमिका में इसी जनपक्ष का विस्तार है। राम का बनगमन, आदिवासियों से मित्रवत व्यवहार, जटायु का दाह-संस्कार, रावण का संहार, ऋषियों को त्राण आदि प्रसंग भक्ति की इसी लोकोन्मुखता के परिचायक हैं। लोकोन्मुखता के इस विस्तार में आचार्य रामानंद की अप्रतिम भूमिका है।

आचार्यरामानंद का सामाजिक चिन्तन पर प्रभाव

प्रो. कैलाशनाथ तिवारी

दुनिया की कोई भी आध्यात्मिक चिन्तन धारा समाज के बीच से पैदा होकर उस समाज में रहने वाले लोगों को अधिक से अधिक सुखकर बनाने के उद्देश्य से एक ऐसे लोक में विश्वास करने की प्रेरणा देती है जिसे हम आस्था वस निर्गुण-सत्ता का लोक कहते हैं। इसी निगुर्ण-सत्ता का दूसरा रूप सगुण है जिससे प्रेम करने में मनुष्य सहजता का अनुभव करता है। रामानन्द इसीलिए दोनों सत्ता में विश्वास करते थे। जिसकी प्रखर ज्योति कबीर और तुलसी में दिखायी देती है। रामानन्दजी के गुरु राघवानन्द विशिष्टाद्वैतवादी थे और योग-साधना में विश्वास करते थे। इतिहास के कालक्रम में रामानन्दजी का समय (सन् १२९९ ई०- १४१० ई०) तक स्थिर किया जाता है। यह लोदी वंश के उत्थान और पतन का काल है। समूचे मुस्लिम काल में (मुगलवंश को छोड़कर) हिन्दू-समाज की क्या स्थिति थी। यह सभी जानते हैं। इसलिए मैं इस पर विचार कर के तथ्यों का पिष्टपेषण नहीं करना चाहता। चूँकि यहाँ हमें रामानन्द की सामाजिक-पक्षधरता पर विचार करना है। इसलिए इस पक्ष से सम्वंधित कुछ महत्वपूर्ण बातों पर विचार करना उचित होगा।

मैं अपनी बातों को प्रश्नों के माध्यम से विचार करने में सहूलियत समझता हूँ।

१. प्रश्न यह है कि रामानन्द को वर्णव्यवस्था वाली परम्परा में बदलाव की जरूरत क्यों महसूस हुई? कुछ लोग दूसरा उत्तर मुस्लिम आक्रमण से पैदा हुई चुनौतियों के रूप में देते हैं तो कुछ लोग रामानन्द के जीवन में घटी कुछ घटनाओं से जोड़कर देखना चाहते हैं। मैं समझता हूँ कि इन दोनों तरह के विचारों के अतिरिक्त एक तीसरा विचार भी बहुत महत्वपूर्ण है। वह है रामानन्द की इतिहास-दृष्टि और बदलती हुई परम्परा में विकास मान एक ऐसी अन्तर्वर्त्ती-धारा जिसकी प्रतिध्वनि रामानुज को भी सुनाई दी थी और प्रायः दो सौ वर्षों बाद रामानन्द को भी।

२. मेरा दूसरा प्रश्न यह है कि रामानन्द ने जिस सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया उसमें लक्ष्मी और नारायण के स्थान पर सीता और राम को प्रमुखता देने की सोच में क्या कोई निश्चित सामाजिक-चिंतन धारा छिपी हुई थी? या उन्होंने केवल खिन्नता वश एक नव सम्प्रदाय के उन्नायक के लोभ से ऐसा किया ?

इस सम्बन्ध में यदि हम पूर्ववर्ती मध्यकालीन विचारधारा को देखें और भारत की अन्य भाषाओं में रामायण और महाभारत की कथाओं का आधार निश्चित करें और उसकी तुलना लक्ष्मी और नारायण से करते हुए जनभावनाओं में राम की उपस्थिति पर विचार करें तो स्पष्ट हो जायेगा कि रामानन्द जी ने राम की उपासना पद्धति पर विशेष रूप से राम पर बल क्यों प्रदान किया। इसी प्रश्न में हमें इस बात का भी उत्तर मिल जायेगा कि अब तक हाशिए पर रहने वाले राम-भक्त-हनुमान एकाएक क्यों रामानन्द के लिए महत्वपूर्ण हो जातें हैं।

३. मेरा तीसरा प्रश्न सगुण और निर्गुण को लेकर है। समूचे मध्यकाल के एक मात्र आचार्य रामानन्द हैं जो दोनों उपासना- पद्धतियों पर सहृदय बने हुए हैं। क्यों?

रामानुज, मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य-यानी मध्यकालीन दार्शनिक धाराएं मूलत: सगुणवादी रही हैं। इनके विचार के केन्द्र में ब्रह्म, माया, जगत और पूर्ववर्ती दार्शनिक अवधारणाएँ ही मुख्यत: विचारणीय रही हैं। दूसरी ओर सिद्धों और नाथों की परम्परा भी मुख्यत: निर्गुणवादी रही है। कबीरदास रामानन्दजी के ही शिष्य थे- निगुर्ण-सत्ता में ही विश्वास करते थे। इस कालखण्ड में दूसरी धारा चैतन्य महाप्रभु, वल्लभाचार्य, तुलसी और सूरदास आदि की विचाराधारा के केन्द्र में प्रमुख रही है। यानी इन पाँच सौ वर्षों में एक भी ऐसा भक्त नहीं है जो खुले रूप से (तुलसीदास को छोड़कर) निर्गुण और सगुण दोनों के महत्व की जरूरत इस काल विशेष के परिप्रेक्ष्य में समझे। समझते हैं तो केवल रामानन्द जी। इसलिए इनको हम एक ऐसा चिंतक कह सकते हैं जो युग की आवश्यकता के परिप्रेक्ष्य में पहली बार एक ऐसी समन्वयवादी-दृष्टि भक्तजनों के समक्ष प्रकट करते हैं जिसका अनुभावन करने से तत्कालीन-समाज में (हिन्दू) एकता के ऐसे सूत्र मिल सके जिनमें सभी जाति, धर्म और सम्प्रदाय के लोग अवगाहन करें। जाहिर है रामानन्द जी इस भावना को समझते थे। लेकिन इसमें सही प्रतिनिधित्व करने का श्रेय कबीर की अपेक्षा तुलसीदास को अधिक मिलता है।

४. मेरा चौथा सवाल यह है कि उपर्युक्त सारे सवालों पर अपना स्पष्ट

दृष्टिकोण रखने और उसे जनता में प्रचार करने के बावजूद भक्ति आन्दोलन समाज-परिवर्तन के स्तर पर अन्ततः असफल क्यों हो गया? रामानन्द के बारह प्रमुख शिष्य जो अधिकांशतः निचली जाति से आए हुए थे, और आगे चलकर लगभग सभी का एक अलग-अलग सम्प्रदाय बना, अपने गुरु रामानन्द के सपनों को साकार क्यों नहीं कर पाए?

यह एक ऐसा सवाल है जिससे हिन्दी-साहित्य का अध्येता टकराना नहीं चाहता। आए दिन इस तरह के सवाल हिन्दी विद्यार्थियों द्वारा पूछा जाता है, जिसका उत्तर देने में आचार्यगण असहजता का अनुभव करते हैं। क्योंकि वे मान चुके हैं कि भक्ति आन्दोलन अपनी सामाजिक और ऐतिहासिक भूमिका का निर्वाह करने में सफल था।

मैं समझता हूँ कि इस तरह की सोच से हमें मुक्त होना चाहिए और भक्ति आन्दोलन की समीक्षा तत्कालीन आर्थिक, सामाजिक और ऐतिहासिक वस्तुस्थिति के परिप्रेक्ष्य में बिना भेदभाव और आस्था से करना चाहिए। किसी भी तरह की विचारधारा के प्रणेता का सिद्धान्त जनसामान्य में लागू होना इस बात पर निर्भर करता है कि उसके अनुयायी और स्वयं समाज तथा सत्ता उस विचारधारा के प्रति कितनी सतर्क और आग्रही है। यानी विचारधारा का प्रतिपादन और उसकी प्रभावान्विति में स्वयं समाज, सत्ता और उस सिद्धान्त का अनुकरणकर्त्ता ही जिम्मेदार होते हैं। यदि हम भक्तिकालीन-समाज की संरचना पर ध्यान दें तो स्पष्ट होता है कि इस युग में अभी भी हिन्दू-समाज प्राचीन वर्णव्यवस्था की ही संरचना में जीवन जी रहा था। ऊँच-नीच, स्पृश्यता छोटे-बड़े का भेदभाव अभी भी इस समाज में बना हुआ था। लेकिन आर्थिक धरातल पर गाँवों का जो रूप था, वह एक दूसरे के ऊपर इतना अधिक निर्भर था कि बिना शूद्र की सहायता के ब्राह्मण का कार्य नहीं चल सकता था और ब्राह्मण भी खान-पान के स्तर पर अलग होते हुए भी बहुत हद तक शूद्र और वैश्य के आर्थिक-संरचना पर निर्भर था। यानी भारत के गाँव एक समन्वित-आर्थिक इकाई के रूप में इस तरह गुथें हुए थे कि सभी का जीवन एक दूसरे पर अवलम्बित था। वह जीवन न तो आपस में असन्तोष व्यक्त करता था और न ही अपना विरोध-भाव व्यक्त करने की स्थिति में था। ए०आर० देसाई के शब्दों में कहें तो भारत का गाँव अपने ही सामाजिक-शासन में निहित एक बन्द इकाई जैसा था। जिसमें किसी भी प्रकार के परिवर्तन की

गुंजाइश बर्रे के छत्ते में हाथ डालने जैसा था।

मुस्लिम-सत्ता इस व्यवस्था के बारे में गहरी जानकारी रखती थी। आप जानते होंगे कि मध्यकालीन-समाज में सत्ता बदलती है और इसी के साथ जमींदार, तालुकेदार और लगान लेने के कुछ नियम आदि तो बदलते रहते हैं। परन्तु खेती-बारी की पद्धति और खेत जैसी "मूल-आर्थिक-पूँजी" लगभग यथावत बनी रहती है। जिसके पास जितना हिस्सा खेत का है वह उसी के पास रहेगा, बशर्ते किसान लगान समय-समय पर चुकाते रहें। यह प्रणाली मुगलों तक (थोड़े से हेर-फेर के साथ) बनी रही। इसमें पहली बार परिवर्तन करने का जोखिम अंग्रेजों ने लिया। उनका क्या परिणाम हुआ, यह हम सभी जानते हैं। यानी मध्यकालीन सत्ता और समाज आर्थिक-स्तर पर अभी भी सामंती-व्यवस्था में जीते हुए विचारधारा के स्तर पर रुग्ण थे। ऐसी स्थिति में भक्तों और कविजनों की अवाज केवल निजी-सम्प्रदाय तक ही पहुँच पाती थी। जबकि जरूरी था उसका गाँव-गाँव तक पहुँचना।

दूसरी बात यह है कि मध्यकालीन सत्ता इस विषय पर कोई सोच नहीं रखती थी कि जो खेती-बारी से वंचित हैं, जो अभी भी भोजन के लिए दूसरों पर निर्भर हैं और जो निचली-जाति में शामिल हैं-उन्हें भी जीने का कोई न कोई सहारा होना चाहिए। क्योंकि वे ऐसा सोचते तो प्राचीन-व्यवस्था में परिवर्तन करना होता। इस तरह हिन्दू और मुस्लिम-समाज में आपस में संघर्ष छिड़ता। जिससे एक नयी व्यवस्था बनने की स्थिति दिखायी देती। जिसमें आर्थिक-स्तर और सामाजिक-स्तर पर बराबरी का भाव पैदा होता और इससे सन्तों का अभियान सफल होता। हलाँकि इस तरह के परिवर्तन की बात स्वयं सन्तों ने भी नहीं सोची थी। क्योंकि वे मूलतः भक्त थे। उनकी अपनी सीमा थी। वे समाज-सुधारक नहीं थे। ये बातें सत्ता और समाज के परिप्रेक्ष्य में कही गयीं। अब हम प्रणेताओं के अनुयायियों के बारे में विचार करें और देखें कि स्वयं उनलोगों ने अपने गुरुओं के प्रयत्न को किस तरह और किस रूप में आगे बढ़ाया।

इस सम्बन्ध में मैं बहुत दूर न जाकर स्वयं रामानंद जी के सम्प्रदाय में कितनी शिथिलता आई, इस ओर संकेत करना उचित समझता हूँ। हमें मालूम है कि रामानन्द जी ने अपने सम्प्रदाय में कंठी, माला और तिलक आदि का गूढ़ अर्थ भक्तों को बताया था। माला ईश्वर के प्रति अटूट मन लगाए रखने की प्रतीक थी जो लाख विघ्न पड़नें पर भी न टूटे। इसी तरह कंठी थी जो भावना की प्रतीक मानी गयी जो ईश्वर के रूप को भावना-प्रवाह में बहाए रखने की प्रतीक बतायी गयी थी।

सिर पर का तिलक ज्ञान का रूप था जिसे सिर पर चढ़ाए रखना एक भक्त के लिए जरूरी बताया गया था। इन सारी बातों को परवर्ती-भक्तों ने महज स्वांग का रूप दे दिया था। जिससे खिन्न होकर दादू के जीवनीकार माधव सनाढ्य लिखतें हैं कि-

आप कही किन भेष चलावत मालही कंठी किनधारा।
संत कहैं गुरु थाप रामानन्द माहीं, टीका कंठी विस्तारा।।
आप कहीं हम जान रामानन्द संत भए कुल भासैं लबारा।
भेष बनाव कहावत साधन, स्वांग प्रमोद किसे अनुसारा।।

(माधव-सनाढ़्य- १४वाँ)

कहना गलत नहीं होगा कि ऐसी ही स्थिति बुद्ध की विचारधारा के साथ घटी। पहले वह हीनयान और महायान सम्प्रदाय में बँटी। इसके बाद मंत्रयान, सहजयान, बज्रयान तक पहुँचते-पहुँचते अन्ततः हठयोग और गुह्य-तांत्रिक-साधना में विलीन हो गयी। कुछ इसी तरह की स्थितियाँ तुलसीदास के बाद राम के साधना में मधुरा भक्तों ने पैदा कीं जिसका एक ही उदाहरण काफी होगा-

हमारे पिय ठाढ़े सरजू-तीर,
छोड़ि लाज मैं जाय मिली, जँह खड़े लखन के बीर।
मुदु-मुसुकाय पकरि कर मेरो, खैंचि लियो तब चीर।
झाऊ की वृक्ष की झाड़ी-भीतर करन लगे रतिधीर।।

किसी भी सम्प्रदाय के ऐसे अनुयायी यदि मिल जाँय तो फिर कैसे आशा की जा सकती है कि उसके प्रवर्तक की सामाजिक-चिन्ता दूर कर सकेंगें या उनके मत की गरिमा को बनाए रखेंगें।

इसलिए हम कहना चाहते हैं कि रामानन्द के सपने को शायद आज का समाज और सत्ता तथा उनके अनुयायी वह रूप दे सकते हैं जो उन्होंने १४वीं, १५वीं शताब्दी के समाज के समक्ष रखा था। सच कहें तो अपने ढ़ेर सारे परिवर्तन के बावजूद आज भी भारत उन्हीं साम्प्रदायिक-समस्याओं में उलझा हुआ है, जिसमें मध्यकालीन-समाज उलझा हुआ था। रामानन्द ने तो हिन्दू से मुसलमान बने लोगों को भी पुनः हिन्दू-जाति में प्रवेश दिलाया और इसके खिलाफ जाने वाले लोगों से संघर्ष भी किया। वे रां रामाय नमः में समाज के संघर्ष को देखते थे और स्वयं उससे शक्ति ग्रहण करते हुए चतुः-सम्प्रदाय को संगठित किया। जिसमें

शामिल कुछ सम्प्रदाय के योगी तो शस्त्र और शास्त्र दोनों में विश्वास करते थे। कहना चाहूँगा कि सम्प्रदाय तो उनका रामानन्द-सम्प्रदाय नाम से प्रसिद्ध है लेकिन इस सम्प्रदाय में तमाम सम्प्रदायों को ताकत देने की ऊर्जा है।

●

मध्यकालीन भारतीय समाज में नारी : रामानन्द सम्प्रदाय का सन्दर्भ

डॉ. वेदप्रकाश मिश्र

सम्राट पृथ्वीराज चौहान का जिस काल में पतन हुआ, वह भारत का 'अन्धकार युग' था। एक ओर भारत वर्ष की राजनीतिक शक्ति छिन्न-भिन्न अवस्था में थी तो दूसरी ओर भारतीय धर्म, दर्शन और समाज अपने संक्रमण के दौर से गुजर रहे थे। लोगों को जोड़ने वाला धर्म, जिसे धारण करने से मनुष्य सच्चे अर्थों में मनुष्य बनता है, अपना स्वाभाविक स्वरूप त्याग कर विकृत हो चुका था। शैव, वैष्णव, शाक्त और कापालिक सम्प्रदाय एवं उसके अनुयायी आपस में संघर्षरत थे, तो दूसरी ओर बौद्ध और जैन धर्म स्वयं को मानव का एकमात्र त्राणकर्ता, मुक्तिदाता मान बैठे थे। उधर सिद्धों और नाथों की अटपटी बानी से जनता दिग्भ्रमित थी।[1] इड़ा, पिङ्गला, शून्य, समाधि और षड्चक्र के फेर में पड़ी साधारण जनता 'क्या सही है, क्या गलत?' इसका निश्चय नहीं कर पा रही थी। इनका आतंक इस तरह समाज पर हावी था, कि वह इनके समक्ष घुटने टेकने के लिए लाचार थी। उच्च वर्ग की अपनी एक अलग ही दुनिया थी, जिसमें साधारण जनता का कोई दखल न था। रही बात भारतीय पाण्डित्य जगत् की तो उसकी भी एक अलग चिन्ता थी। यहाँ निरन्तर शास्त्र को आत्मसात करना, शास्त्रार्थ एवं वाद-विवाद द्वारा अपने पाण्डित्य का प्रर्दशन करना, प्रतिपक्षी को पराभूत कर उसे अपमानित करना, प्रधान उपजीव्य ग्रन्थों पर टीका करना, उसकी उपटीका, उस उपटीका की भी उपटीका करना, भाष्यों का सृजन करना उसके लिए परमगौरव की बात मानी जाती थी। कौन पण्डित किस-किस विद्वान् को शास्त्रार्थ में पराजित किया, उसका क्या विषय था? किसने किन ग्रन्थों की टीका अथवा भाष्यों का प्रणयन किया है, उसकी चर्चा का प्रधान विषय हुआ करता था। इस प्रकार, यह वर्ग भी जनता और उसकी चित्तवृत्तियों, सरोकारों से कोसों दूर था।[2] इधर दिल्ली में जो नवीन राजनीतिक-सैनिक शक्ति शिहाबुद्दीन मुहम्मद गोरी के नेतृत्व में पश्चिमोत्तर भारत से आकर स्थापित हुई थी और जिसका संरक्षक कुतुबुद्दीन ऐबक व बख्तियार खिलजी था, वह निरन्तर शक्तिशाली एवं प्रभावशाली होती जा रही थी। हिन्दू मन्दिर व शिक्षा केन्द्र अपवित्र किए जा रहे थे। भारतीय सभ्यता व

संस्कृति के स्वर्णशिखर धूल-धूसरित हो रहे थे। चारों ओर सिर्फ नाश का तांडव हो रहा था। बालक, वृद्ध व कुलवधुओं के साथ अतिचार साधारण बात थी। भय और लालच का ऐसा बवंडर खड़ा किया जा रहा था जिससे समाज का एक बड़ा वर्ग इस्लाम धर्म का अनुयायी हो गया। धीरे-धीरे यह विजय-वैजयन्ती द्वार समुद्र व देवगिरि तक आ पहुँची और इस प्रकार देश का एक विशाल भू-भाग इस शक्ति के प्रत्यक्ष शासन के अधीन हो गया। अब भारत में दो वर्ग थे, एक शासक और दूसरा शासित। दोनों के स्वार्थ भी अलग-अलग थे। जीवन-पद्धति, आचार और धर्म भी अलग-अलग थे। एक स्वयं को विजयी मानता और दूसरे से उसे कोई सहानुभूति न थी। वह स्वयं को श्रेष्ठ मानता था और दूसरे को मनुष्य तक मानने को तैयार न था। इसके लिए देश की बहुसंख्यक जनता काफिर, दोजखी और बुतपरस्थ थी, जिसे धरती पर रहने का कोई अधिकार न था।[३] वह कुरान मजीद की उस आज्ञा को भूल गया था, जिसमें कहा गया था कि निःसन्देह अल्लाह के निकट वह मनुष्य सबसे अच्छा और श्रेष्ठ है, जो इंसान-इंसान में भेद नहीं करता।[४] दूसरी ओर भारतीय जनता थी, जो पहले वर्ग को अत्याचारी, आततायी, म्लेच्छ और आक्रमणकारी जाति भर मानती थी। इसे देखकर उसकी सोयी हुई जातीय चेतना, राष्ट्रीय गौरव व विवशता भरी खीझ उद्‌बुद्ध हो उठती थी। फलतः संघर्ष तो होना ही था और हुआ भी यही। एक ओर मुसलमानों का विजयी होने का दर्प उन्हें हिन्दुओं से दूर करता था तो दूसरी ओर इसकी आक्रामकता व अतिवादिता ने भी इससे भारतीयों को दूर किया। इन सब के अतिरिक्त इस्लाम धर्म की सांगठनिक दृढ़ता भी प्रतिरोध का कार्य किया।[५] संवाद की बात दूर इन्हें एक दूसरे को देखना तक न सुहाता था। इस खाई को और चौड़ा करने में तत्कालीन शासकों, अमीरों एवं काजी-उलेमाओं ने भी अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इनके अपने स्वार्थ, एकांगी सोच और अदूरदर्शी संकीर्ण मनोवृत्ति ने भी दोनों धर्मों व उसके अनुयायियों को दूर करने का कार्य किया।[६] फलतः एक दूसरे को शंका की दृष्टि से देखते थे। ऐसी स्थिति में एक सामंतवादी व धर्मान्ध समाज में नारी की क्या दशा रही होगी, इसका सही-सही अन्दाज लगाया जा सकता है। जहाँ का राजन्य वर्ग एवं पाण्डित्य जगत् स्वयं दिग्भ्रमित हो, वहाँ शिक्षा की प्रकृति, नारी की सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक दशा कैसी होगी, यह समझा जा सकता है। यह काल समाज के अधःपतन का काल था। प्राचीन भारत का गौरव, वैभव व ऐश्वर्य नष्ट हो चला था। स्त्रियाँ देवी पद से गिरकर भोग्या बन रह गयीं थीं। इसमें भारतीय साधनाजगत्, समाजनियामकों व विदेशी शक्तियों की महत्वपूर्ण भूमिका थी।

आरंभ करते हैं मध्यकाल के प्रथम सोपान से, जिसे हम 'हर्ष का परवर्ती काल' कहते हैं। यह वह समय था, जब बौद्धों की महायान शाखा विकृत होकर वज्रयान सम्प्रदाय के रूप में देश के पूरबी भागों में विशेष रूप से फलफूल रहा थी। तंत्र-मंत्र, काय-साधना व इड़ा-पिंगला के फेर में पड़े इन बौद्ध तांत्रिकों के बीच वामाचार अपनी चरम सीमा को पहुँच गया था। ये बिहार से लेकर असम तक फैले थे और सिद्ध कहलाते थे।[७] मांस, मदिरा, मैथुन, मीन और मुद्रा इन पंचमकारों के सेवन को ही सर्वस्व मानने वाले समाज को कैसी दशा व दिशा तक पहुँचा सकते थे, यह समझने की बात है। 'चौरासी सिद्ध' इन्हीं में हुए हैं, जिनका परम्परागत स्मरण जनता को अब तक है। इन तांत्रिक योगियों को लोग अलौकिक शक्ति सम्पन्न समझते थे। ये सिद्ध अपने मत एवं समाज-दर्शन का संस्कार जनता पर ही डालना चाहते थे। इसे वे संस्कृत रचनाओं के अतिरिक्त अपनी बानी अपभ्रंशमिश्रित देशभाषा या काव्यभाषा में निरन्तर सुनाते रहते थे[८] और ऐसी अटपटी बानी से जनता को चमत्कृत करना चाहते थे, जो उसकी समझ में न आये। पाण्डित्य जगत् की निंदा, दक्षिणमार्ग का खण्डन और वामाचार-संभोग, मद्य व मांस का दुष्प्रचार इनका मुख्य उद्देश्य रहा। पाँच जाति की स्त्रियों का सेवन इनकी साधना का अनिवार्य अंग था। यथा, सिद्ध कण्हपा डोमिनी का आह्वान करते हुए कहते हैं -

नगर बाहिरे डोबी तोहरि कुडिया छइ। छोइ जाइ सो बाह्म नड़िया।
आलो डोंबि! तोए सम करिब न सांग। निघिण कण्ह कपाली जोइ लाग।।
एक्कु सो पदमा चौषट्ठि पाखुड़ी। तढ़ि चढ़ि नाचअ डोबी बाबुड़ी।।
हालो डोंबी! तो पुछमि सदभावे। अइससि जासि डोंबी काहरि नावे।।

अंतस्साधना पर जोर व पण्डितों को फटकारते हुए सरहपा कहते हैं-

पंडिअ सअल सत्त बक्खाणइ। देहहि रुद्ध बसंत न जाणइ।
अमणागमण ण तेन बिखंडिअ। तोवि णिजल्लइभगइहउँ पंडिया।।[९]

तो वारुणी अन्तर्साधना पर विरूपा कहते हैं-

सहजे थिर करि वारुणि साध। अजरामर होइ दिट काँध।
दशमि दुआरत चिह्न देखइआ। आइल गराहक अपणे बहिआ।
चउशठि घड़िए देट पसारा। पठइल गराहक नाहि निसारा

कण्हया पाँच वर्ण की स्त्रियों के सेवन की बात कहते हैं-

एकण किज्जइ मंत्र न तंत। णिअ धरणी लइ केलि करंत।

णिअ घर घरणी जावण मज्जइ। तावकि पंचवर्ण बिहरज्जर।
जिमि लोण बिलज्जइ पाणिएहि, तमि धरिणी लइ चित्त।
समरस जइ तक्खणे जइ पुणु ते सम नित्त ॥

अर्थात् जिस प्रकार पानी में लवण विलीन हो जाता है, उसी प्रकार यदि गृहणी में चित्त लगा दे तो तत्क्षण समरसता जायमान हो जायेगी।

इन तांत्रिकों, सिद्धों के षडयंत्र से बचने का उल्लेख स्वयं करते हुए ये सिद्ध कहते हैं कि कापालिक योगियों से बचने का उपदेश घर-घर में सास-ननद आदि देती रहती थीं, फिर भी वे इनकी ओर आकर्षित होती रहती थीं। काम के वश हुए इन अन्धों को वे कुलवधुएँ गोपियाँ और आप श्रीकृष्ण दिखलाई पड़ता है।

राग देस मोह लाइअ छार। परम भीख लवए मुत्तिहार।
मारि सासु नणंद घरेशाली। माह मारिया, कण्ह भइल कबाली।।[१०]

और भी,

नाड़ि शक्ति दिअ धरिअ खेद। अनह डमरू बाजइ बीर नादे।
काण्ह कपाली जोगी पइठ अचारे। देह नअरी बिहरइ एकारे।।
असुरी निंद गेल, बहुड़ी जागअ। कानेट चोर निलका गइ मागअ।
दिवसइ बहुणी काढ़इ डरे भाअ। रति भइले कामरू जाअ।

इस सम्बन्ध में आचार्य शुक्ल बड़ी सटीक टिप्पणी करते हुए कहते हैं- 'निर्वाण के तीन अवयव ठहराये गये- शून्य, विज्ञान और महासुख। उपनिषद् में तो ब्रह्मानन्द के सुख के परिणाम का अंदाजा करने के लिए उसे सहवास सुख से सौ गुना कहा था, पर वज्रयान में निर्वाण के सुख का स्वरूप ही सहवास सुख के समान बताया गया। शक्तियों सहित देवताओं के 'युगनद्ध' स्वरूप की भावना चली और उनकी नग्न मूर्तियाँ सहवास की अनेक अश्लील मुद्राओं में बनने लगीं, जो कहीं-कहीं अब भी मिलती हैं। रहस्य या गुह्य प्रवृत्ति बढ़ती गयी और 'गुह्यसमाज' या 'श्रीसमाज' स्थान-स्थान पर होने लगे। ऊँच-नीच कई-कई वर्ण की स्त्रियों को लेकर मद्यपान के साथ अनेक विभत्स विधान वज्रयानियों की साधना के प्रधान अंग थे। सिद्धि प्राप्त करने के लिए किसी स्त्री का (जिसे शक्ति योगिनी या महामुद्रा कहते थे) योग या सेवन आवश्यक था। इसमें कोई संदेह नहीं कि जिस समय मुसलमान भारत में आये, उस समय देश के पूरबी भागों में (विहार, बंगाल और उड़ीसा में) धर्म के नाम पर दुराचार फैला हुआ था।[११]

पृथ्वीराज चौहान की पराजय के साथ दिल्ली में इस्लामी शक्ति का विधिवत

संस्थापन हुआ। काल के अनुसार इसकी विजय-पताका सुदूर दक्षिण तक पहुँच गयी। किन्तु नारी के सम्बन्ध में इसकी भी दृष्टि एकांगी व संकीर्ण ही थी। हजरत मुहम्मद-बिन-अब्दुल्ला ने यद्यपि इस्लाम में स्त्रियों को एक मुकम्मल जगह दी थी किन्तु विडम्बना यह रही कि नारी के साथ सर्वाधिक अमानवीय व्यवहार इसी मजहब के मानने वालों ने किया। वह मुहम्मद साहब की आज्ञाओं को तिलाञ्जलि दे सुरा-सुन्दरी को सर्वस्व मान बैठा। उसकी बुद्धि में जाने कहाँ से पराजित जाति के कत्लेआम की बात समा गयी। स्त्रियों, वृद्धों व बालकों का संरक्षा देने वाला इस्लाम व उसके अनुयायी अपनी धर्मान्धता तथा हिंसक, रक्तपिपासु मनोवृत्ति के कारण सर्वाधिक उन्हें ही अपनी हिंसा बुद्धि व हवस का शिकार बनाया। कोमल कलिका सी भारतीय कन्याओं व कुल वधुओं का शीलहरण करना उसकी फितरत बन गयी। धर्म एवं चरित्र के हनन की ऐसी घटना शायद ही किसी देश के इतिहास में देखी गयी हो। मलिक मुहम्मद जायसी इस सम्बन्ध में वेलाग टिप्पणी करते हुए कहते हैं कि चित्तौड़ की सारी स्त्रियाँ जौहर कर लीं और पुरुष युद्ध में मारे गये। बादशाह ने चित्तौड़ पर अधिकार कर लिया और उसे मुसलमान बना दिया-

जौहर भई सब इस्तिरी, पुरुष भये संग्राम।
पातासाहि गढ़ चूरा, चितउर भा इस्लाम।।
और अमीर खुसरों कहता है-
दास्ताने फतहे रणथम्भोर कन्दर यक गजा।
गस्त अज़ॉ सॉं दारे कुफ़्रे दारे-इस्लाम दरकज़ा।[१२]

किन्तु इस स्वीकृति में दोनों की मन: स्थिति में भारी अन्तर है। एक विशुद्ध भारतीय होकर इस अतिचार को रेखांकित करता है, तो दूसरा रक्तपिपासु शख्स के रूप में, जो स्वयं को विजयी मानता हुआ, प्रतिपक्षी को विधर्मी मानता हुआ उनकी कुलवधुओं के महान् त्याग को, उनके रूप-शील को वासना भरी दृष्टि से देखता है। वह अपनी इस कुत्सित दृष्टि का परिचय देते हुए कहता है- "और वह जहन्नुमी राय, ईश्वरी कोप की बिजली से सर से पैर तक जल कर, पत्थर के दरवाजे से इस कदर उछलकर आया, जैसे पत्थर से आग उछलती है और उसने अपने को पानी में डाल दिया। वह जहाँपनाह के दरवार की ओर दौड़ा और तलवार की बिजली से बच गया। ...सुल्तान का गुस्सा ठण्डा नहीं हुआ था। ...और हुक्म दिया कि जहाँ-जहाँ हिन्दू जवान दिखे, घास-फूस की तरह जला डालो। एक दिन बादशाह की प्रचण्ड आज्ञा से तीस हजार दोजखी लोग काट दिये गये।...बादशाह ने उन सभी हिन्दुओं को, जो इस्लाम की परिधि से बाहर पड़ते थे, कत्ल कर

डालने का कर्तव्य काफिरों का वध कर डालने वाली अपनी दुधारी तलवार को इस तरह सौपा कि अगर आज के दिन राफिजी अर्थात् भिन्न मत रखने वाले, नाम को भी इन काफिरों के हक की माँग करे तो सच्चे सुन्न लोग ईश्वर के इस खलीफा का समर्थन कसम खाकर करेंगे।''[१३] ''पहाड़ की चोटी पर लाल फूलों के पर्वत की भाँति ऊँची आग जलाई और अनार की तरह कठोर स्तनों वाली सुन्दरियों को जो उस किले में पली थीं, आग में झोंक दिया।[१४] जब अपने को सबसे बड़ा हिन्दी कहने वाला, सूफियों का झंडाबरदार मानने वाला तथाकथित उदार व इस्लाम का सच्चा अनुयायी अमीर खुसरो ऐसी रक्तपिपासु मनोवृत्ति रखता है, तो उस काल में स्त्रियों व भारतीय बहुसंख्यक वर्ग की क्या दशा रही होगी, समझा जा सकता है। ऐसी ही घटना शेरशाह सूरी ने भी घटित की थी, जिसमें हिन्दू राजा की रानियों व रियाया के साथ उसने यही व्यवहार किया था।[१५] इस सम्बन्ध में नानक अपने हृदय की हाहाकार, पीड़ा और व्यथा को व्यक्त करते हुए कहते हैं-

खुरसान खमसान कीया हिन्दुस्तान डराइया।
आपै दोस न देई करता जपु करि मुगल चढ़ाइया।
एतीमार पई कुर लाणै तै की दरदु न आइया।।

× × ×

जिन सर सोहन पटीआ माँगी पाइ संधूर।
ते सिर काती मुनी अहि गल बिचि आपै धूड़।

× × ×

भंड जमी अै भंडि निमीअे भंड मंगण बीआहु।
भंडहु होवै दोस्ती भंडहु चलै राहु।।
भंड मुआ भंड मालीअे भंड हो वे बंधान।
सोउ किउ मन्दा आखी अहि जित जंभै राजान।।

अर्थात् जिसकी केशराशि की माँग के बीच सिंदूर सजाया जाता है, उसी का सुन्दर केश काट दिया जाता है। जन्म देने वाली भी नारी, पत्नी के रूप में भी नारी, फिर उसकी अवमानना क्यों?[१६] इसी तरह गुरुनानक भारतीय समाज में नारियों की दयनीय अवस्था का वर्णन करने वाले प्रथम भक्त कवि हैं। उदार एवं मानववादी दृष्टि से समन्वित उनका महान् व्यक्तित्व परवर्ती भक्ति काव्य को एक नयी दिशा देता है। इसके बाद भक्तिकाल में नारी की अनुभूतियों, परवशता व जीवन-संघर्ष का वर्णन मीराबाई में होता है, जहाँ परदेखी नहीं, स्वानुभूति की

मार्मिक अभिव्यक्ति होती है। नारी हृदय की वेदना, उत्कट अनुराग एवं समाज की कठोर पाबंदियों में छटपटाती एक नारी की अकुलाहट उनके काव्य में देखी जा सकती है। इस संबंध में शिव कुमार मिश्र 'भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य में' लिखते हैं कि 'मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन अपने समय का एक महान् सांस्कृतिक आन्दोलन था। अपने युग संदर्भों में वह एक क्रान्तिकारी सामाजिक आन्दोलन तथा जन आन्दोलन भी था। भक्ति आन्दोलन की इस क्रान्तिकारी लोकोन्मुखता ने जिस तरह वर्ण व्यवस्था और दूसरे सामाजिक विधि-विधानों के तहत सदियों से यातनाग्रस्त शूद्रों और अन्त्यजों की व्यथा को उन्हीं की पंक्ति से आये संतों की वाणी के माध्यम से मुखर किया, उसी तरह भक्ति आन्दोलन के इस ज्वार ने शूद्रों और अन्त्यजों की ही भाँति सामाजिक भेदभाव की यातना से ग्रस्त, सदियों से पीड़ा झेलती हुई नारी के अन्तर्मन को भी अपनी आशाओं-आकांक्षाओं तथा स्वप्नों के साथ समाज की सतह पर ला दिया।...मीरा इसी भक्ति-आन्दोलन की अनूठी देन हैं। उनकी कविता नारी के अन्तर्मन की उस घुटन व तड़प का प्रतिनिधित्व करती है।[१७] इस संदर्भ में डॉ. आर.एस. प्रजापति का विचार है कि 'मीराबाई मूलत: सगुणोपासक थीं। उनकी वाणी में जीवन-संघर्ष, शृंगार-वियोग एवं संयोग, भक्ति, विनय निवेदन तथा राम और कृष्ण से सम्बन्धित साम्प्रदायिक भाव से युक्त पद मिलते हैं।''[१८]

मीरा प्रसिद्ध संत रविदास (रैदास) की शिष्या थीं, जो स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। भक्ति-भावना, उदारता और प्रेम भावना की सहज अभिव्यक्ति उनकी कविताओं में देखा जा सकता है। इसका भी प्रभाव मीरा पर पड़ा था। कृष्ण की माधुर्यभाव से उपासना करने वाली मीरा ने इसी उदार भावना से अनुप्राणित होकर कृष्ण के साथ-साथ राम की भक्ति से सम्बन्धित पदों की रचना की थी।

मीरा दासी राम की ने, राम गरीब निवाज।
मीरा की लज्या राख्यो, मारी बाँहै ग्रह्यानी लाज।।[१९]

× × ×

हारे जेणे राम तणा गुण गाया, तेणे जमना मार न खाया,
हारे गुण गाय छे मीराबाई, तमे हरि चरणे जाओ धाई।[२०]

मीरा का विवाह चित्तौड़ के राणा सांगा के ज्येष्ठ पुत्र भोजराज से (सन् १५१६) हुआ था किन्तु दुर्भाग्य से वह १५२३ में दिवंगत हो गये, जिससे मीरा के अंतर्मन में विद्यमान अव तक अप्रकट अन्त:संघर्ष प्रकट रूप से उनके जीवन का अंग बन गया। मीरा तत्कालीन प्रथा के अनुसार सती नहीं हुई क्योंकि वे स्वयं

को अजर-अमर की चिरसुहागिनी मानती थीं-

जग सुहाग मिथ्या की सजणी हांवा हो मिट जासी।

वरन कर्‌याँ हरि अविनाशी म्हारो काल-व्याल न खासी।।

राजरानी मीरां का यह निश्चय मेवाड़ के राजघराने के लिए सर्वथा अप्रत्याशित था। परन्तु मीरा अब तथाकथित लौकिक बंधनों से पूर्णतः मुक्त होकर निश्चित भाव से साधु संगति एवं भक्ति में अपना समय व्यतीत करने लगीं।[२१] यह वह समय था जब नारी का अपने स्वजनों के अलावा अन्य किसी के साथ उठना-बैठना, बोलना सामाजिक दृष्टि से अपराध था। घूँघट अथवा परदे में रहना उस की नियति थी, किन्तु मीरा ने इस लक्ष्मण रेखा का अतिक्रमण किया, जो उस युग की एक क्रान्तिकारी घटना थी। यह तत्कालीन समाज को असह्य था। उसकी बनायी युगों-युगों से सुदृढ़ दीवार पर मीरा ने तगड़ी चोट पहुँचाई थी। ऐसी चोट जिससे पूरी दीवार कंपायमान हो उठी। फलतः इसका प्रतिरोध भी मीरा को सहना ही था, जिसकी पहली परिणति देवर विक्रमाजीत द्वारा मीरा को विष दिया जाना रहा। मीरा के समय में पति की मृत्यु हो जाने पर नारी या तो सती हो सकती थी, या फिर घर की दीवार से सिर टकरा-टकरा कर वैधव्य-जीवन जीने को विवश थी। मीरा ने दोनों को चुनौती दी। उन्होंने तत्कालीन समाज-व्यवस्था को नकारते हुए उसके द्वारा निर्धारित लोक लाज को त्याग दिया। अपने आराध्य को जीवन सर्वस्व मान लेने व उसके लिए सब कुछ छोड़कर दर-दर भटकती हुई मीरा कहती हैं- अँसुवन जल सींचि-सींचि, प्रेम बेलि बोई।' 'सावन माँ उमग्यो म्हारो हियरा, भणक सुव्या हरि आवण की।''

मीरा का जीवन स्वत्व की रक्षा के लिए संघर्ष की एक प्रेरणामयी कहानी है। उन्होंने पीहर छोड़ा, राणा का देश छोड़ा, लोक-लाज व कुल की मर्यादा छोड़कर दर-दर भटकती रहीं...पर साँवरिया के प्रेम में व्याकुल हो उसे ढूँढ़ने से न हिचकीं। एक मध्यकालीन स्त्री का ऐसा संघर्ष निश्चय ही अटल साहस और विश्वास की सूचना देता है, वह यह भी प्रकट करता है कि ऐसा संघर्षमय व्यक्तित्व बंधन के पिंजरे में नहीं बँध सकता।[२२] मीरा घोषित रूप से कान्हा को अपना पति कहती, भक्ति में बेसुध हो नाचने लगतीं। उनका यह आचरण अमर्यादित कोटि में गिना गया। राज-परिवार से जुड़े होने के कारण वे सीधे राज-परिवार के कोप का भाजन बनीं। उनके आचरण को राजपरिवार तथा राजकुल की मर्यादा तथा प्रतिष्ठा के खिलाफ करार दिया गया। पर मीरा न डिगीं। उन्होंने सबको ठुकरा दिया, और निर्भय होकर कहा-

राजा रूठ्याँ नगरी त्यागाँ, हरि रूठ्याँ कठ जाणा।
राजा भेज्याँ बिखराँ थाडा, चरणामृत पी जाणा।।[२३]

अर्थात् राजा रूठेगा का तो अपनी नगरी ही तो लेगा, परन्तु यदि हरि रूठ गया तो फिर मैं कहाँ, किसके पास जाऊँगी।

मीरा की कविताओं में मध्ययुगीन भारतीय नारी जीवन पूरे यथार्थ रूप में अभिव्यक्त हुआ है। वह मुखर होते हुए भी उस मार्मिक वेदना से जूझ रही हैं, जिसे उसे अकेले जीना है। इसीलिए मीरा कहती हैं, 'घायल की गति घायल जाणै और न जाणै कोय'। मीरा को अपने नारी होने व नारी के अबला होने का उन्हें पूरा अहसास था। उनके अनेक पद उनकी इस असहायता का वोध कराते हैं। 'यह तड़प और घुटन समाज तथा लोक के उन आदर्शों, रीति-रिवाजों, मान्यताओं और मर्यादाओं की पोल खोलते हुए भक्ति के आवरण में ही मूर्त हुई है, जिनके तहत नारी सदियों से गीली लकड़ी की तरह धुंधुवाते हुए जलती रही है और लोक तथा समाज, जिसके इस तरह धुधुवाने और जलने को ही जिसके नारीत्व की सार्थकता मानता रहा है। इस प्रकार देखा जाय तो मीरा ने एक तरह से सम्पूर्ण नारी जाति के अब तक के अनभिव्यक्त और अनकहे को कहा है, प्रत्यक्ष भी और अपरोक्ष भी।[२४]

गबरी बाई का डूँगरपुर के बड़नगरा नागर परिवार में संवत् १८१५ में जन्म हुआ था। पाँच वर्ष की अल्पायु में विवाह और एक सप्ताह पश्चात् ही पति की मृत्यु ने गबरी के बाल मन पर गहरा आघात पहुँचाया और संसार के प्रति विराग का जन्म हुआ, जो वय बढ़ने के साथ क्रमशः बढ़ता ही गया। गिरधारी नटवर नागर कृष्ण के साथ-साथ इन्होंने राम का भी समान भाव से स्मरण किया है। यदि यह कहा जाये कि गबरीबाई के आराध्य राम ही रहे हैं, तो यह अधिक उपयुक्त होगा। डॉ. आर.एस. प्रजापति ने भी इन्हें रामानंद सम्प्रदाय से माना है।[२५] स्वयं गबरी स्वीकार करती हुई कहती हैं कि सतगुरु ने मेरा सब संशय, संकल्प-विकल्प नष्ट कर मेरे प्रभु का मुझे साक्षात्कार करा दिया है।

"सतगुरु संशय संकल्प मेट्यो, सन्मुख गबरी दरस कर्‌यो।"

इनकी रचनाओं में पद, भजन, गरबी, साखी आदि का सुन्दर प्रयोग मिलता है। डॉ. मोतीलाल मेनारिया ने फुटकल पदों की संख्या लगभग ६१० मानी है।[२६] जिसमें इन्होंने संसार के सभी भोग-विलासों को क्षणिक मानकर इन्द्रिय सुखों के असार माना है। इनका विचार है कि इन्हीं इन्द्रियों से प्रेरित होकर मनुष्य भोग विलास में डूब जाता है। फलतः जीवात्मा के लिए बार-बार गर्भ का बन्धन तैयार

हो जाता है। इस सब से परित्राण पाने का एकमात्र उपाय सद्गुरु का प्रताप ही है। जिनकी कृपा से भवसागर पार हो जाता है। यहाँ पर गवरी के अन्तर्मन की पीड़ा, वैधव्य जीवन का क्लेश, वेदना और प्रेम भाव ही ईश-कृपा व सद्गुरु की दयादृष्टि की आकांक्षी है। नारी मन की पवित्र और निर्मल अन्त:वृत्ति ही यहाँ पर सात्त्विक रूप ग्रहण कर निम्न रूप में प्रकट हुआ है-

१. *गुरु दिया कृपा कर ज्ञान, मेरे मन भाया ।।टेक।।*
राम नाम का समरण दीना, त्रिकुटी में ध्यान लगाया।[२७]

× × ×

२. *मेरो राम नायक बणझारो.... मेरो।*
चौदह भुवन की रची बादली वो, माया मार लदाणो। ...मेरो।[२८]

कहीं-कहीं पर वह मीरा के रूप में हमारे सामने आती हैं। तब यह निश्चय करना कठिन हो जाता है कि यह मीरा हैं अथवा गरबीबाई। भाव, भक्ति, भाषा, तन्मयता और सांवले-सलोने कृष्ण की 'मोहनिमूरति' सभी कुछ मीरामय हो जाता है-

बाँके चलत हो मोहन, बाके हो गिरधारी रे।
बाँको मुगट बन्यो मनमोहन, कुंडल की छब न्यारी रे।
बाँकी भुजा सोहे अति सुन्दर, बाँकी अलक घुंघट पाली रे।
बाँकी लटको लालन तेरी बाँकी कुबजा नारी रे।
बाँकी मुरली माधुरी मोहन ललित त्रिभंगी मनहारी रे।

× × ×

गबरी कहै तेरी बाँकी बात है, अगम अपार अटारी रे।।[२९]

अथवा

'सुन्दर फूले सरदरत शोभा, सोहामणी रे लोल'

गबरीबाई के पदों में योग व ब्रह्मज्ञान का निरूपण भी हुआ है, जो इन्हें कबीर व रामानन्दी योगमार्गियों के निकट ले जाता है। यथा-

अविगत की गति को नहिं पावे, सचराचर में हरि-वेद बतावे।
निगम निरंतर नेति बखाणे, ताकूँ जसोदा हरखे हलरावे।। अवि.।।
उपनिषद् नो सार श्री कृष्णवाकूँ समर्या बन्धन कट जावे।

× × ×

गबरी के प्रभु ब्रह्म सनातन, तेरी गति में तूं ही पावे।।अवि.।।[३०]

इस प्रकार, भक्ति आन्दोलन, जन सामान्य और उसके सरोकारों से जुड़ा आन्दोलन है, जिसे डॉ. रामविलास शर्मा ने लोक जागरण से जोड़ने का प्रयत्न किया है। यद्यपि इस आन्दोलन और इससे प्रेरित भक्तिकाल की क्रान्तिकारी विषयवस्तु धर्म के आवरण में, धर्म के आचार्यों, संतों और रचनाओं के माध्यम से सामने आयी है, परन्तु इससे मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य का क्रान्तिकारी सामाजिक-सांस्कृतिक महत्व कम नहीं हो जाता। वस्तुतः उस युग में यही उपयुक्त माध्यम हो सकता था। इससे सामाजिक भेदभाव की यातना से ग्रस्त सदियों से शोषित, वंचित व पीड़ा झेलती रही नारी के अन्तर्मन में उठ रही आशा-आकांक्षा और स्वप्नों को समाज के दृष्टिपथ पर ला दिया। इस अभिव्यक्ति का माध्यम भी भक्तों की श्रेणी में परिगणित नारियाँ ही बनीं, जिनकी भगवद्भक्ति में विपन्न ब्राह्मणों, शूद्रों और अन्त्यजों की ही तरह आत्मनिवेदन के मार्मिक स्वर सहज में ही सुनायी पड़ते हैं। भक्ति आन्दोलन एवं उस काल के अलावा भारत के सामाजिक-सांस्कृतिक इतिहास में इतना बड़ा जमावड़ा और वह भी समाज के विपन्न, दरिद्र, शोषित व अभावग्रस्त समाज के लोगों का, बुद्ध के समय को छोड़कर इससे पूर्व कभी नहीं देखा गया। बहरहाल ये भक्त कवि साहस करके सामने आये और अपनी पूरी आवाज से युग-युग की जीर्ण-शीर्ण रूढ़ियों को ध्वस्त करने का महान कार्य किया, जिसमें मीरा और गवरीवाई प्रभृति नारी संतों ने अपनी महान् भूमिका निभायी। जिस लोक-लाज और कुल की मर्यादा को छोड़ने के लिए इन्हें तिरस्कृत किया गया, उन्होंने उस प्रताड़ना तथा लांछना को सिर-माथे स्वीकार कर अपने गिरधरनागर, हृदय के अन्तस्थल मे विद्यमान राम का प्रसाद समझा। जिन आराध्य के हाथों बिकना उन्होंने सबके सामने स्वीकार किया था, उसके प्रेम की पीर हृदय से चिपटाये ये दर-दर भटकती हुई भारत की रज को पावन कर दिया। बाहर अभाव, वंचना, लोकोपवाद की दहकती आग थी तो अन्दर अपने श्यामल नीलघन के प्रेम की शीतल ज्वाला, जो निरन्तर रह-रहकर इनके हृदय को टीसती, बींधती रहती थी। हृदय की इस गहन कन्दरा से फूटा उनका स्वर यातनाग्रस्त, पीड़ित व अभावग्रस्त मानवता और नारी हृदय को शीतलता प्रदान करने का महान् कार्य किया। इनके पदों में अपने प्रियतम के प्रति जो प्रणति, प्रपत्ति अथवा शरणागति का भाव है, बार-बार जो गिरधर नागर, राम की पुकार है, वह इनके डगमगाते आत्मविश्वास और चेतना को नया संबल प्रदान करता है। तत्कालीन सन्दर्भों में स्त्री-संतों से इससे अधिक अपेक्षा भी नहीं करनी चाहिए। क्या यह कम है कि ये कवयित्रियाँ अपने माध्यम से अपने समकालीन समाज में घुटती, कराहती बिलखती और नाना प्रकार के अत्याचारों, अभावों, असमानताओं व

पारिवारिक प्रताड़नाओं को सहती आम नारी की दयनीय दशा का साक्षात्कार कराती हैं। उसके दु:ख, कसक और कुछ कर न पाने की पीड़ा को अपने माध्यम से स्वर प्रदान करती हैं। समाज की कुप्रथाओं, कुरीतियों व परम्पराओं का सच उसके वास्तविक स्वरूप में उजागर करती हुई ये उसका सच सबके सामने ला देती हैं, जिसने उसे परवश व इतनी असहाय बना दिया है कि उसका स्वेच्छा से एक कदम भी उसे कुलटा, चरित्रहीन व भ्रष्ट बना देने के लिए काफी माना जाता है। जबकि पुरुष को अपार अधिकार व सुविधाओं से सम्पन्न किया गया है। वह चरित्रहीन होकर भी सम्मान के साथ घूमता है। हिंसक होकर भी हिंसक नहीं कहा जाता और झूठा पौरुष व वीरता का नाम दे दिया जाता है। मध्यकालीन नारी-लेखन इसी का उदार शब्दों में साक्षात्कार कराता है, जिसकी पद्मावती, सुरसरी, मीरा और गवरी बाई प्रभृति भक्त-नारियाँ वाहक बनती हैं। स्मरणीय है कि इन नारियों की मूल चेतना का स्वर स्वामीरामानंद तथा उनकी परवर्ती भक्ति परम्परा से जुड़ा है।

उल्लेख है कि द्वादश दिव्य परम्परा में पद्मावती और सुरसरि दो ऐसी महाभागवत नारियाँ थीं जिनके माध्यम से तत्कालीन समाज में नारियों के प्रति फैले अत्याचार को शमन करने का अद्भुत कार्य स्वामी रामानंद ने किया था। पद्मावती असम और सुरसरी उत्तर प्रदेश की निवासिनी थीं। एक को दक्षिण तथा दूसरे को पश्चिमोत्तर प्रांतों में धर्म के प्रचार के लिए स्वामीजी ने भेजा था। इन दोनों ने अपने योगवल से अपने गुरु का स्मरण कर तत्कालीन समाज में नारियों के प्रति उत्पीड़न को शांत किया था। यद्यपि इन दोनों में काव्य प्रतिमा नहीं दिखायी पड़ती है पर धर्म के प्रचार-प्रसार में इनके योगदान को विस्मृत नहीं किया जा सकता।

इस प्रकार रामानंद जी द्वारा प्रवर्तित भक्ति आंदोलन नारी की स्वतंत्रता के साथ उसके स्वाभिमान और आत्मबल को भी जाग्रत करता दिखायी पड़ती है।

संदर्भ

1. आचार्य रामचन्द्र शुक्ल-हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृष्ठ 34
2. आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी- हिन्दी साहित्य की भूमिका, पृष्ठ 22-24
3. विजयदेव नारायण साही- जायसी पृष्ठ-56-59
4. इन्नमा अकरामोकुम इन्दल्लाहे अताकाकुम-कुरान मजीद, सूर-ए-हज्ररात आयत

5. हजारी प्रसाद द्विवेदी- कबीर, पृ. 136-38
6. वही, पृ. 40-48
7. रामचन्द्रशुक्ल- हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 5
8. वही, पृ0 6
9. प्राचीन भाषा अपभ्रंश- डॉ0 सभापति मिश्र एवं डॉ0 मुदमंगल सिंह, पृ0 32
10. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल- हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 6
11. आचार्य रामचन्द्रशुक्ल - हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ0 8
12. विजयदेवनारायण साही- जायसी, पृ0 56
 (अमीर खुशरो का सन् 1301 का रणथम्भौर-विजय का विवरण)
13. अमीर खुसरो के सोमवार 28 जनवरी 1303 ई0 का चित्तौड़-विजय को विवरण का हिन्दी तर्जुमा (विजय देवनारायण शाही - जायसी, पृ0 56-58)
14. वही (रणथम्भौर विजय 1301 ई0) पृष्ठ 56
15. डॉ0 आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव - मुगलकालीन भारत, पृ0 88
16. डॉ0 बच्चन सिंह - हिन्दी साहित्य का दूसरा इतिहास, पृ0 94
17. शिवकुमार मिश्र - भक्ति आन्दोलन और भक्ति-काव्य, पृ0 179
18. डॉ0 आर0 एस0 प्रजापति - रामानन्द सम्प्रदाय और साहित्य, पृ0 278
19. मीराबाई णा भजन, पद 31
20. वही, पद 21
21. हिन्दी साहित्य का इतिहास, संपा0 - डॉ0 नगेन्द्र, पृ0 235
22. डॉ0 आर0 एस0 प्रजापति - रामानन्द सम्प्रदाय और साहित्य, पृ0 278
23. शिवकुमार मिश्र - भक्ति आन्दोलन और भक्ति काव्य, पृ0 182
24. वही, पृ0 180
25. डॉ0 आर0 एस0 प्रजापति - रामानन्द सम्प्रदाय और साहित्य, पृ0 289

भारतीय नारी : भक्तिकालीन संदर्भ
(रामावत सम्प्रदाय के आलोक में)

डॉ. उदय प्रताप सिंह

आज विश्व के सामाजिक और वैचारिक रंगमंच पर विमर्श की परिधि में मुख्यत: दो ही विषय हैं– पहला स्त्री विमर्श और दूसरा दलित विमर्श। दोनों समाज को प्रभावित करने वाले और समाज से प्रभावित होने वाले विषय हैं। दोनों का उत्स अभारतीय होते हुए भी महत्त्वपूर्ण है। यदि आलोच्य विषय पर हम विचार करें तो ज्ञात होता है कि भारतीय ही नहीं; वैश्विक समाज में भी स्त्री के जीवन सम्बंधी विविध आयामों पर शताब्दियों से विचार विमर्श होता रहा है। पर बीसवीं सदी का उत्तरार्द्ध और इक्कीसवीं का पूर्वार्द्ध इससे विशेषत: आंदोलित लगता है। इन दिनों स्त्री के विकास और उन्नयन के नाम पर उन्मुक्त और स्वच्छंद अवधारणाओं का सृजन किया जा रहा है जिसमें स्वच्छंदता और यौन मुक्तता को महत्त्व मिल रहा है। परंपरित मर्यादा और नैतिकता को ताख पर रख दिया गया है। पारम्परिक विचारों के प्रतिपक्ष में स्त्री को खड़ा किया जा रहा है। इसके मूल में सीमीन द बोउवार की पुस्तक– 'दी सेकेण्ड सेक्स, केट मिलेट की 'सेक्सुअल पालिटिक्स' और जर्मन गियर की 'फीमेल यूनक' हैं। इन तीनों में नारी विमर्श के नाम पर कहीं विवाह संस्कार को खारिज करने की बात है तो कहीं उन्मुक्त आसंग-फ्रीसेक्स और समलैंगिक लेस्वियन जैसे विकृत मनोवृत्तियाँ हैं। कहना न होगा कि आज का स्त्री विमर्श इन्हीं विचारों का क्रीतदास बन कर रह गया है। मुझे लगता है कि इस मकड़जाल से निकलने के लिए भक्तिकालीन आंदोलन को उपजीव्य बनाना होगा।

पूर्व मध्यकालीन या भक्तिकालीन भारतीय समाज तमाम अन्तर्विरोधों एवं बाह्य द्वन्द्वों में उलझा एक ऐसा समाज है जहाँ स्त्री को स्वतंत्र साँस लेने में अनेक बंधनों को तोड़ना पड़ता है। यह युद्धों और आंतरिक द्वन्द्वों में उलझा संकटग्रस्त समय है। वहाँ सबसे अधिक प्रतिबंधित स्त्री ही है। कभी वह युद्ध का कारण बनती है तो कभी युद्ध को शांत करने का उपहार। कभी उसकी भावनाओं और शरीरपर संधि पत्र लिखे जाते हैं तो कभी उसे जौहर जैसी अग्नि परीक्षा में उत्तीर्ण होना होता है, सती प्रथा, अनमेल विवाह, बालविवाह, वैधव्य जीवन सब नारी के हिस्से में

ही पूर्व मध्यकाल सौंप देता है। ये समस्त दंश और यातनाएँ झेलते हुए भी वह दृढ़ता के साथ खड़ी है। इतिहास के पन्ने इससे भरे पड़े हैं। तत्कालीन जैन बौद्ध और नाथ साहित्य में भी उसका स्वर मंद्र नहीं, अपितु मंद ही रह जाता है। कुछ प्रसंग अवश्य हैं जहाँ वह सम्मानित होती है। सुजाता के हाथ का खीर और नारियों को बौद्ध संघ में सम्मिलित करने के निर्णय से वह गौरवान्वित होती है। समता और उदारता की यह दृष्टि स्वयं भगवान् बुद्ध ने प्रदान की थी। यद्यपि कालांतर में नाथपंथियों ने इस भावना को आहत किया। विद्वानों ने इसे सिद्धों की वामाचारिता और विलासिता की प्रतिक्रिया कहा है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय नारी लम्बे समय से अनेक झंझावातों को सहती हुई भी अपनी जिजीविषा को नहीं छोड़ती। नारी को इस अवदशा तक पहुँचाने में तत्कालीन सामाजिक परिस्थितियाँ और तद्‌युगीन शासन भी कम जिम्मेदार नहीं है।

यद्यपि भारतीय ग्रंथों में नारी के प्रति सम्मान की दृष्टि मिलती है। 'यत्र नार्यस्तुपूज्यंते रमंते तत्र देवता' जैसे सुभाषित सर्वत्र दीख पड़ते हैं पर व्यावहारिक जगत में वह प्रवंचित ही रह गयी है। गार्गी, मैत्रेयी जैसी कई वैदिक युगीन स्त्रियों की गौरवगाथा सुनने में तो मिलती है; पर स्त्रियों के सामूहिक उन्नयन के चित्र कम ही दृष्टिगत होते हैं। उनकी निजी स्वतंत्रता की क्षीण रेखाएँ यदा-कदा अवश्य दिख जाती हैं। इन समस्त संदर्भों और मनोदशाओं की पृष्ठभूमि में ही भक्तिकाल का उद्‌भव होता है। फिर भी यह युग नारी की स्वतंत्रता, समता और अधिकारों के संरक्षण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन अपनी आध्यात्मिक चेतना के महाभाव से करता रहा है।

समूचा भक्तिकाल स्त्री संवेदना और उसकी शक्तिमयता से परिपूर्ण है। यद्यपि भक्तिकाल विरक्ति की मनोदशा का काल है। विरक्ति का आधार है घर अर्थात् घरनी का त्याग। इसकी प्रबल अभिव्यक्ति रामानंद सम्प्रदाय में दीक्षित उन्नीसवीं शती के अयोध्यावासी साधक बनादास के दोहरे में दिखाई पड़ता है–

जाचब, जाब, जमात, जर, जोरू, जाति, जमीन।

जतन आठ ये जहर सम बनादास तजि दीन ।।

कबीर कहते हैं– 'नारी की झाईं परत अंधा होता भुजंग।' अन्य भक्त कवियों ने भी स्त्री को माया मानते हुए अवगुण की खानि कहा है। उनके अवगुणों की गणना भी की है। इस तरह भक्ति आंदोलन का बाह्य पक्ष स्त्री विरोधी लगते हुए

भी आंतरिक रूप से स्त्री का पक्षधर है। ध्यानपूर्वक देखा जाय तो पूरे भक्ति साहित्य की अन्तर्ज्योति सीता और राधा हैं। राधा-माधव-माधवराधा, सीयराममय सब जग जानी' जैसे भाव से भक्तिकाल संवलित है। निर्गुण मार्गी संतों ने आदि शक्ति नारी से ही सृष्टि का विस्तार माना है और अंतर्ज्योति तथा अन्तर्वासा (जीव रूप एक अन्तर्वासा) जैसे शब्दों का प्रयोग करते हुए सर्जना की सत्ता को स्त्री से जोड़ा है। उसी काल में सूफियों की प्रेमसंवलित साधना भी पराकाष्ठा पर थी जिसका केन्द्र स्त्री ही है। प्रेमाख्यानक काव्यों में पदुमावति, चंदायन, मृगावती, मधुमालती सभी स्त्री केन्द्रित ही हैं। पंच कन्याओं तथा पंच महाशक्तियों की कल्पना भक्ति से ही सम्बंधित हैं। इसमें से किसी का अवतार नहीं हुआ है इसलिए यह सच है कि पुरुष का महिमामंडन अवतार के रूप में होता है और स्त्री का मनुष्य जाति के उत्थान के रूप में। इतना ही नहीं अबला कही जाने वाली स्त्री के जितने दिव्य प्रतीक भक्तिकाल ने दिये हैं वे सभी शक्तियमय हैं। शस्त्र और शाप उसकी सबसे बड़ी शक्ति है। दुर्गा, छिन्नमस्ता, चण्डी, चामुण्डा सबके हाथों में शस्त्र हैं। भैरवी, डाकिनी और त्रिपुर सुंदरी के अनेक रूप भय और प्रणय से सम्बंधित हैं। यह परम्परा रीतिकालीन कवियों तक में दिखायी पड़ती है। जब बिहारी कहते हैं– मेरी भवबाधा हरो, राधा नागरि सोय। जा तन की झाईं परै स्याम हरित द्युति होय। यह राधा के बहाने भक्तिकालीन नारी के सम्मान का अभिनव सृजन है। इस तरह सम्पूर्ण भक्तिकाल नारी की निंदा और प्रशंसा का समन्वित रूप दिखाई पड़ता है। पर जब वह दैवी शक्ति का प्रतीक बन जाती है तब श्रद्धास्पद हो जाती है। यह एक प्रकार से युग-युगीन गुलाम नारी की विजय गाथा ही है।

इन समस्त बिन्दुओं को जब हम रामानंदी सम्प्रदाय के आलोक में परखने की चेष्टा करते हैं तो एक विचित्र प्रकार की नारी छवि हमारी आँखों के समक्ष तैरने लगती है। स्वामी रामानंद समन्वयी चेतना के महानायक हैं। उनकी उदारता और समन्वयशीलता उन्हें महानायक की पदवी प्रदान करती है। सगुण-निर्गुण दोनों को पंचगंगा घाट का शीतल जल पिलाने की अद्भुत क्षमता उनमें विद्यमान थी। उनकी नवोन्मेषशालिनी दृष्टि समरसता की उद्भाविका है। वे विशिष्टाद्वैत के अनुगामी थे। उन्होंने सीताराम की युगलमूर्ति और रामदरबार को लोकमानस में ऐसा प्रविष्ट करा दिया कि समस्त भवतापों का शमन उसी से होने लगा। युगीन प्रवृत्ति को जिस सूक्ष्मता से स्वामी रामानंद ने अनुभव किया था वैसा किसी अन्य आचार्य ने नहीं। उनके सियारामराधन की ऐसी बीन बजी कि सम्पूर्ण भारत उसी में तल्लीन हो गया। परवर्ती काल में उनकी इस अवधारणा का विकास कबीर, रैदास, तुलसी और

पीपादि संत कवियों में देखा जा सकता है।

सामाजिक समरसता की तान छेड़ने वाले महानायक स्वामीरामानंद भारतीय समाज व्यवस्था की रीढ़ नारी को कैसे विस्मृत कर सकते हैं। अपने द्वादशादित्यों में सुरसरि और पद्मावती को सम्मिलित कर स्वामी रामानंद ने भक्ति के माध्यम से नारी जागरण का महाभियान चलाया। नाभादासकृत भक्तमाल में इसका उल्लेख प्राप्त होता है। उन बारह शिष्यों में प्रायः बारह जातियों का समन्वय है। परकीय सत्ता में जहाँ नारी दीवारों और अवगुंठनों में कैद थी वहाँ उसका साध्वी बनना एक साहसपूर्ण क्रांतिकारी कदम था। यह स्वामी रामानंद के भक्ति आंदोलन का प्रतिफलन ही कहा जाएगा जिसका एक महत्वपूर्ण पक्ष नारी की शक्ति का जागरण भी था।

सम्पूर्ण मध्यकाल में रामभक्ति आंदोलन का व्यापक प्रसार देखा जा सकता है। निर्गुण पंथियों में कबीर रैदास, पीपा, सेन, धन्ना आदि जहाँ लोक जागरण का संदेश देते हुए 'रामरेवपरब्रह्म' की उद्घोषणा करते हैं वही स्वामीरामानंद के शिष्य अनंतानंद और उनके शिष्य नरहर्यानंद तथा उनके शिष्य तुलसीदास ने जिस रामभक्ति की मंदाकिनी का अविरल प्रवाह किया था उसमें सगुण-निर्गुण दोनों तटविलीन हो गए। उन्होंने नारी की प्रतिनिधि सीता को जगज्जननी, जगधात्री पराम्बा कहकर स्त्री समाज को जो उदात्तता और प्रतिष्ठा प्रदान की वह भारतीय वाङ्मय में अतुलनीय है। इस प्रकार व्यापक गुणों से सम्पन्न नारी की उदात्त छवि निश्चित रूप से नारियों में एक मानसिक उत्फुल्लता और गौरव बोध का सृजन करती है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस नारी उत्थान की प्रबल चेतना का मूल उत्स आचार्य रामानंद का सर्वस्पर्शी भक्ति आंदोलन ही रहा है। आज भी पुत्रियों, पत्नियों और माताओं का 'सीता' नाम रखने में लोग गर्वानुभूति करते हैं। सीता संज्ञा स्वयं में इतना अर्थपूर्ण और महिमामंडित है कि मर्यादित नारी की समूची छवि एकवारगी उभर कर आँखों के समक्ष तैरने लग जाती है। पीपा साहब की सीता सहचरी इसका ज्वलंत दृष्टांत हैं।

स्वामी जी के परम शिष्य रैदास वाराणसी के ही निवासी थे। हरिजन थे। वह स्वामीजी की आध्यात्मिक चेतना से इतने शक्तिमान हो उठे थे कि काशी के बड़े-बड़े ब्राह्मण उन्हें दण्डवत करने लगे– 'बड़े-बड़े बिप्र करैंदण्डवत प्रनामा'। उनकी शिष्या मीरावाई राजरानी थीं। उनकी कृष्ण भक्ति की दीवानगी लोगो की जुबान पर आज भी विद्यमान है पर उनकी रामभक्ति की उत्कर्षता भी सिद्धावस्था तक पहुँची दिखायी पड़ती है। अनेकानेक प्रतिवंधों के अनंतर उनका स्वाधीन चेता कवित्व

अव्याहत रूप से प्रवाहित होता रहा है। एक ही दृष्टांत पर्याप्त होगा-

मीरादासी राम की ने, राम गरीब नेवाज।
मीरा की लाज राख्यो म्हारी बाँह ग्रहना जी लाज।
हारे जेणें राम तथा गुन गाया, तेरे जमना मार न खाया॥

इसी प्रकार रामानंदी परम्परा में गबरी बाई का उल्लेख भी हुआ है। वह राजस्थान के आस-पास की निवासिनी थीं। राम-नाम में ऐसी तन्मय हुई कि नारी स्वतंत्रता का निष्कंप दीप जला गयीं। उनकी भक्तिमयी तन्मयता के आलोक से पूरा युग ही प्रतिविम्बित होने लगा–

मेरो राम-नाम बणझारों।
चौदह भुवन की रची बादली वो मायामार लदाणों।

गुलामी के युग में इस प्रकार की स्वतंत्र अभिव्यक्तियाँ नारी जागरण की ही कहानी कहती हैं।

आधुनिक संदर्भ में स्त्री विमर्श के नाम पर उसकी कामुक भावनाओं को उभारकर स्वच्छंदता को ही स्वतंत्रता कहा जा रहा है। नारी के प्रति छद्म सम्वेदना व्यक्त करने वाले ये विमर्शकार उसे अपने मकड़जाल में फँसा कर उसका दोहन कर रहे हैं। ये गोमुखीव्याघ्र सरीखें विमर्शकार पहले नारी की कलमतोड़ सहानुभूति लीला लिखते हैं पश्चात् उसे अपना बनाने का स्वांग रचते हैं। जरूरत है नारी को इस गोरखधंधे से बाहर निकालने की। आवश्यकता है उसके स्वाभिमान और अधिकार के संरक्षण की। उसकी पीयूषधारा वाली छबि, उसके देवि, माँ, सहचर, प्राण वाले रूप की। शक्ति स्वरूपा जगदम्बा, दुर्गा, चामुण्डा और दैवी शक्ति की। भक्तिकाल में शक्ति और शाप नारी का सवसे बड़ा बल है। आज युगानुरूप उसकी शक्ति का परिमार्जन अपेक्षित है। उसके 'अन्तर्ज्योति' और 'अन्तर्वासा' जैसी सर्जनात्मक सत्ता की आज बड़ी जरूरत है। यदि नारी को इस अवदशा से मुक्त करना है तो रामभक्ति आंदोलन के पुरस्कर्त्ता स्वामी रामानंद का अनुगमन करना ही पड़ेगा।

स्पष्ट है कि भक्तिकाल में स्वामी रामानंद ने नारी की इस अतुलित शक्ति और अन्तर्निहित ऊर्जा हो बहुत करीब से पहचाना था। उनकी इस पहचान में समय का दवाव, इतिहास का प्रभाव और अध्यात्म संवलित चेतना की स्पष्ट झलक दिखायी पड़ती है। परिणामत: पूरे भक्ति काल में सुरसरि, पद्मावती, मीराबाई, गबरीबाई, सहजोबाई, दयाबाई और बावरी साहिबा जैसी साध्वी कवयित्रियाँ स्त्री स्वातंत्र्य का शंखनाद करती हैं। भक्ति आंदोलन का यह प्रभाव जहाँ नारी मन को

स्वतंत्रचेता और स्वाधीन बनाता है, वहीं सम्प्रदाय और जात-पात से ऊपर उठकर सामाजिक समरसता का सृजन भी करता है। कृष्ण के रंग में डूबी ताजबीवी की ललकार नारी की स्वाधीन चेतना का शक्तिशाली प्रगटीकरण है। आचार्य रामानंद की उदार दृष्टि में राम-कृष्णि का स्वरूप एक ही है। स्थान विशेष पर सामांतर ही होता है भावांतर नहीं।

(क) छैल जो छबीला, सब रंग में रंगीला,
बड़ा चित्त का अड़ीला कहूँ देवता से न्यारा है।।
मालगले सोहै, नाक मोती सेत जोहै,
कान कुण्डल मन मोहै, लाल मुकुट सिर धारा है।।
दुष्टजन मारे सब, संत जो उबारे,
ताज चित्त में निहारे, मन प्रीति करनवारा है।।
नंद जू का प्यारा जिन कंस को पछारा,
वह वृंदावन वारा, कृष्ण साहेब हमारा है।।।

(ख) सुनो दिल जानी, मेरे दिल की कहानी,
तुम दस्त की बिकानी, बदनामी भी सहूँगी मैं।।
देव पूजा ठानी मैं निवाज हूँ भुलानी,
तजे कलमा कुरान, साड़े गुनन गहूँगी मैं।।
साँवला सलोना सिरताज सिर कुल्ले दिये,
तेरेनेह दाग में निदाघ ही दहूँगी मैं।।
नंद के कुमार, कुरबान तेरी सूरत पै,
हूँ तो मुगलानी, हिन्दुआनी ही रहूँगी मैं।।

इस अभियान में मुसलमान नारियों को भी रूढ़ियों, विद्रूपताओं, अंधविश्वासों और पुरुषोंकी लक्ष्मण रेखाओं का अतिक्रमण करना पड़ा था।

इस संदर्भ में इतना ही कहना पर्याप्त होगा कि उन सभी नारियों की स्वतंत्र चेतना का पाथेय स्वामी रामानंद का रामभक्ति आंदोलन ही रहा है। आंदोलन की इस प्रबल धारा में राम-कृष्ण, सगुण-निर्गुण, ऊँच-नीच, स्पृश्य-अस्पृश्य, स्त्री-पुरुष के भेद तिरोहित हो गये थे। भक्तिकाल की यह पहली घटना है जब स्त्रियों ने पुरुषों के बराबर आध्यात्मिक और सामाजिक चेतना को जगाने में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वहन किया है। कहा जा सकता है कि सम्पूर्ण भक्तियुग स्त्री की शक्तिमयता, वाग्मिता, जागृति और स्वत्व चेतना का महत्वपूर्ण का कालखण्ड है जिसमें रामानंदसम्प्रदाय की अविस्मरणीय भूमिका है।

गोस्वामी तुलसीदास की नारी सम्बन्धी अवधारणा

डॉ० बाबूराम त्रिपाठी

रामानन्द सम्प्रदाय के कवियों में सन्त तुलसीदास का अप्रतिम स्थान है। स्वामी रामानन्द ने जिस रामभक्ति रूपी गंगा को सामान्य जन-जीवन में प्रवाहित किया, उसे स्वस्थ एवं सही गति तुलसी ने ही दी। एक तरह से भक्ति आन्दोलन की लहर ने अपने पावन जल से जन-मानस के दुःख-सन्तप्त हृदय को शीतलता प्रदान की। अत: रामचरितमानस को भक्ति की पावनी गंगा की संज्ञा दी जाय, तो अत्युक्ति नहीं होगी।

जिस महाकवि ने अपनी कालजयी रचनाओं से अपने युग यानी भक्तिकाल को स्वर्णकाल के आसन पर आरूढ़ होने लायक बनाया, जिसने धर्म, संस्कृति एवं दर्शन जैसे गूढ़ विषयों को इतने सरल एवं सरस रूप में व्याख्यायित किया कि वह जन-सामान्य के लिए सुगम एवं बोधगम्य हुआ, जिसकी अनुपम कृति रामचरितमानस इतनी लोकप्रिय हुई कि उसने महलों से लेकर झोपड़ी तक अपना वर्चस्व कायम किया, आज उसी कवि की नारी विषयक अवधारणा आलोचना का विषय बन गयी है।

वस्तुत: रचनाकार अपने युग को तो अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त करता ही है, साथ-साथ वह परम्परा से प्राप्त तथ्यों की भी अभिव्यक्ति करना अपना दायित्व समझता है। वैसे भी यह निर्विवाद सत्य है कि हर युग अपने पूर्व युग के कन्धों पर ही खड़ा होता है। अत: तुलसीदास ने अपने युग के यथार्थ को तो प्रस्तुत किया ही, साथ-साथ विरासत में प्राप्त अपनी परम्पराओं को भी अपेक्षित महत्व दिया। उनके युग में नारी की क्या स्थिति रही है, इस यथार्थ को यदि वे सही ढ़ंग से न प्रस्तुत करते, तो उन्हें युग कवि नहीं कहा जाता।

सच तो यह है कि 'यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवता' सदृश आदर्श की बातें करना और युग के यथार्थ का सामना करना, दोनों में जमीन-आसमान का अन्तर है वास्तविकता तो यह है कि नारी-सम्बन्धी धारणा न्यूनाधिक हर युग में अवश्य रही है। हम दूर क्यों जायँ, तुलसी के पूर्व कबीर को ही ले लें। एक ओर उन्होंने नारी के

प्रतिव्रता रूप की प्रशंसा की है, तो दूसरी ओर वे यह भी कहते हैं-

जा तन की झाईं परत, अन्धा होत भुजंग

कबिरा तिनकी कौन गति, जो नित नारी संग।

जहाँ तक तुलसी की नारी-सम्बन्धी अवधारणा के विवेचन का प्रश्न है, इसके लिए हमें दुराग्रहों से मुक्त होकर तटस्थ दृष्टि अपनानी होगी। सच तो यह है कि तुलसीदास एक मर्यादावादी रचनाकार हैं। उनकी दृष्टि में मर्यादा का उल्लंघन किसी कीमत पर क्षम्य नहीं है। रामचरितमानस में चाहे पुरुष पात्र हों या नारी, यदि वे स्वार्थ या अनाचार के चलते समाज की मर्यादा तोड़ते हैं, तो उनके लिए तुलसी की लेखनी उग्र हो उठती है। उस समय वे नहीं देखते कि पात्र सम्भ्रान्त है या निम्नवर्ग का। दशरथ की रानियों में कैकेयी सबसे सशक्त और प्रभावशाली है, पर जब वह स्वार्थान्ध होकर दशरथ से भरत को राजगद्दी और राम को बनवास देने का दुराग्रह करती है, तो महाराज दशरथ सहम जाते हैं। उसकी हठधर्मिता देख वे सोच में पड़ जाते हैं-

कवने अवसर का भयहु, गयहु नारि विश्वास।[1]

इतना ही नहीं राम के प्रिय भाई भरत, जिसके राजतिलक के लिए कैकेयी ने अपने पति के प्राणों की भी चिन्ता नहीं की, उन्होंने अपनी माँ के विषय में जो कहा, उसे देखें-

विधिहु न नारि हृदय गति जानी। सकल कपट अघ अवगुन खानी।[2]

भरत की चिन्ता स्वाभाविक है। भला बताइये, जिस कैकेयी ने अपनी दासी से राम के राज्याभिषेक का शुभ समाचार सुनकर यह कहा हो-

राम तिलकु जौं साँचेहु काली। देउँ मागु मन भावत आली।[3]

और वही जब उन्हें सावधान करती हुई यह कहती है कि तुम अपने प्रिय राजा की कपटपूर्ण चतुराई नहीं देख पा रही हो। उस समय कैकेयी का राम के प्रति स्नेह मंथरा को फटकार देता है-

प्रान ते अधिक राम प्रिय मोरें। तिन्ह कें तिलक छोभु कस तोरें।।[4]

लेकिन बार-बार दासी मंथरा द्वारा कान भरने एवं बहकाने से कैकेयी अपने वास्तविक रूप में आ जाती है और सौतेली माँ की सोच प्रकट हो जाती है। फिर तो उसे मात्र अपना स्वार्थ दिखाई देता है। न उसे राम के प्रति अपने अपार स्नेह की चिन्ता रहती है और न ही पति दशरथ के प्राणों की। वह अपने पुत्र भरत के लिए राजतिलक

तो माँगती ही है, साथ-साथ राम को बनवास देने का भी हठ भी करती है-

तापस बेष बिसेषि उदासी। चौदह बरिस राम बनवासी।।[५]

इसके विपरीत बड़ी रानी कौशल्या का उदात्त चरित्र देखिये। वे भी तो नारी हैं। राम ने जब उन्हें अपने वनवास की सूचना अप्रत्यक्ष रूप से दी-

पिताँ दीन्ह मोहि कानन राजू। जहँ सब भाँति मोर बड़ काजू।[६]

तब माँ कौशल्या का धैर्य और कैकेयी के प्रति उनकी स्वस्थ दृष्टि, ये दोनों बातें उन्हें एक आदर्श नारी के आसन पर आरूढ़ कर देती हैं-

जौं पितु मातु कहेउ बन जाना। तौ कानन सत अवध समाना।।[७]

कौशल्या कहती हैं कि यदि पिता और माता (कैकेयी) दोनों ने वन जाने के लिए कहा है, तो तुम्हारे लिए वन सैकड़ों अयोध्या के समान है। यहाँ पर माता कौशल्या के चरित्र की उदात्तता पराकाष्ठा पर पहुँची दिखाई देती है।

तुलसी ने पतिव्रता नारियों के प्रति सर्वत्र आदरभाव प्रकट किया है। ऋषि पत्नी अनुसुइया जानकी जी को पतिव्रता-धर्म का महत्व समझाती हुई कहती हैं कि नारी का यदि एकमात्र कोई धर्म है, तो वह है मनसा, वाचा, कर्मणा पति के चरणों में प्रेम रखना-

एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। कायँ बचन मन पति पद प्रेमा।।[८]

अनुसुइया द्वारा इस तरह की सीख दिलवाकर उन्होंने दाम्पत्य जीवन की नींव को सुदृढ़ किया है। यदि स्त्री अपने पति के प्रति निष्ठावान है, तो दाम्पत्य जीवन में कभी खटास नहीं आ सकती। इससे पारिवारिक मर्यादा में निरन्तर वृद्धि होगी।

तुलसी के युगीन समाज में शूर्पणखा जैसी वासनान्ध एवं दुराचारिणी नारियों की भी कमी नहीं रही होगी। ऐसी नारियाँ अपने दुराचरण से समाज को दूषित करती हैं। अतः उनकी न केवल निन्दा की जानी चाहिए, अपितु उन्हें कठोर दण्ड भी देना चाहिए। यदि ऐसी नारी को तुलसी दुष्ट हृदया एवं भयानक नागिन की संज्ञा देकर भर्त्सना करते हैं, तो उसे न्याय-संगत मानना चाहिए। शूर्पणखा जैसी कामान्ध नारियाँ सुन्दर पुरुषों को देखकर कामातुर हो जाती हैं, चाहे वह सम्बन्ध में कुछ भी लगता हो-

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी।

होइ बिकल सक मनहिं न रोकी। जिमि रबिमनि द्रव रबिहि बिलोकी।।[९]

तुलसी ने कहीं भी सत् नारियों की निन्दा नहीं की है। उनकी निन्दा के घेरे में वही आयी हैं, जो दुश्चरित्र, स्वार्थान्ध एवं कामान्ध हैं-"उन्होंने मात्र कुलटा-व्यभिचारिणी, घर घालिनी, कुट्टनी, वासनान्ध, मायाविनी, प्रमदा नारियों की अवश्य निन्दा की है, वह भी लोक मांगलिक दृष्टि के कारण, जो उचित भी है"।[१०]

तुलसी ने जहाँ घृणित आचरण वाली नारियों की निन्दा की है, उन्हें भला-बुरा कहा है, वहीं उन्होंने नारी की दयनीय दशा पर चिन्ता भी व्यक्त की है। पराधीन नारियों के प्रति उनकी यह सहानुभूति ध्यातव्य है-

कत विधि सृजीं नारि जग माहीं, पराधीन सपनेहुँ नाहीं।[११]

कहीं-कहीं रावण जैसे पात्र नारी की निन्दा करते नहीं अघाते, जो स्वयं अवगुणों की खान होते हैं। जब ऐसे पुरुष नारी में अवगुण की तलाश करते हैं या उन्हें प्रताड़ित करते हैं, तब दुःख ही नहीं, आश्चर्य भी होता है। भारत की आदर्श नारियों में मन्दोदरी का अपना एक स्थान है। वह दुराचारी रावण की भार्या होकर भी नारी के आदर्शों से विरत नहीं होती। अपने पति रावण को वह न केवल सत्परामर्श देती है, अपितु उसे सन्मार्ग पर न चलने के लिए कड़े वचन भी कहती है। सीता-हरण को लेकर वह अपने पति की कठोर शब्दों में भर्त्सना करती है और सीता को लौटाने का सत्परामर्श देती है-

सुनहु नाथ सीता बिनु दीन्हें। हित न तुम्हार संभु अज कीन्हें।।[१२]

पुरुष नारी के उपदेश को कहाँ सुनता है? वह भी रावण, जो महाभिमानी और दुराचारी है। मन्दोदरी के उपदेश ने उसकी क्रोधाग्नि में घी का काम किया। वह मन्दोदरी पर हँसता हुआ कहता है-

नारि सुभाउ सत्य सब कहहीं। अवगुन आठ सदा उर रहहीं[१३]

यहाँ तुलसी नहीं, रावण कह रहा है। रावण जब माँ जानकी का हरण कर सकता है, तो वह किसी को कुछ भी कह सकता है। अतः रावण जैसे आततायी के इस कथन को तुलसी की नारी सम्बन्धी अवधारणा से बिलकुल अलग करके देखना चाहिए। तुलसी की दृष्टि में अधम से अधम जीव भी प्रणम्य है, यदि वे राम के चरणों में रति रखते हैं। राक्षस की पत्नी होने पर भी मन्दोदरी महान विचारों के चलते एक आदर्श नारी की श्रेणी में आ खड़ी होती है।

भीलनी शबरी एक शूद्र जाति की नारी है। राम के प्रति उसकी असीम भक्ति है। तुलसी ने उसके प्रति अपेक्षित सम्मान दर्शाया है। तुलसी को जो लोग नारी एवं

शूद्र विरोधी कहते हैं, वे शबरी के इस प्रसंग का अवलोकन करें, जब भगवान राम स्वयं उसे नवधा भक्ति का उपदेश देते हैं। शबरी अपने लिए जब अधम नारी का प्रयोग करती है, तो उसका यह बड़प्पन समझना चाहिए न कि तुलसी द्वारा नारी जाति की निन्दा-

अधम ते अधम अधम अति नारी। तिन्ह महँ मैं मतिमंद अघारी।।[१४]

यह शबरी की राम के प्रति असीम श्रद्धा और भक्ति है, जो अपने को अधमों में अधम मन्द बुद्धि कहती है। पहली अर्धाली में उसकी अपनी विनम्रता द्रवीभूत होकर भगवान राम के सामने प्रकट हुई है। राम के हृदय में अपने भक्तों के लिए अपार स्नेह है, तभी तो वे शबरी के लिए 'भामिनी' जैसे आदर-सूचक शब्द का प्रयोग करते हैं।

हाँ, तुलसी की यह पंक्ति अवश्य खटकती है, जब वे नारी को ढोल, गँवार, शूद्र और पशु की श्रेणी में रखकर उसके लिए 'ताड़न' शब्द का प्रयोग करते हैं। लोकनायक तुलसी मर्यादा की प्रतिष्ठा हर जगह करते दिखाई देते हैं, पर उस समय वे अपने महान लक्ष्य से चूक जाते हैं जब समुद्र द्वारा यह कहलवाते हैं-

ढोल गवाँर सूद्र पसु नारी। सकल ताड़ना के अधिकारी।।[१५]

वे इस अर्धाली को न भी लिखते, तो 'रामचरित मानस' के महत्व में कोई कमी नहीं आती। यहाँ तुलसी जैसे महाकवि से चूक हो ही गयी। इस अर्धाली की चाहे जितनी घुमा-फिराकर व्याख्या की जाय, पर इसे नारी-निन्दा के घेरे से बाहर नहीं किया जा सकता।

वस्तुतः गुण-अवगुण, सदवृत्तियाँ-दुर्वृत्तियाँ मानव के स्वभाव में हैं। यदि मनुष्य में अच्छाइयाँ ही अच्छाइयाँ होतीं, तो वह ईश्वर न हो गया होता? महाकवि तुलसी भी मनुष्य थे, मानव सुलभ दोष-गुण उनमें भी थे। इसलिए यदि नारी के लिए 'ताड़न' शब्द का प्रयोग उन्होंने कर ही दिया, तो इसमें आश्चर्य नहीं करना चाहिए। वैसे भी तुलसी एक विरक्त कवि थे। विरक्तों की दृष्टि हर तरह से विरक्त होती है। महाकवि की नारी सम्बंधी इस धारणा के विषय में आचार्य रामचन्द्र शुक्ल की ये पंक्तियाँ समीचीन लगती हैं-

"चिढ़ने का कारण है 'ताड़न' शब्द, जो ढोल शब्द के योग में आलंकारिक चमत्कार उत्पन्न करने के लिए लाया गया है। 'स्त्री' का समावेश भी सुरुचि विरुद्ध लगता है, पर वैरागी समझकर उनकी बात का बुरा न मानना चाहिए।"[१६]

तुलसी की दृष्टि नारी के प्रति उदार-अनुदार दोनों कही जा सकती है। वे

ऐसी नारियों के प्रति अवश्य अनुदार हैं जिनकी भगवान् राम के प्रति श्रद्धा नहीं है। लेकिन जो नारियाँ आचरणवान, लोककल्याण में रत हैं, जिनकी भावनाएँ पुनीत हैं, उनके प्रति तुलसी की उदारता ही नहीं 'अपार' श्रद्धा भी दिखाई देती है। वहाँ तुलसी जाति-वर्ण से ऊपर दिखाई देते हैं। डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने तुलसी को नारी के प्रति अनुदार कहा है। उनकी अपनी दृष्टि है। उन्होंने तुलसी की नारी सम्बन्धी अवधारणा का अपने ढ़ंग से मूल्यांकन किया है-

"प्रत्येक युग के कलाकार नारी-चित्रण में प्राय: उदार पाये जाते हैं, किन्तु इस विषय में तुलसी बेहद अनुदार हैं। यद्यपि उनकी इस अनुदारता का रहस्य अभी तक सन्देह के गर्भ में छिपा हुआ है, पर नारी-सम्बन्धी उनकी उदारता एक ऐसा तथ्य है, जिसको अस्वीकृत नहीं किया जा सकता।"[१७]

तुलसी की नारी-सम्बन्धी अवधारणा की आलोचना करने के पहले हमें उनके युग की ओर भी देखना पड़ेगा। वस्तुत: तुलसी एक युग-द्रष्टा कंवि हैं। अपने युग के यथार्थ को उन्होंने जिस ईमानदारी से चित्रित किया है, वैसा उनके युग के अन्य कवियों में कम दिखाई देता है। तुलसी-युग में नारी की जो स्थिति रही है, यदि उसका वे सही चित्रण न करते, तो उन्हें युग-द्रष्टा की संज्ञा नहीं मिलती। उनके नारी-सम्बन्धी विचारों को देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि उस युग में नारी की दशा अत्यधिक दयनीय थी। पुरुषों की दृष्टि नारी की देहयष्टि तक ही सीमित रही। वह भोग-विलास की वस्तु समझी जाती थी। इस सन्दर्भ में डॉ० हौसिला प्रसाद सिंह की ये पंक्तियाँ ध्यातव्य हैं-"तुलसी का युग सामन्ती युग था। उस काल में नारी विलासिता का उपकरण थी। इसीलिए तुलसी ने भी उसके उस रूप पर कटाक्ष किया है-

स्रक चन्दन वनिताष्टिक भोगा। देखि हरण विस्मय बस लोगा।[१८]

इसके अतिरिक्त तुलसी को परम्पराओं द्वारा भी तो कुछ न कुछ मिला होगा। इसलिए चाहे-अनचाहे उन्हें अपनी रचनाओं में अभिव्यक्त किया। उनके पूर्व के मनीषियों ने नारी को जिस दृष्टि से देखा होगा, वह किसी न किसी रूप में तुलसी के साहित्य में भी आया होगा। तुलसी की नारी-सम्बंधी धारणा के मूल में डॉ० उदयभानु सिंह परम्परा से प्राप्त नारी-सम्बन्धी दृष्टि को स्वीकार करते हैं-"तुलसी पर इतना ही आक्षेप किया जा सकता है, कि उन्होंने परम्परा का अनुसरण किया। सांस्कृतिक संघर्ष के उस युग में परम्परा के प्रति निष्ठा समाज की आवश्यकता थी। योगवासिष्ठ, महाभारत, पुराणों आदि में नारी का जुगुप्सित रूप विस्तारपूर्वक अंकित है। तुलसीकृत निरूपण उसी शृंखला की एक कड़ी है।"[१९]

निष्कर्षत: कह सकते हैं कि महाकवि तुलसीदास ने दुराग्रहवश नारी के विषय में कुछ भी नहीं कहा है। जहाँ भी नारी के प्रति उनकी उदारता में थोड़ा-बहुत कमी आयी है, उसके मूल में दो-तीन कारण दिखाई देते हैं- परम्परा से प्राप्त नारी-सम्बंधी अवधारणा, तुलसी के युग में नारी की स्थिति एवं नारी के प्रति विरक्तों का उपेक्षाभाव।

सन्दर्भ

1. रामचरितमानस, द्वि.सो.दो0 29
2. रामचरितमानस, द्वि.सो. दो0 162/2
3. रामचरितमानस, द्वि.सो. दो0 15/2
4. रामचरितमानस, द्वि.सो. दो0 15/4
5. रामचरितमानस, द्वि.सो.दो0 29/2
6. रामचरितमानस, द्वि.सो.दो0 53/3
7. रामचरितमानस, द्वि.सो.दो0
8. रामचरितमानस, तृ.सो. सोरठा 5क/1
9. रामचरितमानस, द्वि.सो.दो0 17/3
10. तुलसी : शास्त्र एवं अवधारणाएँ-हौसिला प्रसाद सिंह,पृ.सं. 126, संस्करण-2006, संजय प्रकाशन,नई दिल्ली।
11. रामचरितमानस, प्र.सो. दो0 102/3
12. रामचरितमानस, पं.सो. दो0 36/5
13. रामचरितमानस, षष्ठ सो. दो0 16 (क)/1
14. रामचरितमानस, तृ.सो.दो0 35/2
15. रामचरितमानस, पं.सो. दो0 59/2
16. गोस्वामी तुलसीदास-रामचन्द्र शुक्ल, पृ.सं. 45, संस्करण-सं. 2022
17. तुलसीदास-माताप्रसाद गुप्त, पु.सं. 94, संस्करण-2002, हिन्दी परिषद् प्रकाशन, हिन्दी विभाग, इलाहाबाद वि.वि. इलाहाबाद।
18. तुलसी : शास्त्र एवं अवधारणाएँ पृ.सं. 130, संस्करण-2006,संजय प्रकाशन, नई दिल्ली।
19. तुलसी मुक्तावली-उदयभानु सिंह, पु.सं. 54, संस्करण- 1974, राधाकृष्ण प्रकाशन, दिल्ली।



दलितचेतना और रामावतसम्प्रदाय

डॉ. उदय प्रताप सिंह

कालक्रम के प्रवाह में सामाजिक जीवन घात-प्रतिघातों, विघटन-संघटनों के अनेक स्तरों से यात्रा करते हुए एक स्वरूप ग्रहण करता है। सामाजिक दृष्टि से बड़ी जातियाँ कभी छोटी हो जाती हैं तो छोटी जातियाँ बड़ी। सामाजीकरण की इस प्रक्रिया में सम्राटों के निर्धन होने के दृष्टांत मिलते हैं तो निर्धनों के सम्राट बनने के उदाहरण भी देखे जा सकते हैं। निकट अतीत में राजभर जाति वाराणसी आजमगढ़ और निकटस्थ भूभागों में कभी सत्ता की बागडोर सँभाले दिखाई पड़ती है। कभी पराक्रमी राजा सुहेलदेव गाजीमियाँ को बहराइच में परास्त करता है। जिससे इतिहास एक नया मोड़ लेता है। इसी जाति को कभी भारशिव कहा जाता जो आज पिछड़ी-निर्धन जाति में सिमट कर रह गयी है। योगी जाति की कहानी भी कुछ इसी प्रकार की है।[१] उसी जाति में कबीर जैसा महात्मा वैष्णवता का हिमालयी व्यक्तित्व बन जाता है। भारत वर्ष के अनेक प्रांतों में राजपूतों की सत्ता व्याप्त रही है पर उन्हीं स्थानों पर वे पिछड़ी जातियों में परिगणित होने लगे हैं। यादव जाति के साथ अतीत ने कुछ इसी प्रकार का परिवर्तन कर रखा है। ब्राह्मणों में योगी-यती गुसाईं आदि इसी प्रक्रिया के प्रतिफल कहे जा सकते हैं। इस सत्य से इनकार नहीं किया जा सकता कि सत्ता और उससे उत्पन्न अधिकार एवं अर्थ इन परिस्थितियों को धारदार बनाने में सहायक रहे हैं। भारतीय चिंतनधारा मुख्यत: भक्ति के आध्यात्मिक प्रस्थान में दलित और ब्राह्मण का भेद कभी स्वीकृत नहीं रहा है। ईश्वर की सत्ता में जीव मात्र समानता का अधिकारी है। वैसे भी दलित और उच्च दोंनों का संसार में आना एक ही प्रक्रिया का परिणाम है। जन्म-मृत्यु, मांस-रक्त सब तो एक ही हैं- फिर ब्राह्मण, शूद्र, छूत-अछूत सम्पन्न-निर्धन की व्यवस्था किसने की? यह एक बड़ा प्रश्न कबीर समाज के समक्ष रखते हैं।[२]

विचारणीय है कि कभी राजनीतिक छल-छद्म एवं अपरिपक्व पौरोहित्य कर्म ने ईश्वर की संतान मनुष्य को जातियों-उपजातियों, छोटों-बड़ों, कुलीनों-अकुलीनों में विभक्त किया तो आज की राजनीतिक प्रणाली उन्हीं की गयी सामाजिक भूलों को और पुष्ट बना रही है। अतीत की सामाजिक भूलें या दुरभिसंधियाँ आज की शासकीय एजेण्डा बनने का गर्व अनुभव कर रही हैं।

वस्तुत: इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ इसलामी शासन के प्रतिफलन के रूप में देखी जानी चाहिए। उस समय बहुत सी बड़ी जातियों को दरबारी संस्कृति के कारण अपनी मूल जाति और धर्म से च्युत होना पड़ा। बहुत बड़ा वर्ग मुसलमानों के साथ आयी जातियों से समरस होने लगा। फलत: नयी जातियों का उन्मेष होता गया। हिन्दुओं के पूर्वजों में बहुत कम ही लोग ऐसे थे जिन्होंने स्वेच्छा से धर्मांतरण किया। धर्मांतरित भारतीय मुसलमानों में हिन्दू मूल के लोग ही बहुसंख्यक हैं। अध्ययन से ज्ञात होता है कि आज के मुसलमान हमारे ही रक्त बंधु हैं तथा वे उन पूर्वजों के वंशज हैं जो किसी कारण विशेष से धर्मान्तरण के फलस्वरूप हमसे बिछुड़ गए।[३] मेहतर, भाँट अन्यान्य जातियाँ इन्हीं परिस्थितियों की उपज हैं। उस समय हिन्दू-पुरुष द्वारा मुस्लिम औरतों से विवाह करने के कारण उन्हें भी इसलाम स्वीकार करना अनिवार्य था। एक तो हिन्दुओं की कट्टरता उन्हें हृदयंगम नहीं करती थी। दूसरे इसलाम की शासकीय अहंमन्यता उन्हें सामाजिक प्रतिष्ठा नहीं देती थी। शनै:-शनै: ऐसे लोगों का एक बड़ा समूह बनता गया। कपड़े की सिलाई करने वाले दर्जी विभिन्न अवसरों पर बाजा वाले दफाली, बाल काटने वाले नाई (तुर्की), सफाई करनेवाले मेहतर, पत्थर काटने वाला पथरकट्टा इत्यादि दलित श्रेणी में होते हुए भी इसलाम मतावलंबी हैं। युद्ध काल में यह प्रक्रिया और तीव्रता से चली। "इसलामी आक्रांता पराजित एवं युद्ध बंदी हिन्दू सैनिकों को गुलाम बनाते, बार-बार क्रय विक्रय करते थे और वे अभागे हिन्दू गुलाम कालांतर में मुसलमान बनने को विवश होकर मुस्लिम जनसंख्या की वृद्धि के मुख्य घटक बन जाते थे। यह प्रथा भले ही बड़ी क्रूर मालूम देती हो लेकिन इसलामी धर्म विज्ञान के अनुसार युद्ध में शामिल न होने वाले काफिर पुरुषों, महिलाओं एवं बच्चों को गुलाम बनाना अल्लाह के द्वारा पुरस्कार के रूप में योद्धाओं को दिया जाने वाला स्वीकृत एवं अनुमोदित उपहार है। इस्लाम के समर्थकों ने अल्लाह की इस अनुज्ञा को निष्ठापूर्वक कार्यान्वित ही किया है।"[४] राजपूत जाति में उत्पन्न होने वाले दरियासाहब मुस्लिम दर्जी जाति की स्त्री से विवाह करने के कारण दर्जी (मुस्लिम) हो गये।[५] इसी प्रकार मध्यकालीन भारत में अनेकानेक नयी जातियों का सृजन होता रहा जो न पूर्णत: हिन्दू थीं और न मुसलमान ही, वे कालांतर में दलित हो गयीं। तमाम ऐसी हिन्दू जातियाँ जो मुस्लिम दरबारों में सेवा कार्य से जुड़ी थीं। हिन्दू समुदाय में उन्हें सम्मान नहीं मिल सका। धार्मिक वैभिन्न्य के कारण उन जातियों की इसलाम से स्वाभाविक दूरी बनी हुई थीं। मुसहर तेली दुसाध, चमार, विंद, पासी इत्यादि जैसी जातियाँ इसी श्रेणी में आती हैं। पुरोहितों के एक वर्ग ने इन्हें

मंदिर प्रवेश से वर्जित कर दिया। शास्त्राध्ययन पर रोक लगा दी। इस तरह सम्पूर्ण मध्यकाल उथल-पुथल की घटनाओं और परिस्थितियों से भरा पड़ा है। ऐसे ही समय में सिद्धों-नाथों ने तो कम पर संतों और सूफियों ने सम्पूर्ण भारतीय समाज को भक्ति के महाभाव से जोड़ने का अद्भुत प्रयास किया। इन सबों ने मिलकर जाति-पाँति की निस्सारता को जनसामान्य तक पहुँचाया। छुआछूत की भावना को नकारा। छोटे-बड़े की अवधारणा को समाप्त करने का अभियान चलाया। मतमतान्तरों को समेटने की चेष्टा की। वैषम्य को मिटाने की धर्मसनी वाणियाँ दीं। सभी ईश्वर के अंश हैं इसकी प्रतीति करायी। इसलिए समूचे मध्यकाल में भक्ति का प्रवाह सामाजिक समरसता के आंदोलन के रूप में दिखायी पड़ता है। ध्यातव्य है कि मुस्लिम शासित प्रांतों में इस आंदोलन की गति अत्यंत तीव्र थी। इस आंदोलन का मूल कारण दो संस्कृतियों तथा जातियों का टकराव ही नहीं वरन व्यापक पैमाने पर धर्मांतरण भी रहा है।

छोटा-बड़ा, ऊँच-नीच, शासक-शासित, शोषक-शोषित, दलित-सवर्ण, काला-गोरा का भेद सम्पूर्ण विश्व में न्यूनाधिक दिखायी पड़ता है। विश्व के अनेक भागों की भाँति भारत में भी जातियों में टकराव हुए हैं लेकिन इस्लामीकरण का यही एक प्रमुख कारण था यह एक भ्रांति है।"[६] यह प्रवृत्ति मनुष्य के स्वभाव के रूप में पनपने लगी है। इतना ही नहीं दलितों में दलित जातियों में जाति नीचों में नीच देखने की प्रवृत्ति भी दिखायी पड़ने लगी है। भारतीय समाज में कतिपय ब्राह्मण यदि छुआछूत को प्रतिष्ठित करते हैं तो धोवी-चमार से अहीर-ढँढोर से, पासी दुसाध से, परहेज करता है। शेख और पठान मोमिन अंसार से, दूरी रखना चाहता है। अंग्रेजों में भूस्वामी (लैण्डलार्ड) कम जमीन वाले से, प्रोटेस्टैन्ट कैथोलिक से भेद रखता है। इन भेदोपभेदों की लम्बी प्रक्रिया में आर्थिक रूप से विपन्न होता तथा सामाजिक रूप से निरादृत होता मानव समूह एक दिन दलित की राह पकड़ लेता है। समाज की इन विषमताओं और रूढ़ियों को भंजित करने का प्रयत्न प्रत्येक समाज में समय-समय पर चलता रहा है। विचारकों, संत-साधुओं, समाज सुधारकों, चिंतन मनन करने वाले मनीषियों, कवि रचनाकारों ने सामाजिक विकास और मानवता के दैवी प्रकाश में इन प्रवृत्तियों को काल बाह्य घोषित किया है, निरर्थक बताया है, धिक्कारा है और अंततः खारिज भी किया है।

आज का प्रचलित दलित चिंतन निकट अतीत का प्रदेय है। इसमें एकांगी दृष्टि का नियोजन है और राजनीतिक छलछद्म की रुनझुन होती है।[७] यहाँ सामाजिक भाव को जातीय परिवेश में परिभाषित किया जा रहा है। फलतः यह राजनीतिक

अधिक सामाजिक कम दिखायी पड़ता है। इसमें सम्पत्ति की बात अधिक और भाव साम्य की बात नहीं के बराबर की जाती है। अत: शासकीय सुविधाओं के बावजूद सामाजिक सौख्य अनुपस्थित है। दलित तो वही है जो कालक्रम में अपने अधिकारों से वंचित हो गया है। सामाजिक न्याय की परिधि से बाहर कर दिया गया है। पीढ़ी दर पीढ़ी अभिशाप का वहन कर रहा है। राजनीतिक दल दलितवर्ग की शताब्दियों से उत्पन्न समस्याओं का समाधान नहीं दे पा रहे हैं; अपितु अन्य जातियों के प्रति प्रतिशोध की भावना उत्पन्न कर रहे हैं। आरक्षण इत्यादि की नीतियाँ इस विखण्डन की प्रवृत्ति को और बढ़ा रही हैं। आरक्षण मुख्य रूप से दलितों-पिछड़ों के उत्थान का मात्र राजनीतिक प्रयास है। दलित वर्ग को लेकर कुत्सित राजनीतिक प्रयास सम्पूर्ण देश में चल रहा है जिससे दलित आंदोलन प्राणहीन तथा विवादास्पद हो ही रहा है सामाजिक ताना-बाना भी चटक रहा है। यह तो धीरे-धीरे अंग्रेजों की नीति पर चलना हो गया है। २०वीं शती के तीसरे दशक में मुसलमानों के लिए अलग क्षेत्र और प्रातिनिधिक व्यवस्था की स्वीकृति अंग्रेजों ने देकर दलित भावना को तीव्रतर किया। परिणामत: महाराष्ट्र में सुसंगठित ढंग से दलित चिंतन और चेतना पर विमर्श होने लगा। नाटक, कहानी, उपन्यास तथा अन्य विधाओं के माध्यम से दलित भाव को उत्तेजित करने का प्रयास चलने लगा। अमेरिका में लिखा गया निग्रो साहित्य भारतीय दलित लेखन का एक महत्त्वपूर्ण उपजीव्य बन जाता है। आधुनिक हिन्दी साहित्य में दलित चेतना का प्रथम उन्मेष १९१४ ई. में दिखायी पड़ता है। जो मराठी में लिखे साहित्य से बहुत पहले का है। बिहार के भोजपुर जनपद में जन्म लेने वाले हीरा डोम ने पं. महावीर प्रसाद द्विवेदी-संपादित सरस्वती पत्रिका में 'अछूत की शिकायत' नाम से एक अपनी कविता प्रकाशित करवायी थी। हिन्दी में दलित भाव-बोध की यह पहली कविता कही जाती है। इसमें दलित की वस्तुस्थिति, बेइंतहाँ पीड़ा की अभिव्यक्ति, ईश्वर के न्याय पर प्रश्न चिह्न, स्वधर्म के प्रति स्वाभिमान, सामाजिक व्यवस्था के खोखलेपन की ओर संकेत, पौराणिक आख्यानों पर तीखा व्यंग्य, जातियों के हिसाब से बँटे कर्म की निस्सारता, हाड़मांस से सबकी निर्मिति पर किसी को दुख और किसी को सुख क्यों, बेगार की प्रतिध्वनि, प्रताड़ना तथा जबर्दस्त तिरस्कार और घृणा की विवृत्ति एक साथ ध्वनित होती है। दलित हीरा डोम की यह कविता आधुनिक हिन्दी साहित्य में एक नयी संभावना की ओर संकेत करती है। हिन्दी में दलित लेखन की शुरुआत यहीं से स्वीकार करना चाहिए। प्रसिद्ध समीक्षक डॉ. रामविलास शर्मा ने भी इस कविता का उल्लेख दलित लेखन के संदर्भ में किया है। समानता की पक्षधर तथा अत्यंत दलित श्रेणी के हीरा डोम द्वारा लिखित यह कविता दलित चेतना और चिंतन का

दस्तावेज तो है ही आधुनिक हिन्दी साहित्य के दलित लेखन का प्रमुख उत्स भी है। बानगी के लिए कुछ पंक्तियाँ नीचे दी जाती हैं-

हमनी के राति दिन दुखवा भोगत बानी हमनी के साहब से मिनती सुनाइब।
हमनी के दुख भगवनवो ना देखता, जे, हमनी के कब तक कलेसवा उठाइब।।
पदरी साहिब के कचहरी में जाइब जा, बेधरम होके रंगरेज बनि आइब।
हाय राम धरम ना छोड़त बनतवा जे, बेधरम होके कैसे मुहँवा देखाइब।।
हड़वा मसुइया के देहिया ह हमनी के ओकरे के देहिया बभनवो के बानी।
ओकरा के घरे-घरे पुजवा होखत बा जे सारे इलकवा में भइलें जजमानी।।
हमनी के इनरा का निगिचे न जाइलैं जा पाँके में से भरि भरि पियतानी पानी।
पनहीं से पिटि-पिटि हाथ गोड़ तुड़िदेलैं, हमनी के एतनी काहे के हलकानी।।

कविता में अभिव्यक्त अछूत की वेदना वस्तुत: हमें इतिहास के पुनरावलोकन तथा भारतीय सामाजिक व्यवस्था के पुनर्निरीक्षण का अवसर प्रदान करती है। निश्चित रूप से हमारे अतीत के सामाजिक जीवन में अन्याय हुए हैं। लोगों को अधिकारों से वंचित किया गया है, उत्पीड़न का लक्ष्य बनाया गया है। शस्त्रों की गलत व्याख्या की गई है। पर प्रारंभ में ही संकेत किया गया है कि जाति आधृत सामाजिक व्यवस्था में भारतीय समाज में उत्पीड़न की घटनाएँ अत्यल्प हैं। मुगल और अंग्रेज शासकों ने भारतीय समाज को विभिन्न भौतिक सुखसुविधाओं के आधार पर बाँट दिया। उनके समस्त निर्णय जातीय आधार पर ही लिए जाते थे। अत: विभिन्न जातियों के बीच अधिकारों को लेकर एक द्वन्द्व चलने लगा। जमींदारी प्रथा का परिचालन मुगलों से होता हुआ अंग्रेज शासकों तक आता है। मुगल अंग्रेज की नीतियों से जैसे जमींदार प्रभावित होते थे उसी प्रकार का व्यवहार जमींदारों का दलितों के प्रति भी दिखायी पड़ने लगा। इस प्रकार सामाजिक विघटन और वैषम्य के मूल में विदेशी शासकों की नीतियाँ ही मुख्यत: जिम्मेदार रही है न कि प्राचीन भारतीय सामाजिक व्यवस्था। यह कहा जा सकता है कि पौरोहित्य कर्म ने इस भावना को बढ़ावा दिया।

मध्यकालीन भारत में मुगलों की सत्तास्थापना के कुछ वर्षों पूर्व से ही नाथों, सिद्धों, संतों तथा सूफी फकीरों की एक बड़ी जमात भी सामाजिक सौख्य स्थापित करने में सक्रिय दिखायी पड़ती है। जातीय विभेद, हिन्दू-मुसलमान का सांस्कृतिक संघर्ष, सम्प्रदायों की अनुदारता, जातिबोध की अहमन्यता, शास्त्रों की स्वार्थजन्य व्याख्या, मध्यकाल में खूब हुई। अत: शास्त्रबद्धता और पौरोहित्य कर्म की वर्गीय चेतना से तत्कालीन हिन्दी साहित्य

सहमत नहीं दिखायी पड़ता। सिद्धों और नाथों ने जनजागरण के माध्यम से ऐसी संकीर्ण प्रवृत्तियों का मुकाबला किया। १०वीं से १२वीं शती तक आचार्यों सिद्धों-नाथों और संतों ने भारतीय समाज का मंथन कर ऐसी भाव-भूमि निर्मित की जिस पर प्रगतिशील चेतना से मण्डित स्वामी रामानंद का अवतरण हुआ।

स्वामी रामानंदाचार्य ने (१२९९ ई.- १४१० ई.) वाराणसी के पंचगंगाघाट पर तपोरत रहते हुए भारतीय साधक समाज में महती प्रतिष्ठा अर्जित की थी। लोकमानस में उनकी मर्यादा का सर्वाधिक महत्व तत्कालीन समाज के इतिहास का अध्ययन करने पर ज्ञात होता है। इस समय तक इसलाम मतावलंबी फकीरों, सूफियों को भी स्वामी जी की साधना ने प्रभूत मात्रा में आकृष्ट कर रखा था। उनके जीवन वृत्तांत में कई ऐसे प्रसंग आते हैं जिनमें तत्कालीन सम्राटों ने उनके आगे समर्पण तक कर दिये हैं। उनकी शंख-ध्वनि में अजान के स्वर विलीन हो जाते थे। स्वामी जी की प्रभविष्णुता भारतीय लोक मानस पर इतनी अधिक चढ़ी हुई थी कि हिन्दू तो उन्हें 'रामानंदः स्वयं रामः प्रादुर्भूतो महीतले के रूप में स्वीकार ही करते हैं।[९] इसलाम मतावलंबी अरवी-फारसी के ज्ञाता मौलवी भी उनकी मृत्यु पर कसीदे निकालने से अपने को रोक नहीं पाते:

रहनुमाए सालँका साहिब कमाल, मुरशिदे कामिल कबीरो बेमिशाल।
दर रजब विस्तुम फिना फिल्लाहशुद, स्वामी रामानंद मुजतर पुरब बाल।।[१०]

अर्थात् ईश्वर भक्तों के पथ प्रदर्शक, परमोत्कृष्ट ज्ञानी, कबीर के अद्वितीय गुरु जिनके समान ज्ञानी दूसरा कोई नहीं ऐसे प्रभावशाली स्वामी रामानंद ता. २० रज्जब को परमात्मा से जा मिले। उक्त कथन का विश्लेषण करने पर ज्ञात होता है कि ८७६ हिजरी सन् की तारीख २० रज्जब चैत्र शुक्ला रामनवमी सम्वत् १५१५ वि० को पड़ी थी। इसी तिथि पर स्वामी रामानंद ने अयोध्या में मृत्यु का वरण किया था। तिथियों के दो चार दस वर्ष इधर-उधर होने का ध्यान न रखते हुए इतना तो सिद्ध ही है कि उस समय तक स्वामी रामानंद जगत्गुरु से अलंकृत हो चुके थे। इसलाम मतावलंबियों में उनकी साधना की तेजस्विता प्रविष्ट कर चुकी थी। प्रमाणस्वरूप जुलाहा कबीर स्वामी रामानंद से अभिमंत्रित होकर वैष्णवता के शिखर पुरुष बन जाते हैं। दलित रैदास महाभागवत बन जाते हैं। इस प्रकार स्वामीजी का आकर्षक व्यक्तित्व भारतीय समाज को अनेक रूपों में आलोकित करता दिखायी पड़ता है।

स्वामी रामानंद प्रगतिशील चेतना से मंडित महात्मा थे। सामाजिक क्षेत्र में कार्यरत किसी भी व्यक्तित्व को प्रगतिशीलता का मंत्र ग्रहण करना ही पड़ता है।

आज की धर्मद्रोही प्रगतिशीलता उन्हें मान्य नहीं थी। उनकी प्रगतिशील जीवन दृष्टि सम्पूर्ण धार्मिक आस्था के साथ सामन्जस्य का पक्षधर थी। सामाजिक धार्मिक अथवा अन्य क्षेत्रों में समयबद्ध जड़ता का आना स्वाभाविक है। स्वामी जी समय के महत्व तथा स्वभाव को पहचानने वाले सर्वाधिक निपुण महात्मा थे। युग प्रवृत्तियों के अन्त: एवं बाह्य प्रवाह का उन्हें पूर्ण ज्ञान था। मुगलसत्ता के हस्तक्षेपजन्य सामाजिक विघटन तथा नवीन मानव वर्गों (दलित) का निर्माण उनकी दृष्टि में था। अत: स्वामीरामानंद शास्त्रानुमोदित पक्ष का सम्मान करते हुए भी समाज में व्यावहारिक पक्ष की केन्द्रीयता पर विशेष ध्यान रखते हैं। वह हिन्दू समाज को विभिन्न खाँचों में विभक्त नहीं देखना चाहते; अपितु सबको ईश्वर की सृष्टि मानकर सार्वकालिक सिद्धान्त "जात पाँत पूछे ना कोई। हरि का भजै सोहरि का होई।" की उद्घोषणा करते हैं।

रामानंदी मान्यतानुसार 'प्रसंगपारिजात' के रचयिता चेतनदास स्वामी रामानंद के शिष्य थे। यद्यपि नाभादास उल्लिखित द्वादश शिष्यों में चेतनदास का नाम नहीं आता। फिर भी पंथीय विश्वास के अनुसार रामानंद जी के उपदेशों को चेतनदास ने पैशाची भाषा में उनकी मृत्यु के दो वर्ष बाद लिपिबद्ध किया था। 'प्रसंगपारिजात' के अंत में ग्रन्थपूर्ण होने की तिथि १५१७ विक्रमाब्द अंकित है।[११] स्वामीजी ने मृत्यु का वरण १५१५ वि. में किया। 'प्रसंग-पारिजात' के अष्टपदी संख्या १५ पृ. २४ पर दलित चेतना का बीजमंत्र दिया हुआ है। पैशाची भाषा में लिखित इस पुस्तक की प्राचीनता तो असंदिग्ध है पर कतिपय विद्वान् इसे प्रामाणिक ग्रंथ नहीं स्वीकारते। इन सब विसंगतियों के उपरांत इस ग्रन्थ से स्वामी रामानंद के वैचारिक धरातल का आभास तो मिल ही जाता है। संत साहित्य पर सर्वाधिक प्रामाणिक सूचना देने वाली पुस्तक नाभादास कृत 'भक्तमाल' भी स्वामी रामानंद की पाँचवीं पीढ़ी की रचना है। इस तर्क के आधार पर 'प्रसंग-पारिजात' को दलित चेतना का आधार ग्रन्थ स्वीकार करने में कोई असहज स्थिति नहीं होनी चाहिए। 'प्रसंग-पारिजात' की वे पंक्तियाँ निम्न प्रकार से मिलती है:

विप्पां भुचंसा माह किणा। तिसुधा मुधाथा लाहलिणा।।
लुह वाचलुं विग घासुमू। वह खाच भाड़िस चासुमू।।[१२]

अर्थात् "सब शास्त्रों का सार भगवान् का स्मरण करना है। यही संतों का जीवनाधार है। शिखासूत्र के आधार पादज और अन्त्यज हैं। भाई पैरों को काटकर समाज को पंगु मत बनाना।"

उक्त पदी का ध्वन्यर्थ यही निकलता है कि सनातन धर्म के आधार स्तंभ

चतुर्वर्णी शूद्र और दलित हैं। उन्हें सामाजिक तिरस्कार देकर हिन्दू समाज को कमजोर नहीं करना चाहिए। उन्हें आत्मीयता से अपनाकर बंधु-भाव विकसित करना चाहिए। पादज (शूद्र) अंत्यज (दलित) तो कर्म के साक्षात स्वरूप हैं। पादजों-अन्त्यजों रहित समाज की कल्पना दिवा स्वप्न है। उनके अलगाव से समाज का एक महत्वपूर्ण पायदान टूट जाएगा।[१३] समाज लंगड़ा हो जाएगा। स्वामी रामानंद की यह प्रगतिशील सोच उनकी विशिष्टाद्वैतवादी दार्शनिक अवधारणा की उपज कही जाएगी जिसमें जगत् जीव और ईश्वर तीनों की सत्ता महत्वपूर्ण है। जीवदास्य भाव से ईश्वरार्पण करता है। भक्ति का चरम ही दास्यभाव की प्रतीति है। अर्थात् सम्पूर्ण जीव दास्यभाव से ईश्वराधीन है। फिर पादज और अन्त्यज का प्रश्न कहाँ? मुक्ति तो सारूप्य सालोक्य और सामीप्य का मिश्रित प्रतिफल है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि सामाजिक अधिकारों से बंचित, अनादृत समाज के आधार स्तंभ दलितों के प्रति स्वामी रामानंद के हृदय सागर में समानुभूति एवं सहानुभूति की अनंत उर्मियाँ उठती रहीं हैं।

जगत्गुरु रामानंदाचार्य ने अपने दीर्घजीवनकाल में शास्त्र की पंक्तिबद्धता को कभी सर्वोपरि नहीं स्वीकार किया। उनके समक्ष तत्कालीन भारत के दयनीय समाज का चित्र निरंतर दिखायी पड़ता था। फलत: स्वामी रामानंद ने सामाजिक अभियान जो पूर्णत: धार्मिकता से आवेष्टित था- में पादजों (शूद्रों) अन्त्यजों (दलितों) तथा स्त्रियों को बराबर का महत्त्व प्रदान किया है। वर्णाश्रम व्यवस्था के संपोषक होते हुए भी उपासना के क्षेत्र में किसी भी लौकिक प्रतिबंध को स्वीकार नहीं करते। यही कारण है कि उनके द्वादश शिष्यों में ब्राह्मण, राजपूत, चमार, मुसलमान, अन्त्यज तथा पादज सभी थे। यह रामानंद के मंत्र का ही परिणाम था कि मध्ययुगीन भारतीय मानसिकता में चमार के घर जन्म लेकर रैदास भक्त शिरोमणि कहलाए। कबीर जुलाहे के घर पैदा होकर महाभागवत बन गए। मध्यकालीन भक्ति आंदोलन की इन चमत्कारी एवं क्रांतिकारी घटनाओं में स्वामी रामानंदाचार्य का अभिमंत्रण ही काम कर रहा था। सेन नाई को शिष्य बनाकर प्रगतिशील सोच में एक अध्याय और जुड़ जाता है। राजस्थान में पीपा राव अत्यंत बलशाली राजपूत राजा थे वह भी स्वामी रामानंद के शिष्य बनकर भक्तों-संतों की श्रेणी में अग्रणी बन सके। संत रैदास के शिष्यत्व के अवसर पर भारतीय स्तर का संतों का भण्डारा स्वामी रामानंद की दूरदृष्टि का परिचायक है तो दलित प्रेम का पुष्ट प्रमाण भी।[१४] भारतीय समाज को सुदृढ़ बनाने के लिए स्वामी रामानंद ने पादजों (शूद्रों) अन्त्यजों (दलितों) तथा स्त्रियों की सामाजिक प्रतिष्ठा पर विशेष बल दिया था। उन्होंने भक्तिमार्ग की स्रोतस्विनी से जहाँ जातिभेद के कल्मष को प्रक्षालित किया वहीं अशिक्षित अछूत कहीं जाने वाली जातियों के लिए धर्म का द्वार भी उन्मुक्त कर दिया। सुरसरि और पद्मावती जैसी स्त्रियों को शिष्या बनाकर भक्ति की

अधिकारिणी बनाया। जनभाषा में कविता रचकर जनसामान्य का मार्ग भी सुलभ कर दिया। ऐसे लोकाभिमुखी आचार्य के कर्म समस्त मानव जाति के लिए संजीवनी सदृश हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता थी कि समन्वित भारतीय भाव-धारा में सबको समरसता बंधुता तथा सामाजिक उन्नति का समान अवसर उपलब्ध है। आचार्य रामानंद के भीतर प्राचीन और नवीन के बीच निरंतर द्वन्द्व चलता रहता था। शास्त्रों का भाष्य करते समय वे वर्णाश्रम के प्रतिबंधों का खण्डन नहीं कर सकते थे किन्तु उनके लिए यह भी कठिन था कि किसी भक्त का निरादर सिर्फ इसलिए करें कि उसका जन्म ब्राह्मण या द्विज वंश में नहीं हुआ है। विचार से वे कठोर किंतु आचार से दयालु संत थे। उनका उद्देश्य रूढ़ियों और जड़ताओं को भंग करना था साथ ही एक ऐसे नवसमाज का सृजन भी था जिसमें मानवीय स्तर पर भेद-भाव न हो।[१५] कदाचित इसीलिए सामाजिक एकता समानता और सौख्य हेतु उन्होंने अपने द्वादश प्रमुख शिष्यों में प्राय: उतनी ही जातियों का समावेश किया। सदना जैसे कसाई को भी शिष्य बनाकर स्वामी रामानंद ने अपनी उदारता तथा हृदय की निर्मलता का परिचय दिया था। दलित चेतना का इससे बड़ा प्रमाण और क्या हो सकता है? वह भी आज से सात सौ दस वर्ष पूर्व।

स्वामी रामानंद ने धर्म के माध्यम से समाज सुधार का जो आनुष्ठानिक अभियान चलाया वह कबीर, रैदास, पीपा, धन्ना, नरहर्यानंद, तुलसीदास द्वारा होता हुआ आज के संत समाज में व्याप्त है। परिणामत: जुलाहे कबीर के असंख्य शिष्य सवर्ण हुए। चमार रैदास की शिष्या झाला की रानी क्षत्रिय मीराबाई हुईं। राजपूत पीपा के शिष्य आदिवासी जातियाँ तथा मुसलमान हुए। सेन नाई के शिष्य महाराजा तक हुए। धन्ना जाट के शिष्य ब्राह्मण हुए। स्वामी रामानंद द्वारा प्रवर्तित सात सौ दस वर्षीय प्राचीन परम्परा आज भी उनके मूल गादी श्रीमठ पंचगंगा घाट पर सोत्साह चल रही है। वर्तमान आचार्यश्री स्वामी रामनरेशाचार्य जी प्रतिवर्ष रामानंदाचार्य जयंती पर अखिल भारतीय दलित सम्मेलन का आयोजन करते हैं। इसमें सम्पूर्ण देश से आए दलित वर्ग के संत स्वामी रामानंद को प्रणाम करते हुए सामाजिक समानता, धार्मिक एकता का संकल्प लेते हैं। रामानंदी साधुओं-साधकों तथा संतों के इस सम्मेलन से अद्यावधि रामावत सम्प्रदाय में दलित चेतना का रेखांकन किया जा सकता है। दलित चेतना के इस दीर्घकालिक प्रवाह में रामावत सम्प्रदाय के प्रवर्त्तक (उन्नायक) स्वामी रामानंद का सात सौ ग्यारह वर्षीय प्रदेय भूलने का विषय नहीं।

संदर्भ

1. कबीर : हजारी प्रसाद द्विवेदी, पृ. 86।
2. एक नूर से सब उत्पन्ना को बाभन को सूदा।
3. भारतीय मुसलमान : डॉ. किशोरी शरण लाल, पृष्ठ भाग।
4. भारतीय मुसलमान : किशोरीशरण लाल भूमिका, पृ. 2।
5. दरियासागर पृ. 205 : दरिया साहब (बिहार वाले)
6. भारतीय मुसलमान : किशोरीशरण लाल पृ. भाग।
7. जात-जात मेंजात है ज्यौं केलन में पात।
   रविदास मनुज न जुड़ सकै जब लौ जात न जात।।-रविदास साखी।
8. सरस्वती 1914 ई. : संपादक- महावीर प्रसाद द्विवेदी नागरी प्रचारिणी सभा का अंक।
9. वैश्वानार संहिता।
10. प्रसंगपारिजातः चेतनदासः भूमिका।
11. प्रसंगपारिजात- चेतनदास अंतिम पदी।
12. अष्टपदी सं. 106 में मृत्यु क्षण का उल्लेख।
13. प्रसंगपारिजात 15वीं पदी पृ. 24।
14. आचार्य रामानंद का सामाजिक परिवेश : मोहन लाल तिवारी : श्रीमठ स्मारिका पृ. 40, 1989 ई.
15. मध्यकालीन भारतीय इतिहास : रामधारी सिंह दिनकर पृ. 190।

●

भागवतधर्म के उदार प्रयोक्ता : जगद्गुरु रामानन्दाचार्य

प्रो० जयकान्तशर्मा

विगतवर्षों से समाज के विविधवर्गों में धर्माचार के अधिकारों को लेकर छीनझपट की प्रवृत्ति बढ़ी है, इस शताब्दी के प्रबुद्धलोकचिन्तकों के द्वारा निर्धारित सामाजिक न्याय व्यवस्था एवं समानाधिकार के इस वातावरण का पूर्णत: शास्त्रमात्र के द्वारा व्यवस्थित धार्मिक आचारों के क्षेत्रों में भी द्रुततर संक्रमण देखा जा रहा है। यह विचारे बिना कि आखिर धर्माधर्म की सत्ता में प्रमाण ही क्या है? धर्माचरण क्यों किया जाय। इसका नियामक कौन है। सौमनस्यविद्रावक एक बौद्धिक उपद्रव उपस्थित हुआ है। वस्तुत: ये सभी प्रकल्प शास्त्रमूलक हैं, अत: जो शास्त्र को प्रमाण नहीं मानते, उनके अविचारित व्यवसाय को अचिन्तनीय मानना ही उचित होता किन्तु युगधर्म के अनुरूप दुर्भावी समवाय तथा अर्धपठित अर्वाचीन विकासवादी चिन्तकों के अध्यात्मविषयक विषाक्त निबन्धों ने इस अग्नि को और प्रचण्ड बना दिया। उल्लेखनीय है कि अन्धतामिस्र की इस ज्वाला से सम्प्रति वैदिक वर्णाश्रमधर्म कुछ अधिक ही सन्तप्त रहा है। हमें सोचना होगा कि जिन शास्त्रों ने हमारे लिये विविध आचारों का विधान किया, उन्हीं ने उन आचारों के अधिकार का भी निर्देश किया, एकांगी शास्त्र एवं आचार्य के निर्देश के बिना स्वेच्छा से सम्पादित साधना एक अर्थहीन पाखण्ड ही नहीं, अपितु अकृत्यकरणरूप पाप भी है। मधुर एवं पोषक मोदक भी विष से संपृक्त हो भक्षक के जीवन का घातक सिद्ध होता है। अत: शास्त्रीयमर्यादा का अतिक्रमण अपने पाद पर कुठाराघात ही होगा। साधनों के स्वरूपनिर्णय की तरह कर्ता के अधिकार के निर्णय में भी शास्त्र ही प्रमाण है। शास्त्र की अनुज्ञा के विना अनधिकृत रूप से कृत कर्मों का निर्विघ्न निर्वाह तो दूर, प्रत्युत विपरीत फल देखा जाता है। चाहे वह शम्बूक का तपश्चरण हो या त्रिभुवनगुरु रुद्र

की उपेक्षा से किया गया दक्षयज्ञ हो, वह लोक के लिये अभिशाप तथा अनुष्ठाता के लिये अभिचार सिद्ध हुआ अतः भगवन्निग्रह का विषय बना। दूसरी ओर समर्थ एवं रामोपासक सदगुरुमतंग के आश्रय एवं अभ्यनुज्ञा से रामोपासना में प्रवृत्त एक शबरजाति की कन्या शबरी लोकसमादृत हुई। यह उसकी आचार्यभिमानपूर्वक की गई भक्तिसाधना एवं तपोनिष्ठा का ही फल था कि बड़े बड़े अमलात्माओं के अन्वेषणीय प्रभु ने स्वयं उसके आश्रम में पधारकर न केवल दर्शन-उपदेश दिये, अपितु उसकी सविधि अर्चना स्वीकार कर धन्य किया। श्रीरामवल्लभा, जो श्रीसम्प्रदाय की परमाचार्य हैं के प्रसाद का अवलम्बन तो दूर, दोषदर्शनपूर्वक खाने के लिये झपटने वाली शूर्पणखा की वैसी गति होनी ही थी, भले ही वह भगवत्प्राप्ति की कामना से ही क्यों न आयी हो। आत्मबुद्धि न होने पर भी कामादिभाव से की गई उपासना भी सफल देखी जाती है। भगवती को विविध भीषण यातनाओं से व्यथित करने वाली राक्षसियों ने जब त्रिजटा के मुख से भावी दारुणफल का श्रवण किया, भीत राक्षसियों को पराम्बा के चरणाश्रय का उपदेश त्रिजटा ने किया, फलतः श्रीसीताजी ने न केवल अभय का आश्वासन दिया अपितु निग्रहहेतु उद्यत हनुमान् जी से उन्हें बचाया। इस प्रकार साधनों की सफलता में शास्त्र की अनुज्ञा के साथ आचार्यानुमोदन भी अनिवार्य होता है। शास्त्रानुकूल सात्त्विकप्रवृत्तियाँ दो प्रकार की होती हैं-त्रिवर्गपर्यवसायी तथा मोक्षपर्यवसायी।

मोक्षपर्यवसायी भी साक्षात् एवं परम्परया भेद से दो प्रकार की होती हैं। वर्णाश्रमधर्मानुष्ठान से अन्तःकरण की शुद्धि के पश्चात् विहित कर्मों को भगवत्प्रीत्यर्थ करते रहने से आत्मज्ञान के क्रम से भगवज्ज्ञान दर्शन एवं प्राप्ति के अनन्तर नित्यकैंकर्यरूप मोक्ष की परम्परया प्राप्ति होती है। अनेक जन्मों के वंचित पुण्य के प्रभाव से उत्पन्न निर्वेद तथा तत्त्वेत्ता महात्मा से प्राप्त स्व-परज्ञान के साथ निवृत्तिप्रधान भागवतधर्म के अनुष्ठान से साक्षात् भगवत्प्राप्ति बतायी गई है। उल्लेखनीय है कि यह भागवतधर्म वेद की एकायन शाखा में प्रतिपादित, पाञ्चरात्रादि आगमों द्वारा पोषित तथा निवृत्तिप्रधान वैष्णवाचार्यों द्वारा सेवित विलक्षण साधन है जो रामानन्दीय वैरागी महात्माओं के आचारों में दृष्टिगोचर होता

है। यह तथ्य गंभीरता के साथ अन्वेष्टव्य है कि भागवत के अजामिलोपाख्यान में विष्णुदूतों के पूछे जाने पर यमदूतों के द्वारा कथित धर्मलक्षण में क्या न्यूनता थी? जिसे सुनते ही विष्णुपार्षदों ने केवल अरुचि ही नहीं अपितु "स्वयं धर्ममधर्मं वा नहि वेद यथा पशु:" इत्यादिं शब्दों से डाँट लगायी। उन्होंने ठीक ही तो कहा था- "वेदप्रणिहितो धर्मो ह्यधर्मस्तद्विपर्यय:" "वेदप्रतिपाद्य: प्रयोजनवदर्थो धर्म:" इसके अतिरिक्त वे क्या सुनना चाहते थे? यातनार्थ अजामिल को लाने में असफल तथा भगवत्पार्षदों से निगृहीत यमदूतों ने जब आकर अपने स्वामी धर्मराज से निर्दुष्टलक्षण पूछा तो धर्मराज ने उसे अत्यन्त गोपनीय विशुद्ध दुर्बोध बताते हुए "धर्मं तु साक्षाद् भगवत्प्रणीतम्" इत्यादि कहकर भागवतधर्म का स्वरूप बताया, जिसे देहलक्षित लोकाश्रितधर्म से विलक्षण माना गया है, अत: इसके अनुष्ठाता को लोकबाह्य कहा गया (भा. ११/२/४०)। दोनों लक्षणों में वेदप्रतिपाद्यत्व समान होने पर भी प्रथम को त्रिवर्गपर्यवसायी त्रैविद्य गुणाश्रय धर्म तथा दूसरे को मोक्षपर्यवसायी शुद्ध भागवतधर्म कहा गया है-"धर्मं भागवतं शुद्धं त्रैविद्यं च गुणाश्रयम" (भा. ६/२/२४) यही मानवमात्र का परमधर्म वैष्णवों का भक्तियोग कहलाता है अर्थात् भगवान् के द्वारा स्वप्राप्तिहेतु प्रोक्त भागवतधर्म के अनुष्ठान में प्रमाद स्खलन एवं पतन की कोई संभावना नहीं होती।

यानास्थाय नरो राजन् न प्रमाद्येत कर्हिचित्।
धावन् निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदिह।। (भा. ११/२/३५)

भगवत्समाश्रयण तथा आत्मसमर्पण की प्रधानता वाले इस धर्म के निरापद एवं अचिन्त्यसामर्थ्य का प्रयोग कर स्वामी श्रीरामानन्दाचार्य ने अनेक जीवों का कल्याण किया।

यद्यपि श्रीरामानुजपरम्परा में भी वेदान्तदेशिक श्रीनिवासदास आदि मनीषियों ने प्रपत्ति को 'सर्वाधिकारा' कहा है तथा उन्होंने प्रपत्ति से भक्ति को पृथक् मानकर उसमें ब्राह्मणादि त्रैवर्णिक का ही अधिकार माना-

"भक्तावधिकारस्त्रैवर्णिकानामेव, देवानामप्यस्ति, अर्थित्वसामर्थ्ययो: संभवात्, न शूद्राधिकार:, अपशूद्राधिकारणविरोधात्"।

भक्ति एवं न्यास दोनों ही उपनिषत्प्रतिपादित होने से ब्रह्मविद्या हैं, दोनों में

समान वेदविहितत्व है, अत: अधिकारविषयक वैषम्य में बीज क्या हो सकता है? प्रतीत होता है कि रामानुजाचार्य याग-अर्चनादिभक्ति के अनुष्ठान को वेदमन्त्राद्युच्चारणसापेक्ष तथा न्यास में उसकी अपेक्षा न होने से ऐसा भेद मानते हों। किन्तु श्रीरामानुजपरम्परा के रामायणटीकाकार गोविन्दराज शबरीप्रकरण का उपसंहार करते हुए लिखते हैं-

"स्त्रियामपि विदुरादेरिव योगाधिकार: संभवति, तदङ्गयज्ञादिकर्मस्थाने गुरुशुश्रुषा......इत्यादि।" सम्प्रति गुणों के साङ्कर्य तथा आचार में समानता के कारण भक्त एवं प्रपन्ना में भेद करना दुष्कर सा हो गया है।

विभीषण शरणागति के प्रसंग में प्रभु द्वारा अपने परिकर से पूछे जाने पर किसी ने विभीषण को अविश्वसनीय बताया तो किसी ने परीक्षणीय। सुग्रीव ने तो एक नैयायिक के समान 'विभीषणो निग्राह्य: सदोषत्वात्" कहकर उसे निग्रह का विषय बताया, केवल श्रीहनुमानजी ने विमर्शपूर्वक विभीषण के पक्ष में यह युक्ति दी- विभीषण: परिग्राह्यो निर्दुष्टत्वात्। सवके मत सुनने के अनन्तर परम प्रभु ने अपने उदार सिद्धान्त का विश्लेषण करते हुए कहा कि सुग्रीव की युक्ति में साध्य एवं हेतु दोषयुक्त हैं, जबकि हनुमान जी के अनुमान प्रकार में परिग्राह्यत्वरूप के समीचीन होने पर भी निर्दोषत्व रूप हेतु ठीक नहीं है, शरणागत होना ही मुख्य हेतु है। पक्ष के रूप में विभीषण ही क्यों, बद्धजीवमात्र हों। प्रभु के अनुसार-'जीवमात्रं' परिग्राह्यं शरणागतोऽहमिति वाक्यप्रोक्तृत्वात्" ऐसा उचित है। महापापियों को भी स्वीकृति का आश्वासन देने वाली प्रभु श्रीराघवेन्द्र की वह दिव्यवाणी यह है-

मित्रभावेन सम्प्राप्तं न त्यजेयं कथञ्चन।
दोषो यद्यपि तस्य स्यात्सतामेतदगर्हितम्॥
अनयैनं हरिश्रेष्ठ दत्तमस्याभयं मया।
विभीषणो वा सुग्रीव यदि वा रावण: स्वयम्॥

प्रभु का "दोषो यद्यपि तस्य स्यात्" यह कथन पापियों के मन में भी कितना संचार करता है, इसे सुधी रसिक समझते होंगे। इसी प्रकार की भगवदीय सार्वभौम घोषणा की भित्ति पर प्रपत्तिसिद्धान्त अवलंबित है, जिसके बल पर श्रीरामानन्दस्वामी

ने योग्यत:निरपेक्ष "सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणो मता:" कहा है। आचार्यपाद के इस वचन में सर्वाश्च सर्वे च तथाअधिकारिण्यश्च अधिकारिणश्च इस प्रकार "पुमान् स्त्रिया" इस पाणिनीय अनुशासन से एकशेष समझना चाहिये तथा प्रपत्तिपद को भक्ति का उपलक्षण मानना उचित है, जिससे मानवमात्र का भक्ति प्रपत्ति दोनों का अधिकारी होना बोधित हो।

रामानन्दसम्प्रदाय के चिन्तन का स्पष्ट वैलक्षण्य यह है कि अपशूद्राधिकरण के अनुसार भले ही मानवमात्र को ब्रह्मविद्या तथा यज्ञादिकृत्यों में अधिकार न हो, भक्ति तो भगद्विषयक प्रीति है और वह केवल वेदान्तश्रवण या यागादि ही नहीं, तदतिरिक्त नामसंकीर्तन-कथाश्रवण मन्दिरमार्जन-पुष्पावचय भागवतसेवा आदि उसके भगवन्निमित्तकसपर्या के अनेक क्षेत्र हैं। मनुष्यों के द्वारा यथधिकार भगवत्प्रीतियुक्त अन्य व्यापारों को भक्ति क्यों नहीं माना जा सकता? अपनी योग्यता अधिकार के अनुसार मनुष्यमात्र को आत्मभूत भगवान् से जोड़ने में कोई शास्त्रीय बाधा नहीं होनी चाहिए। अत: भक्ति को त्रैवर्णिक मानना उचित नहीं। वैदिकधर्म एवं मर्यादा की प्रतिमूर्ति प्रभुश्रीराम के द्वारा निषाद भीलकोल किरात आदि की यथाधिकार सेवा को स्वीकार करना इस तथ्य का एक प्रवल निदर्शन है। भागवतकार भी वर्णाश्रमधर्म से बहिर्भूत किरात हूण आन्ध्र पुलिन्द पुल्कश आदि के भागवत आश्रयमुखेन परिशुद्ध होने का उल्लेख करते हैं। (भाग. २/४/१८)

यथाधिकार विहित भगवन्निमित्तक व्यवसाय ही भक्ति है, आचारबहुल में भी प्रभु का अपनी प्राप्ति कराने के लिए वैसा व्यवसाय नहीं देखा जाता है जैसा आचारहीनों के लिये। सततानुष्ठायी के समान भक्ति का विरलानुष्ठायी भी साधुतया माननीय है, अत: स्वल्प वैकल्यप्रयुक्त अनादर महापराध होगा।

भक्ति शास्त्रों एवं साधनों का सार है और भगवान् सारग्राही है। भक्तिप्रियो माधव: भावग्राही जनार्दन: इत्यादिवचनों से भगवान् की भक्तिप्रियता सिद्ध है। खजानों का कंकड़-पत्थर अग्राह्य तथा कूड़े में विद्यमान रत्न आदरणीय होता है। इसी के आधार पर "जाति पाँति पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई" इसका उद्घोष हुआ। यद्यपि भगवत्प्राप्ति में प्रतिबन्धक रजस्तमोमूलक पापों के

निरसन के लिये आचार आवश्यक है क्योंकि आचारव्यतिक्रम उत्तरोत्तर भजनोत्पत्ति के प्रवाह को रोकता है तो भी यथाधिकार भगवत्सेवा से पाप का निवर्तन होने पर वह उपासना का प्रतिबन्धक नहीं बनता है। इस प्रकार भगवत्समाश्रय स्वीकार करने पर जैसे जात्याद्यपकर्ष भक्ति में प्रतिबन्धक नहीं होता है वैसे वृत्तापकर्ष भी। यहाँ यह भी स्मरणीय है कि भागवत में महापुरुषों की सेवा तथा नामकीर्तन से दौष्कुल्यदोष का अपनयन बताया गया है- (भा. १/१८/१८) योग्यतासम्पादन की इसी विधि ने एक सूत को भी ऋषियों के समक्ष उच्च आसन पर बैठकर पुराणप्रवचन का अधिकारी बना दिया।

शंकराचार्य के अनुसार अनेकविधभेद पर आश्रित कर्मानुष्ठान को अभेदरूपमोक्ष में कारण नहीं माना जा सकता जबकि रामानुजाचार्य के अनुसार वर्णाश्रमधर्म आरम्भ में भगवत्प्राप्ति विरोधी आवरणभूत पापों के विनाश के लिये तथा बाद में भगवदाज्ञारूप मानकर भगवत्प्रीत्यर्थ आमरण अनुष्ठेय है। भक्ति के पक्षपाती अद्वैती मधुसूदन् सरस्वती ने भी "अर्जुनं च क्षत्रियं संन्यासानधिकारिणं प्रति संन्यासोपदेशायोगात्" कहकर ब्राह्मणातिरिक्त को संन्यासग्रहण का अनधिकारी माना है। अद्वैतियों के यहाँ संन्यासपूर्वक श्रवणमननादि के परिपाक से युक्त ज्ञाननिष्ठा से ही मोक्ष स्वीकार किया गया है। ब्राह्मणातिरिक्तों में मोक्षाधिकार की कल्पना ही नहीं की जा सकती।

भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य के सामने एक ओर स्त्रीशूद्रौ नाधीयांताम्, न शूद्राय मतिं दद्यात् जैसे कठोर शास्त्रीय अनुशासन थे तो दूसरी ओर स्त्रीशूद्रादि को भक्ति की मुख्यधारा से जोड़ने का मंगल संकल्प। लोकमंगलहेतु व्यापक दृष्टिकोण तथा शास्त्रों का कालानुरूप प्रयोग ही आचार्य को वस्तुत: जगद्गुरु पद का यथार्थतया भाजन बनता है, महत्तम आचार्य वह होता है जो विविध विरोधों एवं विषमताओं के अर्न्द्वन्द्व में से वैदिकसंस्कार आचार्य एवं मर्यादाओं को यथावत् अक्षुण्ण रखते हुए समन्वयपूर्वक एक सर्वमान्य निरापद सरल मार्ग उसके समक्ष प्रस्तुत करता है। जीवों की दयनीयदशा देख करुणा से उद्वेलित होकर वे शास्त्रों की उत्सर्गापवादन्यास से पुन: समीक्षा कर शरीरोपासना से आत्मोपासना तक

पहुँचाने का सुखदमार्ग तलासते हैं। आचार्यचरण ने भक्तिविमुख शूद्र, एवं नारियों के लिये भक्ति का द्वार उद्घाटित कर आभ्यन्तरकुण्ठा से सदा के लिये मुक्त किया, उन्हें लगा कि किसी ने उन्हें देहलोक से उठाकर देवलोक में प्रतिष्ठापित कर दिया हो। संभव था लोकधर्म की रीति से पापनिवृत्ति-सत्त्वशुद्धि-ज्ञानोत्पत्ति आदि के क्रम से इस परमलाभ तक इन्हें पहुँचने में अनेक जन्म लग जाते। वैष्णवाचार्यों के अनुसार यथेष्टविनियोगार्हरूप शेषत्व जो आत्मवृत्ति धर्म है, जिसमें अनन्यार्हत्व, अनन्यभोग्यत्व, की भावना अनुस्यूत हैं, इसी आत्मगत धर्म को दृष्टिगत रखकर एक ओर कबीर रैदास धन्ना सेन आदि को परमलाभ की प्राप्ति हुई तो दूसरी ओर पद्मावती सुरसरी प्रभृति स्त्रियों को दुर्लभ भगवदभाव की प्राप्ति हुई। प्रयोग के विना अचरितार्थ हो रहे उन शास्त्रों के महार्थों ने जो उदारप्रयोक्ता आचार्य की विशद दृष्टिनिक्षेप की अपेक्षा कर रहे थे, अपवादशास्त्र के समान सामान्यशास्त्रों पर अपना आधिपत्य जमा लिया, अब तो वैदिक कर्मकाण्डी ब्राह्मण अपनी भक्तिमती पत्नियों के भाग्य की सराहना करने लगे, अपने भक्तिरहित जीवन को धिक्कारने लगे, जैसा कि भागवत में वर्णन आया है-

धिग् जन्म नस्त्रिवृद् विद्यां धिग् व्रतं धिग् बहुज्ञताम्।
धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं, विमुखा ये त्वधोक्षजे।।
अहो पश्चयत नारीणामपि कृष्णे जगद्गुरौ।
दुरन्तभावं योऽविध्यन्मृत्युपाशान् गृहाभिधान्।।
नासां द्विजातिसंस्कारो न निवासो गुरावपि।
न तपो नात्ममीमांसा न शौचं न शुभाः क्रियाः।।
अथापि ह्युत्तमश्लोके कृष्णे योगेश्वरेश्वरे।
भक्तिर्दृढ़ा न चास्माकं संस्कारादिमतामपि।।

(भाग. १०/२३, ३९, ४१, ४२, ४३)

अन्ततः शरीरगतविशेष को गौण मानकर आत्मधर्म को प्रधानता देते हुए आचार्यचरण ने स्त्रियों को केवल श्रीरामभक्ति का अधिकार ही नहीं अपितु अपना

शिष्यत्व प्रदान कर धार्मिकजगत् में प्रथम प्रयोगात्मक निदर्शन प्रस्तुत किया। उनके जीवन में भक्ति की ऐसी एक अवस्था प्रकट की जिसने उन्हें महाभागवत की कोटि में प्रतिष्ठापित कर दिया। वह अधिकार जो स्त्रीशरीरपात के अनन्तर कदाचित्प्राप्त पुरुषशरीर की प्राप्ति के बाद भी शायद ही मिलता, शास्त्रगर्हित इसी स्त्रीशरीर से भक्ति द्वारा भगवच्चरणोपासना का वह अधिकार श्रीस्वामीजी ने प्रदान किया। आचार्यचरण ने अपने पति की सेवा को परमधर्म मानने वाली को उस परमपति के साथ परिचय ही नहीं वरन् नित्यसम्बन्ध का भान कराया, आत्मबुद्धि से उपासना की रीति बतायी, जिस परमपति को श्रुति ने 'पति पतीनां परमं परस्तात्' कहा तो भगवान् बादरायण ने "पत्यादिशब्देभ्य:" सूत्र के द्वारा निर्दिष्ट किया। वस्तुत: 'पाति सर्वतो रक्षतीति पति:' इस व्युत्पति के अनुसार जो स्वयं काल का ग्रास है अर्थात् जो इस अनादि अविद्याकृत जन्ममरण के प्रवाह में पड़ने से बचा न ले वह कैसा पति? वैसे पति तो एक ही हैं-निखिलजगत्पति श्रीरघुपति।

यहाँ ध्यातव्य है कि वैदिकविधि से पाणिग्रहणसंस्कारपूर्वक स्वीकृत पति की भी तत्प्रतिरूप मानकर सेवा करने में त्रिवर्गसाधनशास्त्रीयमर्यादा का कोई विरोध नहीं है, वैदिक सनातनधर्म में विलक्षण सौविध्य है कि हमें ईश्वर तक पहुँचने के लिये उसकी अनेकप्रतिमूर्ति माता-पिता गुरु पति गो ब्राह्मण तुलसी गंगा आदि के रूप में सुलभ है, ईश्वरीयभावनापूर्वक सेवा करते हुए धीरे धीरे अपने भावविकास के द्वारा धार्मिकप्रकर्ष से चित्तशुद्धि के क्रम से उस महनीय भगवद्गति को पाया जा सकता है, जो भगवच्चरण तक पहुँचा कर सेवा का अधिकार प्रदान करती है।

भगवद्भक्ति आत्मा का वास्तविक स्वरूपनिरूपक धर्म है, जिनके अनुष्ठान में यथासंभव शरीरप्रयुक्त पतिपत्न्यादि के धर्म के साथ समन्वय करके चलना उचित है, मन्दोदरी भी उत्पथगामी पति को प्रभु की शरण में जाने का बारम्बार आग्रह करती थी, विन्ध्यावली ने भी अपने पति दैत्येन्द्र वलि के निग्रह को भगवदनुग्रह मानकर उचित ठहराती हुई उससे भगवच्चरणों में सर्वात्मसमर्पण का आग्रह किया था। शबरीजी को मन्त्रदानपूर्वक आश्रम में स्थान देने पर महात्मा मतंग को तात्कालिक ऋषियों के कोप का भाजन बनना पड़ा था, जिस शबरी जी की भक्ति

निष्ठा के लिये भक्तमाल में लिखा है कि-कैऊ कोटि विप्रताई यापै वारि डारिये।'' जब अत्यन्तविरोध या बलपूर्वक दमन की स्थिति हो तो लोकधर्म की उपेक्षा कर भागवतधर्म के आश्रम को ही शास्त्रों ने उचित माना है-धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान् (भागवतमाहात्म्य ४/८०) के न्याय से सांसारिकसम्बन्धों की अपेक्षा भगवत्सम्बन्ध को महत्व देने योग्य है। आत्मनिष्ठों द्वारा भगवद्भजन में विघ्न करने वाले पापी पति का त्याग देखा जाता है, तभी तो तुलसीदासजी ने 'जाके प्रिय न राम वैदेही' वाले पद में बलि गुरु तज्यो कंत ब्रजवनितन्हि भे मुद मंगलकारी' कह कर उनके परित्याग के औचित्य में यह युक्ति दी है कि जिस अंजन को लगाने से आँख ही फूट जाय, उस अंजन का क्या फायदा?

बाला मैं वैरागन होऊँगी
'जिन वेषाँ मेरा साहेब रीझे सोही धरूँगी'

उनको साधारणस्त्री के समान विधवा होना अभीष्ट नहीं, उन्हें अखण्ड सौभाग्य चाहिये

ऐसे पति को क्या करुँ जो जन्मे अरु मरि जाय
पति वराँ गोविन्द को जासों चूडलो अमर हो जाय।

निश्चय ही मीराजी की यह भक्तिचेतना उन्हें श्रीरामानन्दाचार्य के शिष्य रैदासजी से प्राप्त हुई थी जहाँ श्रीरामकृष्ण की अभेदभाव से उपासना की जाती है। रामानन्दीय रसिकमहात्मा नाभास्वामी ने उनकी भक्ति के उत्कर्ष का इन शब्दों में वर्णन किया-

लोक लाज कुल शृँखला तजि मीरा गिरिधर भजी
सदृश गोपिका प्रेम प्रगट कलिजुगहि दिखायी।।
निरअंकुश अति निडर रसिक जस रसना गायौ।
दुष्टनि दोष विचारि मृत्यु को उद्यम कीयौ।।
वार न बाँकौ भयो गरल अमृत ज्यौं पीयौ।
भक्ति निसान बजाय कै काहू ते नाहिन लजी।।
लोक लाज कुल शृँखला तजि मीरा गिरिधर भजी।

मीराजी की ऐसी उपासना को सुदृढ़ शास्त्रीय आधार तथा अनुमति देते हुए विभीषण को दृष्टान्त बनाकर रामायण के भूषणटीकाकार ने लिखा है-

'रावणस्य निरवधिदोषदूषितत्वात्' गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथं प्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते' इति स्मरणाद्विभीषणेन त्यक्तो रावण इत्याहुः। एवं तत्त्वज्ञानसम्पन्नस्य विशेषसामान्यधर्मप्राबल्यदौर्बल्यविवेकेन सामान्यधर्मपरित्यागो विशेषधर्मपरिग्रहश्चोपपद्यते। ज्येष्ठभ्रानुवर्तनं हि त्रैवर्गिकफलसाधनतया ज्येष्ठानुवर्तनद्वारा परमात्माराधने पर्यवसानस्य वक्तव्यत्वात् मोक्षपर्यवसानेऽपि परमात्मोपासनाङ्गत्वाच्च सामान्यधर्मः। रामानुवर्तनं तु साक्षात्परमात्मसमाराधनत्वात् यज्ञादिधर्मसाध्यत्वेन प्रधानत्वाच्च विशेषधर्मः, उभयोश्चाप्यविरोधे सत्युभयमप्यनुवर्तनीय्। विरोधे तु सामान्यधर्मं परित्यज्य विशेषधर्मोऽनुवर्तनीयः''।

सामान्यविशेषधर्मों का अविरोधेन अनुवर्तन के उदाहरण रामानन्दसम्प्रदाय के पीपाजी एवं सीतासहचरी हैं जो गागरौन के राजा-रानी थे। ये दोनों पति-पत्नी भगवान् रामानन्दस्वामी के शिष्य थे। दोनों को सन्तसेवा का आदेश मिला, द्वारका में जाकर साक्षाद्भगद्दर्शनपूर्वक बहुत काल तक वहाँ रहकर भगवान् के आग्रह पर पुनः यहाँ पधारे, चीधरजी की भक्ता पत्नी चीधरानी को अपने शरीर का वस्त्र बेचकर सन्तसेवा करते देख इनकी सन्तसेवा की भावना प्रबल हुई, लोगों के बीच पीपाजी तबला बजाते और सीतासहचरी नाचती, इसप्रकार धन संगृहीत कर सन्त सेवा करते थे, भक्तमाल के अनुसार सीतासहचरी जी एक बार तो शरीर बेचकर सन्त सेवा करने को उद्यत हुई थी, भक्तमाल के प्रधानटीकाकार प्रियादासजी ने इनके चरित का अत्यन्त प्रभावपूर्ण रीति से गान किया है-

भगवान् श्रीरामानन्दाचार्य के इस उदार प्रयोग से भक्तिपूर्वक अपने जीवन को धन्य करने वाली भक्तनारियों की एक सुदीर्घपरम्परा प्रवृत्त हुई, इस आन्दोलन का समाज में तत्कालीन विविध भक्तिपरम्पराओं पर व्यापक प्रभाव पड़ा। जिसमें करमावाई, करमैती वाई, जनावाई, रत्नावती, लालमती, गोपाली, रन्तीवाई, सक्खूवाई, सिलपल्लेवाई, रामरैनजी धर्मपत्नी, भक्तराज युवतिजन आदि का भक्तिपूर्णचरित नामग्रहणपूर्वक भक्तमाल में उपलब्ध है। यहाँ तक कि एक बारमुखी

की कथा भी है, जिसकी भक्ति पर रीझे मंदिर के ठाकुरजी ने मस्तक झुकाकर उसी के हाथ से मुकुट धारण किया था, वह भी उसकी अपवित्रावस्था में। न जाने कौन से गुण पर दयानिधि रीझ जाते हैं निश्चय ही प्रभु ने उस भक्त वारमुखी का मान बढ़ाकर अपने उस वचन को चरितार्थ किया-

"अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्

साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग् व्यवसितो हि सः।"

आखिर भक्ति का उपक्रम करने वाला भी तो भक्त ही कहलाता है। ध्यातव्य है कि कोई जीव भगवद्विभूति से बहिर्भूत नहीं है, प्रभु अपने शेषभूत जीव को स्वयं स्वीकार करना चाहते हैं, उनके साथ जीवों का सांसिद्धिक सम्बन्ध है, वे महापापियों के प्रति भी शोभनहृदय हैं, उन्होंने अपनी ओर से कभी किसी का परित्याग नहीं किया है। यह तो जीव का ही दुर्भाग्य है कि वह अपने पापों के परिणामतः भगवद्विमुख रहता है, स्वामी तो सदा अजानुबाहु फैलाये नीच से नीचों को भी गले लगाने को तैयार बैठे हैं। जैसे पुत्र माता की गोद में बैठने का सदा ही अधिकारी होता है वैसे जीवों को भी अपने शेषी की उपासना हेतु किसी अवान्तर अधिकार की आवश्यकता नहीं-श्रीरघुनाथजी तो अपने वचन को सार्थक करने हेतु सर्वदा उद्यत रहते हैं-

पुरुष नपुसंक नारि वा जीव चराचर कोय।

सर्वभाव भजि कपट तजि मोहि परमप्रिय सोय।।



लोकोद्धारक स्वामीरामानन्द

-डॉ. बद्रीप्रसाद पांचोली

भारतीय परम्परा में श्रेष्ठ लोगों के निर्माण पर बल दिया गया है क्योंकि श्रेष्ठ लोगों से ही श्रेष्ठ समाज, श्रेष्ठ राष्ट्र और सुन्दर विश्व का निर्माण होता है। वेद में कहा गया है-मनुर्भव जनय दैव्यं जनम् अर्थात् मनु (मनुष्य) बन और अपने भीतर दिव्य जन को पैदा कर। स्वधर्म का पालन, नीति का व्यवहार, अध्यात्मचिन्तन आदि सब साधन श्रेष्ठ व्यक्ति के निर्माण के लिए ही विहित हैं। श्रेष्ठकर्म को शतपथ ब्राह्मण में यज्ञ कहा गया है (यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म)। श्रेष्ठ कर्म करके श्रेष्ठ या आर्य बन जाने का मार्ग सबसे सरल है।

यज्ञ की श्रेष्ठता आत्मदक्षिण हो जाने में निहित है-आत्मा-दक्षिणाध्वै यज्ञः। धर्म की श्रेष्ठता सर्वत्र आत्मदर्शन में निहित है-अयं तु परमों धर्मः यद्योगेन आत्मदर्शनम्। (याज्ञवल्क्य स्मृति) इसी तरह ध्यान की उत्कृष्टता ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय की एकरूपता में निहित है। इसी तरह प्रपत्ति के क्षेत्र में भक्ति का सर्वोत्तम रूप आत्मनिवेदन है। इस परम्परागत विश्वास को अखण्ड रखते हुए स्वामी रामानन्द ने युगधर्म का निर्वाह किया। उनके प्रशिष्य तुलसीदास ने कहा है-

श्रुति सम्मत हरिभक्त पथ, संयुत विरति विवेक।

विरति-विवेक को तिलान्जलि दे दी जाय तो 'स्वातंत्रयम् परमं सुखम्' का विश्वास खण्डित हो जायेगा।

स्वामी रामानन्द के लिए कहा जाता है कि दक्षिण में उपजी भक्ति को वे उत्तर भारत में लाए। उस समय भारतीय समाज संकट में था। शासन अफगानों का था। शासकों की ओर से दबाव था इस्लाम स्वीकार करने के लिए। प्रलोभन भी दिए जा रहे थे। इस्लाम स्वीकार न करने वालों पर जजिया कर लगाया गया था। जीवन-संघर्ष में सफलता प्राप्त करने के लिए केवल परमात्मा का सहारा ही शेष रह गया था।

ऐसे विकट समय में भारतीय समाज को स्वामी रामानन्द का नेतृत्व मिला। वे लोकचेतना को जगाने में सफल हुए। इतना ही नहीं, लोकचेतना को जगाने वाले ५२ शिष्यों का एक दल बनाकर इतना बड़ा काम कर गए जैसा इसके पहले किसी

ने नहीं किया था।

आधुनिक काल में स्वामी दयानन्द ने ईसाइयत की ओर उन्मुख लोगों को वेदज्ञान देकर और शुद्धिकरण का मार्ग अपना कर जैसा अभूतपूर्व कार्य किया था उससे वे लोकोद्धारक कहे गए। आर्य-धर्म आर्यराष्ट्र और आर्यभाषा के सहारे राष्ट्रनिर्माण का मार्ग प्रशस्त करके आजादी की लड़ाई लड़ने वालों के वे प्रेरणास्रोत बन गए। वही काम सात सौ वर्ष पहले स्वामी रामानन्द ने किया था।

महात्मागाँधी ने कहा था कि यदि आजादी और हिन्दी में से मुझे एक को चुनना पड़ा तो मैं हिन्दी को चुनूँगा क्योंकि आजादी हिन्दी से आयेगी। हिन्दी अर्थात् हिन्द की भाषा, हिन्द के समाज की भाषा। आचार्य केशवचन्द्र सेन ने जब स्वामी दयानन्द को बताया कि भारत की भारती हिन्दी है आप इसी में ग्रन्थ रचना करें तब उन्होंने हिन्दी को आर्यभाषा, हिन्दुस्तान को आर्यराष्ट्र और हिन्दुस्तानियों को आर्य कहा। भारतेन्दु की दृष्टि में यह सोच हिन्दी, हिन्दू, हिन्दुस्तान में समाहित हो गई।

ऐसी ही सोच सात सौ वर्ष पहले सन्तशिरोमणि आचार्य रामानन्द ने अपनाई और उस सशक्त भाषा के निर्माण में महत्तम योगदान किया जिसे लोकभाषा कहा जा सकता है। उसका एक रूप अमीर खुसरो ने अपनाया था जिसे खड़ी बोली कहा गया। वस्तुत: लोक को जोड़ने वाली वह षड्भाषा (षट्भाषा) थी जिसमें वैदिक, संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, देशज और विदेशी भाषा के लोक प्रचलित रूपों का प्रयोग किया गया था। महाकवि चन्द बरदाई ने उसे षड्भाषा नाम दिया, पर आधुनिक समीक्षकों ने उसे सधुक्कड़ी (साधुकरी अथवा साधुकृति) कहा है। यह सर्वथा समर्थ भाषा थी लोक हृदय को स्पर्श करने वाली और प्रेम के आधार पर व्यक्ति और व्यक्ति के मन को जोड़ने वाली

कुछ लोगों ने इसे सन्धा भाषा कहा था- सम्यक् रूप से धारण की जाने वाली भाषा, सन्धान की हुई-चुनी हुई भाषा। प्रपत्ति परक दीक्षा का नाम ब्रह्मसन्धि भी है। सन्धा भाषा ब्रह्मसंधि की भाषा भी है। इस भाषा का उपयोग व्यक्ति व्यक्ति के भीतर विद्यमान विकास बीज- ब्रह्म की प्रतीति कराने के लिए किया गया।

राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्त ने आजादी की लड़ाई में उद्बोधित करते हुए कहा था- नर हो, न निराश करो मन को अर्थात् तुम नर (नरम् नेतारम् अथवा रमते अर्थात् सांसारिक प्रपन्चों में न रमें ऐसे) हो इसलिए न स्वयं निराश होओ और न किसी को निराश करो। ऐसा ही जीवनाधार प्रस्तुत करने वाला-आशा भरा

स्वर सन्तशिरोमणि रामानन्दाचार्य और उनके शिष्यों ने प्रस्तुत किया। यह सारे भारत में समाज के सभी तबको द्वारा समझने योग्य राष्ट्रभाषा के निर्माण का कार्य था।

उस समय हताशा और निराशा से ग्रस्त देशवासियों को आशा और विश्वास जगाने वाली शब्दावली में उद्बोधित करने वाले लोकनायकों का निर्माण करने वाले जगद्गुरु रामानन्दाचार्य हुए। जिन्होंने वेदमाता का सन्देश जन-जन को सुनाया- उद्-यानं ते नावयानम् अर्थात् तुझे तो उन्नति के मार्ग पर ही चलना है अवनति के मार्ग पर नहीं।

अस् धातु से शतृ प्रत्यय जुड़कर 'सत्' शब्द बनता है जिसका बहुवचन सन्त होता है जिसका अर्थ है-वर्तमान, विद्यमान। सत्संग का अर्थ होता है-वर्तमान का साथ, वर्तमान क्षण को सार्थक करना। कुछ लोग बहुधा अतीत में खोए रहते हैं और कुछ भविष्य की कल्पनाएँ करते रहते हैं। सन्तों ने प्रेरित किया कि वर्तमान को सार्थक बनाओं। साधना का उद्देश्य ही वर्तमान क्षण को सार्थक करना हो गया।

नाभादास जी ने इस लोकहितकारी प्रयत्न को जगतारणहित निर्मित द्वितीय सेतु कहा है-श्री रामानन्द रघुनाथ दुतिय सेतु जगतरण कियो। प्रथम सेतु श्रीराम ने लंकाविजय के लिए समुद्र पर बनाया था। यह दूसरा सेतु श्री रामानन्दाचार्य ने बनाया लोकोद्धार के लिए।

भारत की सनातन परम्परा इस विश्वास पर टिकी है कि वेद से ही धर्म, दर्शन, नीति और अध्यात्म की सब धाराओं का प्रमाणीकरण होता है-वेदात् सर्व प्रसिद्ध्यति। श्रुतिसम्मत हरिभक्ति पथ पर चलने से जीवन को सार्थक किया जा सकता है- यह व्यक्ति व्यक्ति में विश्वास जगाया सन्तों ने। परम्परा थी- इतिहास और पुराण से वेद का समुपबृंहण किया जाय-

इतिहास पुराणाभ्यां वेदं समुपवृंहयेत्।

सन्तों की वाणी ने भी वेद का समुपबृंहण किया।

समुबृंहण करने का उद्देश्य था मानवता की जय का मार्ग प्रशस्त करना- ततो जयम् उदीरयेत्। सन्तों ने सगुणमार्ग अपनाया हो या निर्गुण उपासना का-उद्देश्य तो एक ही था। समय कैसा ही हो, शासन कितना ही कुचक्री हो, पर मानवता की हार नहीं होने दी जायेगी, मानवता नहीं हारेगी- यह लोगों में विश्वास जगाया और विश्वास जगाने वाली भाषा का निर्माण किया। यह एक व्यक्ति का काम नहीं हो सकता। एक महा-अभियान से संभव हो सकता था- इस बात को समझ कर लोक

नायकों का निर्माण किया।

विश्वास यह था कि जो मनुष्य जहाँ खड़ा है, जिस परिस्थिति में जी रहा है, जिस काम को कर रहा है वहीं पर, उसी परिस्थिति में जीते हुए, वही काम करते हुए प्रपत्तिमार्ग के सहारे वह जीवन के सर्वोच्च ध्येय को प्राप्त कर सकता है। इसमें लिंग, वय,कर्म, भाषा आदि की कोई बाधा नहीं है। भक्ति का मार्ग सबके लिए प्रशस्त है।

गुरु रामानन्दाचार्य का दिशादर्शन पाकर जो समर्पित भाव से जुटे वे भक्त जीवन के सभी क्षेत्रों से थे। वे अपना-अपना काम भी करते थे और उसी काम में भगवद्दर्शन कर लिया करते थे। पंजाब के सन्त बुल्लेशाह खेत में प्याज लगा रहे थे। भक्त लोग आगए। बोले-महाराज! आप तो ईश्वर की भक्ति कीजिए। प्याज तो हम लगा देंगे। उनका उत्तर था-मैं भक्ति ही कर रहा हूँ। भक्ति का अर्थ है-मन को एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगाना। प्याज भी एक स्थान से उखाड़कर दूसरे स्थान पर लगाया जाता है। इस तरह मेरा यह काम भक्ति है।

सन्त रविदास चमड़े का काम करते हुए और सन्त कबीर कपड़ा बुनते हुए अपना अभीष्ट प्राप्त कर लिया करते थे। ये सब इस मार्ग पर चलकर समाज का मार्गदर्शन करते थे। इसलिए लोकनायक थे।

सर जार्ज ग्रियर्सन ने कहा था कि गोस्वामी तुलसीदास भगवान् बुद्ध के बाद ढाई हजार वर्षों में भारत के सबसे बड़े लोकनायक थे। सन्तशिरोमणि रामानन्दाचार्य ने लोकनायकों की परम्परा का प्रारम्भ किया और उनके सभी शिष्य लोकनायक ही हुए। वे अपने अपने समाज का मार्गदर्शन करते हुए लोकनायक बन गए। ग्रियर्सन थोड़े ध्यान से देखते तो तुलसीदास का मूल्यांकन भिन्न प्रकार से होता। सन्त रामानन्दाचार्य का अवदान भी स्पष्ट रूप से सामने आता।

इस प्रकार लोक चेतना के विकास, लोकनायकों के निर्माण, लोकदर्शन के उन्नयन और लोकभाषा को प्रतिष्ठित करने में सन्तशिरोमणि रामानन्दाचार्य के अमूतपूर्व योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। इस जीवट को ही नाभादास जी ने द्वितीय सेतु का निर्माण कहकर अभिनन्दित किया है।

●

युग-युगीन अंधकार को चुनौती की परंपरा और जगद्गुरु रामानंदाचार्य

डॉ० बलदेव वंशी

इस धरती पर अंधकार ही शाश्वत है। प्रकाश नहीं। प्रकाश के आने पर, सूर्य के उदय होने पर अंधकार थोड़ी देर को, दिनभर के लिए दृश्य से हट जाता है। धरती को रात का अंधेरा पुन: ढंक लेता है। किंतु इस अंधकार से हम नहीं लड़ते। इसे बुरा नहीं मानते, सृष्टि के साथ ही उत्पन्न हुआ है। भगवान विष्णु का शरीर कहा जाता है।

एक अन्य प्रकार का अंधेरा है। चेतनाविहीनता का अंधेरा। आत्मविहीनता का अंधकार, जिसे स्वयंभूशिव ने प्रभमत: जल-प्लावित स्थिति में एक कोंपल के रूप में उद्भूत होकर देखा तत्व से उद्भूत अग्नि तत्व के रूप में एक हरि कोंपल ने उस चेतनागत अंधकार को भंग कर चेतना के जन्म की, अस्तित्व की दस्तक दी। वर्ष में एक दिन यहाँ शिवरात्रि का पर्व उसी आदि दिवस का, चेतना के जन्म दिवस का त्योहार है। यों प्रत्येक माह शिवरात्रि दिवस हमें उसी महाशिवरात्रि का स्मरण कराता है। यह भी जान लेना आवश्यक है कि शिव स्वयं जलरूप हैं। शिव के आठ रूपों में-उग्र, रुद्र, ईशान, सर्व, महादेव आदि में एक 'भव' रूप है। धरती पर सारा, दो तिहाई, जल भव कहलाता है। इसी मात्रा में मनुष्य की देह में है। जल तत्व से प्रक्षालन करने पर शिव तथा शिव का पूरा परिवार प्रसन्न होता है। मनुष्य की चिति-चेतना भी शिव चेतना बन कर भौतिक जगत् में चैतन्य की ज्योति प्रज्वलित किये रहती है और मानवकृत अंधकार से संघर्ष करती है। संत अध्यात्म चेतना, शिव चेतना आदि अनादिकालीन चैतन्य सत्ता के चलते-फिरते दूत होते हैं। अत: मानवकृत भौतिक अंधकार, झूठ, पाप, हिंसा, हत्या, क्रूरता

अमानवीयता, छल, छद्म, कार्य, क्रोध आदि को मिटाने के लिए समाज में विचरण करके, उसे मनुष्य के मन से तथा जीवन से निरस्त करने में अपना सर्वस्व लगा देते हैं। उनक़ा पूरा जीवन परहित में लगा होता है। स्वामी रामानन्द भी सांसारिक, भौतिक, मानवकृत युगीन अंधकार से रू-ब-रू होते हैं। सूर्यवंशी राम 'भाव' तत्त्व के प्रतीक हैं। उन तक आता हुआ भाव तत्त्व, जिसे उन्होंने ऐसी पराकाष्ठा तक, व्यापकता दी, विराट बनाया कि उसमें कई-कई ब्रह्माण्ड समाहित हो गए, कई-कई सूर्य समा गए हैं। अत: राम इस सम्पूर्ण सृष्टि के महानतम भाव सूर्य हैं। बारह आदित्य-सूर्य सूर्यवंशी की परम्परा के अवधारक! सीता धरती की पुत्री हैं। कठोर यथार्थ से जुड़ी, विचार की प्रतीक हैं, जो अन्ततः धरती में ही समा जाती हैं और राम भव-भव-भावना से उद्भूत (जलीय रूप भावोत्पन्न) अंतत: जल में- सरयू नदी में समाधि प्राप्त करते हैं। अत: सृष्टि, सृजन, अध्यात्म के श्रेष्ठतम, विराट, उच्चतम आदर्शों को स्थापित करने वाले तत्त्वरूप राम इस धरती पर जीवन के ही परम-आत्मिक स्वरूप हैं तथा सीता जी धरती, कृषि, संघर्ष, यथार्थ, जीवन से जुड़े विचार तत्त्व को रूपायित करती हुई पुनः विचार (दर्शन) में ही विलीन हो जाती हैं तथा विचार की सतत संघर्ष-दर्शन की परम्परा को-विद्-वेद-वेदना-संवेदना-संवेदनशीलता को आगे बढ़ा देती हैं। अत: भाव (राम) और विचार संवेदन (सीता) के युक्त-संयुक्त दर्शन का पारम्परिक, वैदिक संघर्ष-अपने युग के अंधकार और अन्याय से संघर्ष का पारम्परिक युद्ध साकार हो आता है। जगद्गुरु रामानंदाचार्य इसी ब्रह्माण्डीय पारम्परिक संघर्ष को दृष्टिपथ में ले कर तद्युगीन अंधकार से मुक्ति के उपाय-स्वरूप संतों की सेना गठित करते हैं। इस में प्रथमत: बारह-शिष्य (द्वादश आदित्य-सूर्य!) अपने-अपने ओज को लेकर सन्नद्ध होते हैं। पश्चात् शेष प्रशिष्यों की ऊर्जा भी सोयी मानव जाति को आत्म-जागृति का संदेश देकर दिशा-निर्देश देती है। इन सब संतों की समेकित ऊर्जस्वित वाणी भारतीय मानव को उदबुद्ध कर संघर्ष के पथ पर अग्रसर करती है, क्योंकि:-

कलि शयनो भवति संजिहानस्तु द्वापर:।
उतिष्ठंस्त्रेता भवति कृतं संपद्यते चरन।।
चरैवेति। चरैवेति।। -(ऐतरेय ब्राह्मण)

अर्थात कलियुग का अर्थ है सोये होना (जग जाना द्वापर है। उठ कर खड़े हो जाना त्रेता है। और चल देना कृतयुग)। अत: सदैव चलते रहना चाहिए। सृष्टि के साथ मनुष्य जीवन का सम्बंध एवं बोध-सरोकार इससे अधिक सटीक अर्थों में नहीं समझाया जा सकता। भारतीय जीवन-दर्शन में चार युगों की अवधारणा को कालान्तराल में, कालक्रम के चरणों में नहीं, बोध और जीवन-स्तरों पर समझकर ही मनुष्य-ज़ाति अपना और अपने परिवेश का उद्धार कर सकती है। एतैव संत प्रवर जगद्गुरु रामानंदाचार्य ने भारतीय जाति ही नहीं समूची मानव जाति को सत्युगीन जागृति में अत्यन्त संवेदनीय स्पंदनयुक्त आत्मदशा में लाने का भगीरथ उपक्रम किया।

रामानंद जी के एक प्रमुख प्रशिष्य संत-तुलसीदास यदि सगुण हैं, तो दूसरे प्रमुख संत कबीर निर्गुण हैं। यह भी युग-भेद से अनिवार्यत: बंटी हुई भूमिकाओं और प्रश्रेय के कारण ही मानें। अन्यथा दोनों ही रामानंद के दो चक्षुओं-सदृश्य हैं। दोनों चक्षुओं से देखने पर ही बाह्य दृश्य पूर्णता में साक्षात्कृत होता है। फिर दोनों चक्षुओं को मीलित करके भीतर की योग-मुद्रा की स्थिति में पुन: एक-एकांत बिंदु ही शेष रह जाता है, जो भीतर-बाहर के पूर्ण को एकसाथ लक्ष्य कर सकता है और 'उस' रचयिता-स्रष्टा एक-ओंकार' की दिशा में अग्रसर होता है। कहना होगा कि सगुण-निर्गुण में अध्यात्म सृष्टि से कोई भेद नहीं है। सगुणोपासक यदि सगुण से आरंभ करता है साधना तो निर्गुण तक उसे अवश्य जाना होता है, साधना-सपन्नता में। इसी भांति निर्गुणोपासक निर्गुण ब्रह्म से साधना आरंभ करता है तो उसे ब्रह्म के सगुण जगतरूप तक अनिवार्यत: आना ही पड़ता है। यह एक चक्राकार स्थिति है। नर-नारायन की संयुक्त चक्राकार स्थिति है। नर और नारायन दोनों जुड़वाँ भाई हैं। जो माता श्रद्धा और पिता विश्वास की संतानें हैं। नर तीन गुणों-सत्व, रज, तम में बंधा दस इंद्रिय जीव है। सृष्टि के सभी पदार्थों का भोग-उपभोग करता हुआ। नारायण निराकार हैं :-

जिसके मुँह माथा नहीं, ना ही रूप अरूप।

पुहुप बास ते पातरा, ताथे तत्व अनूप ।।कबीर।।

अत: नारायण समूचे ब्रह्माण्ड में व्याप्त होता हुआ भी सृष्टि की संपदाओं

के भोगोपभोग, रसास्वादन से पूर्णतः वंचित है। अब नर मुक्त होना-नारायण होना चाहता है और नारायण दसेंद्रिय देह में बंधना चाहता है, ताकि वह भी सृष्टि का सुख-भोग कर सके। कहना होगा कि सगुण-निर्गुण दो चरम स्थितियाँ हैं मन की। दोनों मनुष्य की सीमा में हैं। उसकी क्षमताओं पर ही निर्भर हैं। उस की स्थूल-सूक्ष्म दृष्टि पर ही आधारित है। जिनके अंतः चक्षु आरंभ में उन्मीलित नहीं होते, वे स्थूल से, सगुण-ब्रह्म से-दशरथ के पुत्र राम से आरंभ करके, अंतः चक्षुओं के उन्मीलित हो जाने-खुल जाने पर निर्गुण-कण-कण में व्याप्त राम को-सार्वभौम स्वरूप को देख लेता है। जगद्गुरु रामानंद ने इन दोनों रूपों में अंतर नहीं किया। यह अलग चर्चा का विषय है कि तुलसी के राम-'सगुण ब्रह्म' अपने युगीन आग्रहों के कारण अधिक लोकप्रियता, लोकानुमोदन प्राप्त कर गये और कबीर के 'निर्गुण राम' वर्तमान युग में लोकतंत्रिय समाज-व्यवस्था में अधिक अनुकूलता पा रहे हैं।

पुनः, युगीन अंधकार और उस से संघर्ष के बिंदु पर आयें। रामानंदजी के शिष्य संत तुलसीदास अपने युग की विभिन्न व्याधियों, अंधकार रूपों, मानवता के सम्मुख विभिन्न चुनौतियों को 'कलिकलुष' कह कर रेखांकित करते हैं। रामचरितमानस के आरंभ में और अंत में एवं कवितावली' में भी इस कलिकलुष के अंधकार को विविध संदर्भों में समेटते हैं तथा उपचार के रूप में, रामकथा को-रामकथा के महात्म्य को प्रस्तुत करतें हैं। मात्र इतना ही नहीं वह अनेक बार 'विवेक' का उल्लेख भी करते हैं कि रामकथा कलियुग रूपी साँप के लिए मोर (पक्षी) की भाँति है साथ ही विवेक की अग्नि को जगाने वाली लकड़ी के समान है-

रामकथा कलिकलुष बिभंजनि।।

रामकथा कलिपन्नगभरनी। पुनि बिबेक पावक कहुं अरनी।।

तुलसी युगीन अंधकार को 'कलिमल', 'कलिकलुष' कह कर जिस प्रत्यय को उभारते हैं। 'उसके उपचार का भी उसी स्थान पर, उसी समय उल्लेख करते हैं। 'कलिकलुष' की कालिमा-अंधकार कोई छोटा या तुच्छ ऐसा प्रत्यय नहीं कि जिसे आसानी से काटा जा सके। उन्होंने 'रघुनाथ गाथा' को जैसे उपचार हेतु परम्परा से ग्रहण किया है, उसी परम्परा में तथा उसका मूर्त रूप 'रावण' भी विद्यमान है। यह महज संयोग नहीं कि तुलसी ने "नानापुराण

निगमागमसम्मतनंयद्रामयणे" का संदर्भ देकर मानस की समूची आधारभूमि को प्रस्तावित किया है, तो "वाणी विनायकौ" की वंदना और सरस्वती की वंदना की है। तथा दूसरे पद में-"भवानीशंकरौ वंदे श्रद्धात्विश्वासरूपिणौ" कह कर शिव और पार्वती की वंदना एवं स्तुति की है। पार्वती को श्रद्धा और शिव को विश्वास का रूप कहा है। संसार के बहुविध कलुषित परिवेश में पड़े हुए जीवों का उद्धार करने में ईश्वर में उनकी श्रद्धा दृढ़ करने का प्रश्न करके पार्वती ने जो संदर्भ उठाया, शिव ने उसी के उत्तर के रूप में ईश्वर में जीवों का दृढ़विश्वास होने का उल्लेख किया। उपाय सुझाया। आशय यह कि जो भी शिव-पार्वती के इस संवादरूप कथानक को सुनेगा, उसे श्रद्धा और विश्वास दोनों प्राप्त होंगे; जिससे कलिकाल के कल्मश दूर होंगे।

यहीं पर यह उल्लेख करना संदर्भांतर न होगा कि हिंदी के, आधुनिक भारत के महाकवि सूर्यकांत त्रिपाठी निराला रचित 'राम की शक्तिपूजा' भी अंधकार से संघर्ष की उक्त परम्परा का ही विकास है और आपातकाल में लिखी भवानी प्रसाद मिश्र की त्रिकाल संध्या' तथा शमशेर बहादुर सिंह की काल तुझ से होड़ है मेरी' आदि कविताएँ एवं अंधायुग' (धर्मवीर भारती), मैं काल के हूँ सामने- (गिरिजा कुमार माथुर) उसी युगीन संघर्षों की परंपरा का अद्यतन विकास है। (विस्तार-व्यापक संदर्भों के लिए देखें- 'सृजन सेतु है'- (ले० बलदेववंशी प्रकाशक: साहित्य भारती दिल्ली-११००९१)

भाव हा मनुष्यता का श्रेष्ठ लक्षण है। भाव ही मनुष्यता की कसौटी है।भाव भावना तथा भावपूर्ण व्यवहार से मनुष्य और मनुष्यता पहचानी जा सकती है। मानव सभ्यता का पूरा भवन ही भाव की नींव पर खड़ा है। इस भाव की उज्ज्वलता, स्नेहिलता, त्याग एवं बलिदान की परहित प्रेरणा मनुष्य को अन्य प्राणियों से बड़ा बनाती है। भावप्रवण प्राणियों-मनुष्यों में भी बड़ा, ऊँचा त्यागमय भाव मनुष्य को बड़ा, पूज्य, श्रद्धाभाव इन सब में भाव और भावना की सर्वकल्याणी सर्वहितकारिणी भावमयता ही झिलमिलाती मिलती है। मानव सभ्यता के भव्य भवन का शिखर बिना भावकलश के सुशोभित नहीं होता तो सबसे मूल्यवान धरोहर, धन और धन्यता भी इसी से रस-आर्द होकर रास के तल को

छूती हैं। इसी के मूल धातुरूप भव से भाव, भावना, भवदीय संभावना, भवसागर तो विकसित हुए ही हैं। भव से विभव और विभाव से वैभव की अभिवृद्धि भी सच्ची वास्तविक वैभवशाली (धन-धान्यपूर्ण) बनाती है। अर्थात् इस मानवीय विश्व में, संसार में यथार्थ में वही सब से बड़ा अमीर और धनवान है, जिसके पास भाव की संपदा है। सब से बड़ा, भावपूर्ण व्यक्ति, दुनिया का सब से बड़ा अमीर है। सारी धरती भी उसकी, सारा आकाश उसका। सारा जीव-जगत उसका। जब विश्व की सारी निर्मिति उस भावना में समा जाती है, तब निर्माता, परम-आत्मा-आत्माओं का आत्मा कहाँ बाहर रह सकता है। भारत की मूल पहचान भी यदि एक शब्द में करनी हो, तो वह 'भाव' ही हो सकता है। इसी भाव, भावना का प्रसाद भक्ति के साथ संयुक्त करके भक्तिभाव के, महाभाव के रूप में भारतीय ऋषियों ने, साधुओं, संतों ने विश्वभर में किया, जिस से भारत आज भी विश्व-मानव को संभावनापूर्ण प्रतीत होता है।

संत रामानंद वस्तुतः अपने युग और भारतीय समाज की व्याधियों को, इनकी समग्रता तथा गहनता को बाखूबी पहचान गए थे और इनके सटीक उपचार में जो औषधियाँ सुझाईं वे अपूर्व एवं अचूक सिद्ध हुईं। इनकी दृष्टि में पूरा भारतीय समाज ही नहीं, समूचा जीव-जगत वैदिक-परम्परा का नित नूतन प्रवाह था। पूरे देश में तीर्थाटन या भक्ति प्रसार हेतु की गई यात्राओं के माध्यम से भारतीय ग्राम लोक की बेहाली-खुशहाली की प्रथमतः प्राप्त सच्ची अनुभूत संपदा थी। लोक-समाज की इस अनुभवशीलता से जो अनुभूति जगी, उसने रामानंद के व्यक्तिव को युग-युग स्मरणीय, बंदनीय बना दिया। वे विराट भारतीय मानस के अद्वितीय पारखी तो बने ही, उसे संवारने, बनाने तथा आगे की सदियों तक, जीवंत बने रहने की अक्षय योग्यता से प्रसारित कर गये। उन की साधना, दृष्टि एवं सिद्धियों का ही यह सुफल है कि एक से एक चोटी के संतों की सुदीर्घ पाँत खड़ी की, जिन्होंने विश्व-स्तर पर भारतीय अध्यात्म-अमृत से मानवता को अमरता का संदेश देकर अपने देश का तथा अपनी गुरु-परंपरा, वैदिक दिव्यता की प्रस्थापना की। समूचे विश्व में संभवतः यह अपने प्रकार की आध्यात्मिक संत परम्परा है, जिसकी कहीं तुलना नहीं की जा सकती। निर्गुण-सगुण, निर्धन-धनी, नीच-ऊँच, उत्तर-दक्षिण, साकार-निराकार सबको अपनी बाहों में ऐसे समेट लिया जैसे धरमी माँ

अपनी दीन-दुखी, कुचली-पिसी यातनाग्रस्त आन्तर्नाद करती संतानों को वक्ष में समेट लेती है।

महान कर्मयोगी भगवान् श्रीकृष्ण ने गीता में कहा है कि समूचा विश्व-प्रसार मेरा ही शरीर है। मेरा भक्त अपने सारे कर्मों को मुझे अर्पित करके साधनारत रहता है, तब उसे जो सिद्धि प्राप्त होती है उसे प्राप्त करके वह निश्चेष्ट हो विश्राम नहीं करता, अपितु उस सिद्धि के फल को सब में बाँटने को निकल पड़ता है। जब वह प्राप्त सिद्धि को लोक में, विश्व में बाँटता है, तब प्रसिद्ध होता है। हम देखते हैं रामानंद भी शब्दशः इसी जीवन-पद्धति को उपलब्ध करके सिद्ध भी हुए और प्रसिद्ध भी हुए। इनकी यशःकाया युगों पार आज तक उत्तरोत्तर विकसित होती हुई मानवता का पथ प्रशस्त कर रही है तथा कीर्ति-सुगंध आकाश पटल को आवृत्त किये हुए है। लोक प्रसिद्ध उक्ति है- 'भक्ति द्राविड़ ऊपजी, लाए रामानंद'। क्या यह भगीरथ के गंगा को धरातल पर लाने जैसा महान कार्य नहीं है? विष्णुपदी गंगा (वाक् का समूचा पौराणिक आख्यान) को हिमाच्छादित शिखरों-रूपी शिव की जटाओं के घुम्मनघेर से प्रशस्त कर धरती पर लाने (युगों के उलझे काल-क्रमों से वाक् को-वाणी को लोक में अवतरित करना) जैसा दुष्कर कार्य, जैसे भगीरथ ने किया उसके समांतर मुगलकाल की मरीचिकाओं में भारतीय मानस को भक्ति-अमृत सुलभ कराने का कार्य कितना, कहाँ सुखकर हो सकता है? भागीरथी-प्रवाह के तुल्य भक्तिप्रवाह को समूचे समाज को उपलब्ध कराया है। रामानंद ने भव-भावना का जो भव्य भवन खड़ा किया है। उसकी एक-एक-एक ईंट में उनके श्वास-प्रश्वास की ऊर्जा के ताप को अनुभव किया जा सकता है।

मूल नाम रामदत्त को धारण किये यह बालक प्रयाग (इलाहाबाद) के निकट मालकोट नामक स्थान पर ब्राह्मण परिवार में जन्म लेकर शिक्षा गुरु की सेवा हेतु पंच गंगाघाट पर स्थित एक उपवन की चारदीवारी फाँद कर प्रातःकाल में फूलचुन कर लाता था। एक दिन इस बालक को अग्रणी आचार्य राघवानंद जी ने टोका। बालक उन्हें पहचानता था। टोकने पर लज्जित हुआ, किंतु बोला मैं पुष्प किसी लोभवश नहीं अपने शिक्षागुरु के लिए पूजा हेतु बीनता हूँ। साथ ही वह राघवानंद जी के चरणों में माथा टेक कर एक प्रकार से अपनी भूल स्वीकार कर क्षमायाचना करने लगा। राघवानंद जी ने प्रसन्न होकर उसे अपनी शरण में लेने का विचार

बनाया साथ ही उसका ध्येय टटोला नो रामदत्त बोला, "हमारे आचार्य शास्त्र ज्ञान के पश्चात् संभवत: जप और साधना का मंत्र देवें।" राघवानंद जी, इस पर उसका भविष्य जानकर बोले, "अरे भोले, प्रदीप के जलने की सीमा तो तेल की मात्रा पर निर्भर करती है। तेल कब चुक जाय, इस का पता भी तो रहना चाहिए।" उनके कथन का आशय था कि तुम जप और साधना की बात सोच रहे हो, किन्तु तुम्हारी आयु की अल्प अवधि के बारे में तुम्हें पता नहीं। कहते हैं कि यह सारी बात जानकर शिक्षा गुरु स्वयं राघवानंद जी के पास आये और रामदत्त को आचार्य राघवानंद के शरण में दे दिया। राघवानंद जी ने देश-धर्म-जाति के बड़े उद्देश्य में लगाने, उसकी आयु को-निर्धारित मृत्यु-लग्न को अपनी योगशक्ति से निरस्त करने का विचार कर रामदत्त को संन्यास की दीक्षा दी तथा नया नाम-रामानंद दिया। रामानंद ने एक सौ ग्यारह वर्ष की सुदीर्घ आयु, विपुल कर्मशक्ति प्राप्त कर अपने दीक्षा गुरु की आकांक्षा पूरी की। जन-कल्याण हेतु दी गयी सुदीर्घ आयु को जन-कल्याण में ही अर्पित कर दिया और एक अपूर्व अध्यात्म-आंदोलन खड़ा कर मानवता को धन्य किया।

भक्तमाल के आधार पर स्वामीरामानंद की जन्मतिथि अधिकतर विद्वानों द्वारा संवत् १३५६ (सन् १२९९ ई०) तथा देहावसान संवत् १४६७ (सन् १४१०) स्वीकार की जाती है। कुछ भिन्न मत एवं विवाद तो हैं ही उनके अनुसार जन्म संवत् १३६६ है। खैर। इनके पिता का नाम पुण्य सदन शर्मा और माता का नाम सुशीला या मुखी माना जाता है। जन्म स्थान प्रयाग (इलाहाबाद) में विवाद नहीं है। जनश्रुतियों के अनुसार रामानंद ने बारह वर्ष तक योग साधना की तथा स्वात्मअनुभव प्राप्त कर भक्ति की सहज धारा का प्रचार-प्रसार करने के निमित्त नये धर्म-सम्प्रदाय रामावत अथवा 'रामानंदी' की स्थापना की। अनेक वर्षों तक गहन परिव्रजन के उपरांत उपलब्ध अनुभवों के बल पर इन्हें इतना व्यापक दृष्टिकोण प्राप्त हुआ जिस में पूरा जगत् समा गया। जगत में स्थित सब के दुःख दर्द एवं पीड़ाओं के शमन के महत् उद्देश्य एवं प्रयत्नों के कारण जगत् गुरु कहलाए, तो आत्म-परमात्मा आयाम व्याप्ति के कारण 'सच्चा स्वामी' पुकारे गये। अपने युग की व्याधियों का निदान करने से इन्हें 'युग-पुरुष' कहा गया रहनी-गहनी' कथनी-करनी' की एकता के कारण महान संत 'सद्गुरु' तथा सामाजिक-

आध्यात्मिक चेतना के शिखर-पुरुष स्वीकार किया। उन्होंने दलित वर्ग को विशेष रूप से समान अधिकारी स्वीकार कर भागीदार बनाया। नारी को भी भक्ति में बराबर का अधिकारिणी मनवाया। इस कारण उनकी देन अद्वितीय एवं विलक्षण मानी जाती है। स्वामीरामानंद के प्रमुख बारह श्रद्धालु शिष्यों की देन भी इनके काम को युग-युगों तक अविस्मरणीय बना रही है। इन शिष्यों में अनंतानंद, सुरसुरानंद, सुखानंद, नरहर्यानंद, भवानंद, योगानंद के साथ ही अतिविख्यात संत कबीर, रविदास, पीपा, धन्ना और सेन लोक को सर्वाधिक प्रभावित-विमोहित करने में सफल रहे हैं। पुरुष संतों के साथ दो स्त्री शिष्याएँ भी थीं पद्मावती और सुरेश्वरी।

स्वामी रामानंद ने वैष्णव आचार्य के अधिकार से यह घोषित किया कि जो संत-भक्त अपना सर्वस्व त्याग कर प्रभु की शरण में आ जाता है, अपने को प्रभु-प्रेम की अखंड भक्ति एवं सेवा में लगा देता है ऐसे साधु संतों को जाति, वर्ण की दृष्टि से नहीं देखा जाना चाहिए क्योंकि सभी वर्गों-वर्णों के साधु एक साथ साधना-आराधना में तथा रहन-सहन, भोजन-पान आदि में समान होते हैं। इस प्रकार स्वामी रामानंद ने एक क्रांतिकारी परिवर्तन की नींव रख दी। मध्य युग के जड़-रूढ़-बंद समाज को चेतना-जीवंत सा एवं खुला-उदार बनाने का यह महान प्रयत्न था। इतना ही नहीं रामानंदी सम्प्रदाय की एक शाखा को नागा-पंथ के साधुओं को अवधूत माना जाता है। ये अवधूत छोटे-छोटे दलों में देशभर में परिव्रज्यारत रहते तथा समाज देश,धर्म की खातिर अपना जीवन तक दाँव पर लगा देते। शस्त्र भी सँभालते तथा बड़े साहसी और वीरतापूर्ण कार्यों को सम्पन्न करते। यही कारण रहा कि संत दादू जैसे शांतचित्त अध्यात्म पुरुष के चार प्रकार के साधुओं में एक अंग सैनिक योद्धाओं का भी था, जो बड़े-बड़े युद्धों में राजपूत राजाओं की सेना के साथ मिलकर लड़ता था। इस अंग के मुखिया दादू जी के प्रमुख शिष्यों में एक बड़े सुंदरदास थे। उन्होंने ही इस अंग की स्थापना की थी। उधर महाराष्ट्र में भी समर्थ स्वामी रामदास ने भी इसी पद्धति पर योद्धा साधुओं की जमात का गठन किया था। जो देश, धर्म, समाज की रक्षा करने को कृतसंकल्प थी। बाद में पंजाब में भी गुरु नानकदेव की परम्परा में सिक्खों (शिष्यों) ने अस्तित्व रक्षा, जाति-धर्म रक्षा के लिए बाध्य हो कर शस्त्र उठाए। यह भारतीय शास्त्र और शस्त्र की पुरातन परम्परा को युगानुरूप पुनरुज्जीवित करने का दूरदर्शी कार्य था।

यहाँ यह उल्लेख कर देना भी समीचीन होगा कि इन सिद्ध संतों ने जातीय जकड़बंदी को रामानंद के आशीर्वाद से ही ध्वस्त-निरस्त किया, जो स्वयं निम्न जातियों से आये थे। यथासंत कबीर जुलाहा, धनानंद जाट, सेनानन्द नाई तथा रैदास चमार जाति से थे। यह श्रेय भी स्वामी रामानंद को ही जाता है जो काशी पहले वेदान्त तथा शैव धर्म सम्प्रदायों का केन्द्र मानी जाती थी, उसे वैष्णव धर्म-सम्प्रदाय के विख्यात केंद्र के रूप में भी चर्चित प्रसिद्ध कर दिया।

स्वामी रामानंद के दार्शनिक स्थापना के आधार रूप में भगवत्प्रेय के साथ स्त्री-पुरुष, चांडाल-ब्राह्मण आदि किसी भी रूप में रामावत संप्रदाय में ईश्वर उपासना में समान है तथा आदर-सत्कार योग्य है। श्री विष्णु के अवतार श्रीरामचंद्र ही 'रामावत' सम्प्रदाय के आराध्य देव हैं। ज.गु. रामानंद ने राम-मंत्र एवं राम भजन-उपासना के सहारे मानव-कल्याण का मार्ग सबके लिए समान-रूप से खोल दिया।

रामानंद ने आरंभ में संस्कृत में पद-रचना की, किंतु बाद में जन-भाषा हिन्दी में पद रचना की। हिन्दी के साथ हिन्दी से प्रभावित उपभाषाओं, बोलियों में भी आंचलिकता की अपूर्ण मिठास लिए पद-रचना को इन्होंने प्रोत्साहित किया। स्वयं लोकभाषा को अपना कर अपने उपदेशों को जन-जन तक पहुँचाया। पूर्ववर्ती आचार्यों द्वारा संस्कृत में प्रवचन-उपदेश देने की परिपाटी छोड़ कर तथा राधा-कृष्णोन्मुखी रागानुगा भक्ति में पगे भजनों-गीतों के स्थान पर सीता-राम की मर्यादावादी भजन-कीर्तन पद्धति को प्रश्रय दिया, जिसे उस समय की जन-भावना ने सराहा तथा स्वीकार किया। इस से भी रामानंदी सम्प्रदाय को विशेष बढ़त मिली।

जह जाईऔ तह जल पखान। तू पूरि रहिओ है सभ समान।।

सतिगुर मैं बलिहारी तोर। जिनि सकल बिकल भ्रम काटे मोर।।

रामानंद सुआमी रमत ब्रह्म। गुर का सबद काटै कोटि करम।।

(पृ० ११९५)

उक्त पद में रामानंद जी ने परम ब्रह्म को संपूर्ण सृष्टि में व्याप्त बताया है तथा इस ब्रह्म का परिचय केवल गुरु ही दे सकता है। अत: गुरु का महत्व भी सब से ऊँचा है। बाह्य पूजा-विधान आदि सब व्यर्थ हैं। आंतरिक अनुभूति ही मूल

है। इसे उपलब्ध करना चाहिए। चित्त स्थिर होगा, तब यह अनुभूति जगती है। मन अस्थिर रहता है तब गुरु ही, उसकी कृपा ही चित्त की, मन की चंचलता का शमन कर के सही मार्ग बताता है। बाह्य पूजा विधान चंदन घिसने से ब्रह्म की प्राप्ति नहीं होती, वह तो गुरु में ही समाहित है। बाहर तो पंच तत्व जल, पाषाण आदि हैं, ब्राह्मण तो आत्म रूप तुम्हारे भीतर विद्यमान है। अत: उस गुरु की बलिहारी है, जो सब प्रकार के भ्रमों को मिटा देता है। गुरु का शब्द ही करोड़ों कर्म-बंधनों को भी काट देता है। भक्ति का यह सरस, सरल मार्ग निश्चयत: निर्गुण भक्तिधारा की पुष्टि करता है। सरल ब्रजभाषा में जन का मार्ग दर्शन करने वाला यह पद ब्रह्म-आलोक की प्राप्ति का मार्ग प्रशस्त करने वाला है।

जीवन के अंतकाल में रामानंद का समूचा अस्तित्व पूर्णत: इष्ट के रंग में रंग गया था और अतीव शांति का अनुभव करते हुए वह एकांतवास में चले गए थे। तदनंतर एक दिन १४१० ई० को वह साकेतधाम चले गये।



स्वामीरामानंद की साधनात्मक एवं व्यावहारिक जीवनदृष्टि

डॉ० सुरेन्द्र तिवारी

मध्यकालीन हिन्दू समाज में भक्ति के प्रचार-प्रसार में स्वामी रामानंदाचार्य का विशेष योगदान है। रामानंद सम्प्रदाय की स्थापना करते हुए भी वे केवल एक संप्रदाय में सीमित रहने वाले संत नहीं थे। वह अपने युग के सबसे अधिक प्रगतिशील एवं सर्वग्राही संत थे। अपने गुरु राघवानंद से प्राप्त भक्ति और ज्ञान के समन्वय से उन्होंने जिस सम्प्रदाय की स्थापना की उसमें साधना के व्यावहारिक रूप का अद्‌भुत समन्वय था।

जब रामानुजाचार्य का सिद्धांत उत्तर भारत में आया उस समय यहाँ की जनता भक्ति के क्षेत्र में सिद्धों और योगियों से काफी प्रभावित थी। अशिक्षित जनता उनको सम्मान अर्पित करने में लगी हुई थी। कम पढ़ी-लिखी जनता में उनके पंचमकार आदि के सेवन का विशेष प्रचलन था। स्वामी रामानंद के समय भी अधिसंख्य हिन्दू जनता पर सिद्धों और योगियों (नाथों) के उपदेशों का व्यापक प्रभाव था। सिद्धों और योगियों की विचार पद्धति अद्वैतवाद के सर्वथा अनुकूल हो गई थी। स्वामीरामानंद ने अपनी पहली शिक्षा काशी में अद्वैतवादी आचार्य से प्राप्त की तत्पश्चात् उन्होंने राघवानंद को अपना गुरु स्वीकार किया। इस प्रकार रामानंद को यहाँ की जनता में, उनकी प्रवृत्ति के अनुरूप ही भक्ति का मार्ग प्रशस्त करने का अवसर प्राप्त हुआ फलस्वरूप सिद्धों और योगियों का प्रभाव धीरे-धीरे कम होता गया। स्वामीरामानंद ने भक्ति की ऐसी स्रोतस्विनी प्रवाहित की जिसमें संपूर्ण भारतीय समाज निमग्न हो गया। रामानन्द ने सिद्धों और योगियों की हठयोग साधना के सम्मिश्रण से सहज भक्ति का उदार मार्ग प्रशस्त किया।

आध्यात्मिक साधना को भी स्वामीरामानंद ने सहज ढ़ंग से प्रस्तुत किया है। आध्यात्मिक साधना के पथ को उन्होंने 'अगम पंथ' कहा है। साधना दो तरह से की जाती है, एक तन से और दूसरी मन से। इसलिए वे इसे 'तन का' और मन का' मार्ग कहते हैं जिस पर चलकर साधक परम पद को प्राप्त करता है। तन अर्थात् शरीर से जो साधना की जाती है उसे हठयोग कहते हैं। यह योग धरती और

आकाश के बीच का अर्थात् मूलाधार से ब्रह्मरंध्र तक पहुँचाने वाला मार्ग है। संयम इसकी प्राथमिक आवश्यकता है। काम भावना ही मन को सबसे अधिक चंचल बनाती है। अत: काम को वश में करना सबसे बड़ी जरूरत है। तन जल (वीर्य) से बना है और जल पवन के वश में है, मन शुक्र के वश में है। इसलिए कुंडलनी को जागृत कर पवन को मूलाधार से ब्रह्मरंध्र (सहस्रार) तक पहुँचाने की क्रिया हठयोग है। इसके द्वारा तन वश में हों जाता है। योग से चित्त निर्मल हो जाने पर अपने भीतर ही आत्मा का दर्शन होने लगता है। 'रामरक्षा' में उन्होंने चाचरी, भूचरी, खेचरी, अगोचरी और उन्मुनी इन पाँच मुद्राओं का भी उल्लेख किया है जिससे तन को वश में करके इंद्रियों को शांत किया जा सके।

मन के सहयोग के बिना तन के कर्म निष्फल होते हैं, इसीलिए ज०गु०रामानंद ने बताया है कि प्रयत्न बाहर और भीतर अर्थात् तन और मन दोंनों से होना चाहिए। मन पर नियंत्रण पाने के लिए साधक का हृदय शुद्ध होना चाहिए। 'ज्ञान लीला' में रामानंदाचार्य ने सुमिरन का महत्व प्रतिपादित किया है। यह भीतर का, मन का योग है। लगातार भगवान् का चिंतन, मनन करना चाहिए, सुरति उसी में लगी रहनी चाहिए। यह मन का योग है। शरीर में सुरति है, सुरति में आत्मा और आत्मा में परमात्मा का दर्शन होता है। इसी तन और मन के संयुक्त योग से साधक को अखण्डानंद का अनुभव होता है।

रामानंदाचार्य ने साधक की 'रहनी' पर भी विचार किया है। उन्होंने साधना में दया को बहुत महत्व दिया है। उन्होंनें 'ज्ञान तिलक' में कहा है कि जिस हृदय में दया नहीं वह उजाड़ है। दया ही हृदय को बसाती है। जिस तरह ज्ञानी के लिए शीलवान होना आवश्यक है उसी प्रकार साधक के लिए दयावान होना आवश्यक है। जिस प्रकार शील ज्ञान की चमक को बनाए रखता है उसी प्रकार दया साधक को। इससे ममता, अहंकार उत्पन्न नहीं होता। यही "ाधक की 'रहनी' है।

स्वामीरामानंद ने अपने अध्यात्म मार्ग में गुरु को अत्यधिक महत्व दिया है क्योंकि वह पथ-प्रदर्शक होता है। पहले खोज गुरु की करनी चाहिए क्योंकि गुरु मिल जाने पर उसके द्वारा बताए हुए मार्ग पर चलने से ही सद्गुरु मिलता है अर्थात् परमात्मा की प्राप्ति होती है। उनकी दृष्टि में गुरु ज्ञान देने वाला होता है और सद्गुरु जिसका ज्ञान दिया जाता है, वह परमात्मा है। एक प्रकार से सद्गुरु का प्रतिनिधि होने के कारण गुरु भी सद्गुरु कहलाता है। जीव के संशय का उच्छेद गुरु ही करता है जिससे परमात्मा का संग प्राप्त होता है। जिसको सद्गुरु मिल गया उसको पूरा संन्यास प्राप्त हो जाता है। सांसारिकता उसमें कदापि नहीं रह जाती। गुरु के

एक वचन से शिष्य के कोटि कर्म कट जाते हैं।

रामानंद ने गुरु के साथ सत्संग तथा नाम स्मरण को आवश्यक बताया है। सत्संग से मन का मैल कटता है। मूर्खों का संग छोड़ देना चाहिए जो प्रकट रूप में पशुओं के समान हैं। स्वामी रामानंद ने अपनी साधना-पद्धति में नामस्मरण को बहुत अधिक महत्व दिया है। रामानुज संप्रदाय में नारायण रूप में ईश्वर की उपासना होती है जबकि रामानंदी संप्रदाय में श्री राम के रूप में। इसीलिए उनके शिष्य कबीर ने भी राम के रूप में ही ईश्वर की उपासना की है।

ज०गु० रामानंद की सामाजिक दृष्टि सर्वग्राही थी। वे उदारता की प्रतिमूर्ति थे। जिन शूद्रों के लिए आध्यात्मिक उन्नति का मार्ग, समाज में सिर उठाकर रहने का अधिकार सदा के लिए बंद कर दिया गया था उनके लिए उन्होंने दया और समता का द्वार खोल दिया। उन्होंने भगवान् की भक्ति के लिए ऊँच-नीच सबको एक बराबर समझा। इसीलिए उनके द्वादश शिष्यों में हर जाति, धर्म के लोग हैं। उन्होंने उन हिन्दुओं को भी हृदय से अपनाया जो बलात् मुसलमान बना लिये गये थे। हिन्दू धर्म से बिछुड़े हुए पूर्वजों को रामानंदाचार्य ने पुनः हिन्दू धर्म की गोद में स्थान दिया। उनके प्रयास से हिन्दू धर्म फिर से विश्व-बंधुत्व की ओर सक्रिय रूप से अग्रसर होने लगा। अपनी सर्वग्राही दृष्टि से अपने समय के चारों वैष्णव संप्रदायों- स्वामी रामानुजाचार्य का श्रीसंप्रदाय, मध्वाचार्य का ब्रह्म संप्रदाय, निम्बार्क का सनकादिक संप्रदाय और विष्णु स्वामी का रुद्रसंप्रदाय को एकत्र करके संगठित किया। स्वामी रामानंद की संगठन क्षमता ऐसी थी कि महाराष्ट्र के नाथपंथी भी अपना सम्बंध रामानंद से जोड़ते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि मध्यकालीन भारतीय समाज में श्रीरामानंदजी ने साधना का ऐसा भव्य महल निर्मित किया जो सर्वजन सुलभ था। वे भारतीय संत परंपरा में सर्वाधिक प्रगतिशील आचार्य थे। उनसे ही प्रेरणा ग्रहण कर कबीर ने निर्गुण भक्ति का मार्ग प्रशस्त किया। रैदास ने संसार को भगवानमय देखा तथा पीपा साहब इत्यादि संतों ने समता की भावना का विस्तार किया।

राष्ट्रीय चेतना में स्वामीरामानन्द का प्रदेय : वर्तमान परिप्रेक्ष्य

डॉ० शत्रुघ्न प्रसाद

पश्चिमी दृष्टि के भारतीय चिन्तक मानते हैं कि यूरोप में राष्ट्रवाद के विकास के प्रभाव में भारत ईसा की उन्नीसवीं सदी में राष्ट्रीयता के विचार से अनुप्राणित हुआ। आधुनिक युग का आरंभ राष्ट्रीय चेतना के स्फुरण के साथ हुआ। हिन्दी में भारतेन्दु युग प्रमाण है। बीसवीं सदी में भारत इसी विचार से आन्दोलित हो सका। स्वाधीनता के लिए संघर्ष आरंभ हो गया और देश स्वतंत्र हुआ। परन्तु सत्य यह है कि अथर्ववेद के भूमिसूक्त से राष्ट्रीयता का विकास होता है। इसी सूक्त में ध्वनित हुआ- 'माताभूमिः पुत्रोऽहंपृथिव्याः।' भूमि और भूमि पर निवास करने वाले जन में माता एवं संतान का रागात्मक भाव जगाना राष्ट्रीयता की दृष्टि से विश्व वाङ्मय में सर्वथा विशिष्ट अभिव्यक्ति है। यह यूरोप की दृष्टि से नितान्त भिन्न है। यूरोप के राष्ट्रवाद से हजारों वर्ष पहले का महत्वपूर्ण प्रसंग है। विष्णु पुराण ने तो इस राष्ट्र के भूगोल को स्पष्ट कर दिया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र ने आसेतु हिमाचल क्षेत्र को चक्रवर्ती क्षेत्र माना है।

तुर्कों-अरबों-मुगलों के आक्रमण, विजय एवं राजत्वकाल में चन्द्रबरदाई, आचार्य श्री रामानन्द, आचार्य वल्लभ, गुरु नानकदेव, तुलसीदास, भूषण आदि ने भारत की पराधीनता की पीड़ा और संघर्ष के तेज को व्यक्त किया है। शिवाजी ने तो 'हिन्दवी स्वराज्य' के लिए संघर्ष का उद्‌घोष किया है। सन् १८५७ का संग्राम अंग्रेजों के विरुद्ध स्वातंत्र्य संग्राम ही था।

यह अवश्य है कि यूरोप एवं अमेरिका के राष्ट्रवाद के प्रभाव से भारत का प्राचीन राष्ट्रभाव प्रखर हुआ। रेल, डाक, तार तथा प्रेस के कारण यह अखिल भारतीय स्तर पर प्रकट होने लगा।

प्रश्न है कि चौदहवीं सदी के आचार्य श्रीरामानन्द जी के धार्मिक-सांस्कृतिक अभियान में राष्ट्रीयता को स्थान मिला था? वर्तमान परिप्रेक्ष्य में आचार्य श्री का राष्ट्रीयता के उत्थान में क्या योगदान रहा है? आज क्या प्रासंगिकता है?

प्रथम प्रश्न पर विचार करते समय ध्यान में आता है कि एक ओर आद्य शंकराचार्य 'ब्रह्मसूत्र' के आधार पर अद्वैतवाद का प्रतिपादन कर बौद्ध शून्यवाद

एवं निरीश्वरवाद को ब्रह्मवाद में परिणत कर रहे थे। दूसरे शब्दों में वैदिक दर्शन तथा बौद्ध दर्शन का द्वन्द्व चल रहा था। तांत्रिक साधना भी प्रबल थी। शैव और नाथपंथी भी प्रभावशाली थे। उधर अरब में तौहीद चिंतन का एकेश्वरवाद प्रतिष्ठित हो चुका था। तौहीद के आधार पर नया मजहब जोशो जनून के साथ पश्चिम एशिया पर विजय प्राप्त कर सिन्ध में पहुँच गया था। शैव और बौद्ध दोनों उनकी तलवार के आगे झुक रहे थे। दसवीं सदी में बौद्ध एवं शैव धर्मों की साधना में मग्न अफगानिस्तान पर नये मजहब की फौज ने भीषण युद्ध कर कब्जा कर लिया था। ग्यारहवीं सदी के महमूद गजनवीं के फौजी अभियान और आक्रमण के फलस्वरूप मुलतान और सोमनाथ के विध्वंस का रोमांचक वर्णन चतुर सेन शास्त्री के 'सोमनाथ' नामक उपन्यास में मिलता है। डॉ० शिव प्रसाद सिंह ने तेरहवीं सदी के जुझौती के भीषण संग्राम और भारतीय वीर सेनापति आनन्द बाशेक की पराजय की पीड़ा का वर्णन 'दिल्ली दूर है' में किया है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इसी सदी से सम्बद्ध 'चारु चन्द्रलेख' में उज्जयिनी के संघर्ष तथा रानी चन्द्रलेखा कें द्वन्द्व, तन्त्र-शक्ति याजन शक्ति को बड़े संयम से उभारा है। चौदहवीं सदी के कश्मीर की पराजय का त्रासद वर्णन शत्रुघ्न प्रसाद रचित 'कश्मीर की बेटी' में विद्यमान है। अमृत लाल नागर ने पन्द्रहवीं सदी से सम्बंधित' 'खंजननयन' में सूरदास के माध्यम से उस युग के अनेक आयामी संघर्ष को चित्रित कर दिया है।

धर्म-संस्कृति के क्षेत्र में भी वह युग द्वन्द्व ग्रस्त था। संघर्षशील था। एक ओर दक्षिण भारत के आलवार भक्तों में भक्तिभावना की एकान्त अभिव्यक्ति हो रही थी। दूसरी ओर अद्वैतवाद का नया चिंतन-विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत आदि भक्ति को सैद्धान्तिक मान्यता देकर भक्ति का प्रसार कर रहे थे। सगुण और निर्गुण दोनों प्रकार से भक्ति भावना प्रबल हो रही थी। उसी समय अरब से तौहीद दर्शन के साथ मजहबी सियासत का सैनिक अभियान पश्चिम एशिया पर फतह पाकर भारतीय भूमि सिन्ध में भी पहुँच गया और तेरहवीं सदी में वे दिल्ली पर कब्जा कर हकुमत करने लगे। राजनैतिक स्वतंत्रता के साथ धार्मिक स्वाधीनता पर भी संकट आ गया। इस प्रकार विदेश से आगत तौहीद और भारतीय दर्शन के द्वन्द्व के साथ उपासना एवं भक्ति का भी संघर्ष आरंभ हो गया। परन्तु राम और कृष्ण की भक्ति मंदिरों के ध्वंस के बाद भी संपूर्ण भारत में गूंजने लगी। यह भारतीय आस्था एवं अध्यात्म का नव जागरण सिद्ध हुआ।

इस द्वन्द्वग्रस्त तथा संघर्षरत भक्त के परिवेश में आचार्य श्री रामानन्द जी भारतीय आस्था एवं अध्यात्म के आधार बन गये। रामभक्ति, सगुण एवं निर्गुण दोनों की मान्यता, संस्कृत के साथ हिन्दी को स्थान देना और वर्णव्यवस्था की

स्वीकृति के साथ सब को भक्ति का अधिकार देकर शिष्यत्व प्रदान करना स्वामी रामानन्दाचार्य का युगधर्म था। यह युगधर्म भारत की राष्ट्रीयता का सांस्कृतिक पक्ष है। इसका प्रभाव आज तक दिखायी पड़ रहा है जिसे जार्ज ग्रियर्सन ने भी स्वीकार किया है। वह चकित तथा चमत्कृत रहा है।

भारत की राष्ट्रीयता के अनेक पक्ष हैं। प्रथम पक्ष उपर्युक्त सांस्कृतिक पक्ष है। दूसरा सामाजिक, तीसरा आर्थिक और राजनीतिक पक्ष चौथा है। राष्ट्रीयता केवल अतीत के गौरवगान वर्तमान अधोगति पर रोना और भविष्य के लिए आवाहन मात्र नहीं है। वैसे इसमें सभी पक्ष समाहित हो सकते हैं। दर्शन, जीवन दृष्टि, भाषा, साहित्य, कला, विज्ञान, प्रकृति, पर्यावरण, जनजीवन, राज्यव्यवस्था, अर्थव्यवस्था, शिक्षा, सुरक्षा, आदि सब राष्ट्रीय चिंतन के अन्तर्गत अन्तर्मूर्त हैं। आचार्यश्री दर्शन, उपासना, भक्ति, साहित्य, कला, रामचरित्र और संगठन को लेकर राष्ट्रीयता के सांस्कृतिक पक्ष को प्रबल कर नवजागरण के प्रवर्तन में अग्रसर हुए थे। इसका अमित प्रभाव तो आज तक है, पर सत्रहवीं सदी तक विशेष रहा। अद्वैत के नये विवेचन के साथ उन्नीसवीं सदी में इसका नव जागरण आया। परन्तु आचार्य श्रीरामानंद के दर्शन, भक्ति तथा राम भक्ति का प्रभाव कबीर और तुलसी के द्वारा आज तक विद्यमान है। तुलसी रचित 'रामचरितमानस' तथा उस पर आधारित रामलीला तो बीसवीं सदी तक जनजीवन को अनुप्रमाणित करते रहे हैं। इक्कीसवीं सदी ने भी इसका अभिनन्दन किया है। परन्तु पुनः पश्चिम से आयातित दर्शन, धर्म, भाषा, तथा राजनीति ने अचानक द्वन्द्व उपस्थित कर दिया है। परन्तु स्वामी रामानंदाचार्य का योगदान अप्रतिम है, क्योंकि भारत की राष्ट्रीयता पर हो रहे प्रहारों को झेल कर राष्ट्रवाद आगे बढ़ने का प्रयत्न कर रहा है।

आचार्य श्री द्वारा प्रस्तुत रामचरित, रामकथा और रामभक्ति भारतीय राष्ट्रीयता की प्रमुख भावभूमि है। पराधीनता के कालखंड में धनुषधारी राम तथा लक्ष्मण के साथ सहायक गदाधारी हनुमान महावीर की तेज:पुंज छवि से दुःखी जनजीवन नयी शक्ति पाता रहा है। नया विश्वास जगा है।

बनवासी राम ने दक्षिण के जनजातीय समूहों के सहयोग से लंका के साम्राज्यवादी शासक को पराजित कर सीता को मुक्त किया साथ ही दक्षिण को भी उसके प्रभुत्व से बचा लिया। तुलसी के अनुसार विजय के बाद रामराज्य की स्थापना हुई। यह तत्कालीन मुगल हुकूमत के विकल्प के रूप में मान्य हुई। राम तथा रामराज्य आधुनिक स्वातंत्र्य संघर्ष में प्रेरक रहे हैं। हम गाँधीजी के रामराज्य का स्मरण करें। इस रूप में आचार्य श्री का योगदान उल्लेखनीय है।

आचार्य श्री ने हिन्दी को स्थान दिया। फलतः राजभाषा फारसी, बाद में अंग्रेजी के विकल्प के रूप में हिन्दी को ही सबने राष्ट्रभाषा के स्थानपर आसीन किया। दोनों स्वतंत्रता संग्राम हिंदी के माध्यम से ही लड़े गये। आधुनिक हिन्दी काव्य में मैथिलीशरण गुप्त रचित साकेत आधुनिक युग का मानस है। इसमें सीता भारत लक्ष्मी है। रावण साम्राज्यवादी है। राम, भारत को स्वर्ग के समान समृद्ध एवं सुखी बनाने के लिए अवतरित होते हैं। निराला प्रणीत 'राम की शक्तिपूजा' तथा 'तुलसीदास' नामक कविताओं में शक्ति साधना से विजय और पत्नी रत्ना को सरस्वती के रूप में मार्गदर्शिका प्रस्तुत किया गया है। नरेश मेहता ने 'संशय की एक रात' में राम के युद्धपूर्व द्वन्द्व का वर्णन है। बरेली के राधेश्याम कथा वाचक ने खड़ी हिन्दी में राधेश्याम रामायण लिखकर सरल-सहज रूप में रामकथा के द्वारा जन-जन को अनुप्राणित किया था।

स्पष्ट है कि आधुनिक हिन्दी काव्य आचार्य श्री की रामचेतना से प्रेरित है। यह दूसरी बात है कि बामपंथी तथा सेकुलर राम के अस्तित्व, राम की अस्मिता और सेतुबन्ध पर प्रहार करके राष्ट्रपुरुष राम के प्रति अनास्था उत्पन्न करने का षडयंत्र कर रहे हैं। आज पुनः राम तथा रामविरोधी का द्वन्द्व विदेशी मतवादों के प्रभाव से चल रहा है। आज की विषम स्थिति में आचार्य श्री की रामचेतना राष्ट्रचेतना की पोषक बन रही है।

आज पुनः विदेशी षडयंत्र से संस्कृत तथा हिन्दी दोनों पर संकट मड़राने लगा है। वैश्वीकरण और उपभोक्ता संस्कृति के बढ़ते प्रभाव से अंग्रेजी का वर्चस्व दिखाई पड़नें लगा है। भारत तथा भारतीयता की अभिव्यक्ति की माध्यम संस्कृत और हिन्दी को चुनौती मिलने लगी है। मीडिया का सहयोग भारत विरोधी को मिल रहा है। यह चिंत्य है। आचार्य श्री ने संस्कृत तथा हिन्दी दोनों को आगे बढ़ाया था। आज हम पुनः उनसे प्रेरणा ग्रहण करेंगे। भाषा तो राष्ट्रीयता की वाटिका है।

पन्द्रहवीं सदी में तौहीद एकेश्वरवादी चिंतन भारतीय दर्शन के सामने खड़ा हो गया था। आज भारतीय दर्शन के सामने एक और तौहीद तो है ही, साथ ही द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद और उसके पूरक पूंजीवाद भौतिक योगदान दूसरी ओर हैं। यह सब भारतीय दर्शन पर ही चोट कर रहें हैं। ऐसा लग रहा है कि अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत, द्वैत, वाद आदि सभी विदेशी चिंतन के सामने निष्प्रभ प्रतीत हो रहे हैं।

पश्चिमी भोगवाद वस्तुवादी और यौनवादी ही हैं। और यह मीडिया के जरिये हमारे मस्तिष्क पर छाने लगा है। उधर मजहबी सियासत आतंक का सहारा लेकर

विंध्वस लीला कर रही है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवादी आतंक को क्रांति का माध्यम मानता है। इस विषम स्थिति से भारतीय दर्शन को जूझना है। अपने को सर्वश्रेष्ठ सिद्ध करना है। अद्वैतवाद, विशिष्टाद्वैत, शुद्धाद्वैत इन सबको संघर्ष करना है। विदेशी तत्वज्ञान को पराजित कर भारतीय मनीषा की देन भारतीय दर्शन को विजयी होकर भारतीय राष्ट्रवाद को बल प्रदान करना है। इस संक्रांतिकाल में आचार्य श्री का स्मरण आना स्वाभाविक है। कारण स्पष्ट है कि उन्होंने दर्शन के साथ रामचरित के द्वारा भारत को जागृत किया था। ज०गु० रामानंद ने भारत भ्रमण कर तीर्थयात्रा के द्वारा भारत के चिन्तकों तथा साधकों से मिल कर देश की सांस्कृतिक समस्या पर गहन विमर्श किया था। इससे सांस्कृतिक एकता को सुदृढ़ किया था। साथ ही सांस्कृतिक राष्ट्रीयता पुष्ट हुई थी। आज भी भारत के चिन्तक तथा साधक एक साथ बैठ रहे हैं। भारत की सांस्कृतिक समस्याओं पर विचार कर रहे हैं। जन-जन में आस्था जगा रहे हैं। इन सबमें आचार्य श्री की प्रेरणा सक्रिय है। अत: लग रहा है कि नये युग का भारत अपने दर्शन, अपनी भाषा और अपने साहित्य से दूर नहीं जा सकेगा। वह धर्म संस्कृति तथा राष्ट्रीयता के जीवंत प्रतिमान राम को भूल नहीं सकेगा। अयोध्या से हट नहीं सकेगा। सेतुबंध का विध्वंस नहीं करने देगा। यदि राम और उनकी भक्ति की स्थिति है तो भारत स्वामी रामानंद का विस्मरण नहीं कर सकेगा। यह आचार्य श्री के अवदान की प्रासंगिकता है। उस युग में आचार्य श्री के शंखनाद और फिर उनके तर्कों से सभी विरोधी नतमस्तक होते रहे हैं। आज भी भारत उस दाय के आधार पर नयी ऊर्जा के साथ विदेशी षड़यन्त्रों को विफल करेगा- ऐसा पूरा विश्वास है।

आचार्य श्री ने अपने युग की धड़कन को समझा था। युग के द्वन्द्व के साथ समाज की पीड़ा की गहरी अनुभूति की थी। समाज के निम्नवर्ग के असन्तोष और मतान्तरण की स्थिति को देखा था। आने वाले युग की आहट को सुन लिया था। विदेशी मजहब ने असन्तुष्ट तथा दु:खी जनों को अपनी ओर आकृष्ट किया था। शेष को भयभीत किया था। इन दोनों के बल पर उनका मतान्तरण चल रहा था। परन्तु राम ने निषाद को गले लगाया था। भीलनी शबरी के बेर खाये थे। दक्षिण की जन जातियों से स्नेहमय सम्वंध जोड़ा था। सुग्रीव को संवल दिया था। वे राजभवन के नहीं, ग्राम-ग्राम एवं वन पर्वत के जन-जन के राम बन गये थे। वे वर्ण, वर्ग और जनपद तक सीमित नहीं थे। वे संपूर्ण भारत के थे। वे नारी की अस्मिता की रक्षा के लिए युद्धपथ पर बढ़ गये थे अत: आचार्य श्री ने युगीन परिस्थितियों पर गंभीर चिंतन करते हुए दर्शन और भक्ति के लिए सबका द्वार खोल दिया। अपने गुरुदेव से अम्महमत होकर युगधर्म के अनुसार वर्णमर्यादा से उत्पन्न

भेदभाव का परित्याग कर सबको अपनाया। सबको भक्ति की दीक्षा दी। सांस्कृतिक राष्ट्रीयता के पोषण के लिए उनका क्रान्तिकारी पग सिद्ध हुआ। जुलाहा कबीर, रैदास चर्मकार, सेननाई, धन्ना जाट यानी शूद्रों के साथ अनन्तानंद, सुखानंद, भावानन्द, ब्राह्मण, पीपा-क्षत्रिय को शिषयत्व प्रदान किया। इनके साथ स्त्रियों को भी दीक्षा दी।

समता मूलक समरस समाज की रचना करने और विदेशी षड्यन्त्र को विफल करने के लिए आचार्य श्री का उपर्युक्त क्रान्तिकारी अनुष्ठान आज भी प्रासंगिक है। भारतीय संविधान ने अस्पृश्यता के निवारण और सबको समान अवसर देने का विधान किया है। पर राष्ट्रीय समाज के विखंडन के लिए विदेशी शक्तियाँ आज भी कार्यरत हैं। समता-समरसता का आन्दोलन, शिक्षा, आरक्षण की सुविधा तथा राजनैतिक अधिकार के बाद भी समाज को तोड़ने और निर्बल करने का षड्यन्त्र चल रहा है। पर समाज में अपेक्षित परिवर्तन तथा स्वस्थ समाज जीवन की रचना के लिए आज भी आचार्य श्री का योगदान स्मरण किया जा रहा है। जाति-पॉति पूछै ना कोई, हरि को भजै सो हरिका होई - यह स्वर संघोषित होकर आचार्य श्री के क्रांतिकारी चिंतन एवं संवेदनशील हृदय का परिचय दे रहा है। तभी तो उन्नीसवीं सदी से लेकर आज तक स्वामी दयानन्द, स्वामी विवेकानन्द, महात्मा गाँधी आदि महापुरुषों को यह स्वर अनुप्राणित करता रहा है। संभवत: विद्रोही दलित चिंतक तथा लेखक इस सत्य को समझना चाहेंगे तो समाज भेदभाव से मुक्त होकर स्वस्थ एवं बलवान हो सकेगा। राष्ट्रीय जीवन तेजस्वी हो सकेगा। आचार्य श्री के दोनों प्रमुख शिष्य कबीर और रैदास लाखों करोड़ों में आस्था मध्यकाल एवं भेदभावमुक्त समाज के भाव को जगा रहे हैं। उनकी परम्परा के शिष्य महाकवि तुलसीदास का राममहाकाव्य विश्व काव्य बन चुका है। राम का चरित्र उत्तम पुरुष उदात्त मानव के चरित्र का आधार सिद्ध हो चुका है। राम की पारिवारिक संस्कृति विश्व संस्कृति की नयी रचना कर सकेगी इस विखरती मानवीय संस्कृति के युग में। राम राष्ट्र पुरुष के प्रतीक बनकर आज की राष्ट्रीयता का पोषण कर रहे हैं। तभी तो नरेन्द्र कोहली रामकथा उपन्यास श्रृंखला के माध्यम से हिन्दी उपन्यास साहित्य को समृद्ध करते हुए राम के भारत की रचना में सहयोग दे रहे हैं। यह आचार्य श्री के राम के धीरोदात्त जीवन का चमत्कार है। अत: यह कहा जा सकता है कि वर्तमान परिप्रेक्ष्य में राष्ट्रीयता के पोषण हेतु आचार्य जी का योगदान महत्वपूर्ण है।



भारतीय राष्ट्रीय जागरण : ज.गु.रामानंद का अवदान

प्रो. पूर्णमासी राय

मध्ययुगीन वैष्णवभक्तिआन्दोलन के प्रवर्तक स्वामीरामानन्द का जिस समय आविर्भाव हुआ उस समय दिल्ली के सिंहासन पर तुगलकवंश और लोदीवंश का शासन चल रहा था। हिन्दू जनता पर कट्टर मुसलमान शासकों के विविध अत्याचार हो रहे थे। बादशाह लोदी का पुत्र सिकन्दर लोदी उस समय गद्दी पर था। वह इस्लाम धर्म का बड़ा ही प्रभावशाली तथा क्रूर शासक था। उसकी धर्मान्धता से हिन्दुओं की सारी मान्यताएँ धूलिसात् हो गयीं। हिन्दुओं के तीर्थ स्थान और धार्मिक उत्सवों पर निषेधाज्ञा लागू थी। नये मन्दिरों के निर्माण और पुराने मन्दिरों की मरम्मत पर रोक लगा दी गयी थी। हिन्दुओं पर अत्याचार करने का आन्दोलन चलाया गया था। उच्च पदों पर केवल मुस्लिम ही नियुक्त किये जाते थे। हिन्दू कृषकों से जमीन भी छीन ली गयी थी। फलत: हिन्दू श्रमिकों की भाँति जीवन बिता रहे थे। इस प्रकार मध्ययुगीन भारत भूमि तुर्क आक्रान्ताओं के हिंसात्मक कारनामों, सामूहिक नरसंहारों, अपहरण, लूटमार एवं क्रूर अत्याचारों, पीड़ाओं के असह्य दर्द से चीख-पुकार कर उठी थी और धन-धान्य से फलते-फूलते भारत को खण्डहरों एवं निर्धन झोपड़ियों में बदल दिया था।

ऐसे काल में स्वामी रामानन्द का जन्म त्रिवेणी संगम के किनारे प्रयाग में स्वयं राम के रूप में माघ कृष्ण सप्तमी सं. १३५६ (सन् १२९९) में ब्राह्मण कुल में माता सुशीला देवी की कोख से हुआ। पिता का नाम पुण्यसदन था। काशी में ओंकारेश्वर से विद्याध्ययन कर १३ वर्ष की आयु में स्वामी रामानंद पारंगत हो गए थे। योग विद्या पारंगत राघवानंद स्वामी रामानंद के गुरु रहे। डॉ. बड़थ्वाल का कथन है कि स्वामी जी किसी अद्वैती गुरु के शिष्य थे जिसने रामानन्द को अल्पायु जानकर राघवानन्द की योगशक्ति के भरोसे इनकी शरण में छोड़ दिया था। राघवानंद ने मारक योग के समय उसे समाधिस्थ कर मृत्यु से बचा लिया था।

स्वामी रामानंद की अंतरात्मा अपने युग के अत्याचारों से उद्विग्न हो उठी और उन्होंने भक्ति और धर्म के माध्यम से राष्ट्रीयता का बीज वपन किया। सचमुच

युगान्तकारी वैष्णव सांस्कृतिक चेतना के महागुरु एवं युग-पुरुष स्वामी रामानन्द जी थे। इस युग की इस धारा में बज्रयानी, सहजयानी नाथपंथी, हठ साधनाएँ एवं सूफी प्रेमसाधनाएँ ऐसी घुलमिल गयीं कि इन्हें पृथक् खोज पाना असम्भव है।

वर्णाश्रम व्यवस्था के बन्धनों को ढीला कर स्वामी जी ने ऊँच-नीच सभी वर्गों से अपने शिष्यों को चुना। आश्रमवासी पाँच सौ शिष्यों में से कबीरदास, धन्नाजाट और सेन नाई आदि शिष्यों को प्रमुखता देकर वैष्णव भक्ति आन्दोलन को निम्न नारा दिया-

जात-पात पूछे नहीं कोई।। हरि को भजे सो हरि का होई।

अपने इस अभियान को अग्रसर करने के लिए भारत के प्रमुख स्थानों पर अवधूत अखाड़ों एवं नागा साधुओं की आत्मबलिदानी 'दिगम्बरअनी आदि सेनाओं को संगठित किया गया। सुल्तानी आक्रमणों से भयभीत रजवाड़ों को प्रेरित कर प्रमुख नगरों में देव स्थानों की स्थापनाएँ कीं। इसी शृंखला में ओरछा के बुन्देलों ने वैष्णव आन्दोलन को मान्यता देकर चित्रकूट एवं अयोध्या में देव मन्दिरों का निर्माण किया। आमेर राज्य के गलता नगर में स्वामी जी ने वैष्णव धर्म का केन्द्र स्वयं स्थापित किया।

देखने पर स्पष्ट प्रतीत होगा कि १३वीं शताब्दी के तुगलकी अत्याचारों से बचने के लिए वैष्णव आचार्यों और उनके अनुयायी शिष्यों ने तप-त्याग का उत्कृष्टतम उदाहरण उपस्थित कर नैतिक मूल्यों के आधार पर राष्ट्र सेवा का एक मानदण्ड स्थापित किया था। राष्ट्र सेवी इन आचार्यों ने सनातन आर्य संस्कृति के रक्षार्थ सब वर्णों से अपने शिष्यों को संगठित कर भारतीय ग्रामीण मानव चेतना को रामभक्ति का आश्रय देकर राष्ट्र में सांस्कृतिक प्रचार-प्रसार का अभियान चलाया था। इस नव जागरण के अग्रणी नेता स्वामी रामानन्द थे। १३००- १६वीं शतियों के खंडहरों पर भारतीय संस्कृति का पुनर्निर्माण इन्हीं के द्वारा होता है। इस वैष्णव भक्ति आन्दोलन द्वारा प्राचीन भारतीय संस्कृति को विकसित किया गया और परजित भारतीयों के मन में आशा-किरण की चमक पैदा हुई। स्वामी रामानन्द ऐसे क्रान्तिकारी युग-पुरुष थे जिन्होंने आतंक और अवसाद के गढ़े में पड़ी भारतीय जनता के मनोबल को ढाढ़स देकर ऊपर उठाया। यह संस्कृति स्वामी रामानन्द से तुलसी तक आत्मनिष्ठ वैष्णव संत, साधुओं, कवियों, आचार्यों एवं कलाकारों की सामाजिक चेतना में जिस किसी भी रूप में व्याप्त रही है। गोस्वामी तुलसीदास के व्यक्तित्व एवं साहित्य में मध्ययुगीन वैष्णव संस्कृति की चरम परिणति है। इस युग में सुलतानी शक्ति का आतंक, लोभ-लालच एवं पद-लोलुपता के आकर्षण को अपनी संस्कृति से लगाव रखना एक बड़े साहस और त्याग

का काम था। अन्यथा विदेशी आक्रमणकारियों के संगठन ने भारत के सामाजिक क्षेत्र में जो विघटन पैदा किया था उसका निराकरण एक बड़ा भारी कठिन काम था। स्वामी रामानंद ने समस्त भारत का भ्रमण कर इस विनाशकारी ताण्डव को अपनी आँखों से देखा था। अन्ततः काशी में पंचगंगा से इस समस्त अभियान का संचालन किया।

क्रान्तिद्रष्टा रामानंद ने रामभक्ति के माध्यम से राष्ट्र में एकता की स्थापना कर दी। उनकी उदार चेतना ने सारी संकीर्णताओं को दूरकर समरसता की स्थापना की। उन्होंने जाति, वर्ण, वर्ग, नर-नारी, ऊँच-नीच, धनी-गरीब, शिक्षित-अशिक्षित की परंपरित मान्यताओं को दूर कर समता के इस रज्जु से संपूर्ण समाज को एकसूत्र में बाँध दिया। 'जाति-पाँति पूछे नहिं कोई। हरि को भजे सो हरि का होई।' यह सामान्य घोषणा नहीं है। तत्कालीन समाज के अन्तर्द्वन्द्व को देखते हुए इस घोषणा में आज की भाषा में कहें तो एक बहुत बड़ा प्रगतिशील कदम था। सांस्कृतिक समाजवाद की इस भित्ति पर रामानन्द ने जन-जीवन में आमूल परिवर्तन ला दिया। नवजागरण और सामाजिक पुनर्निर्माण की प्रक्रिया के अंतर्गत जनभाषा हिन्दी की प्रतिष्ठा, नारी-नवोत्कर्ष, अछूतोद्धार, समत्व समानाधिकार, उत्तरदायी मानवीयता, अत्याचार-अन्याय का प्रतिरोध आदि कार्य राष्ट्रीयता के चरम आदर्श उनके राष्ट्रव्यापी अभियान में देखे जा सकते हैं। सांस्कृतिक पुनर्जागरण के पुरोधा आचार्य रामानन्द ने उस युग में जबकि यवनों की दमनकारी नीतियों में जबान हिलाना मुश्किल था, रामभक्ति की युगान्तकारी पद्धतियों से पूरे समाज में समता की स्थापना कर दी।

आश्चर्य यह देखकर होता है कि आज से लगभग सात सौ आठ वर्ष पूर्व जब हिन्दी अपनी अत्यन्त शैशवावस्था में थी, स्वामी रामानन्द ने हिन्दी को अपनाया था, जबकि वे संस्कृति के उद्‌भट विद्वान् थे। वे लोक मंगल, लोकमत तथा लोकभाषा के अग्रदूत थे। उनके पूर्व प्रायः सभी आचार्य रामानुज, निम्बार्क, विष्णु स्वामी आदि संस्कृत में ही अपने सिद्धान्तों का निरूपण करते थे। स्वामी जी ने भी 'वैष्णवमताब्जभास्कर' तथा 'रामार्चन पद्धति' की रचना संस्कृत में की किन्तु उन्होंने अपनी अधिकांश रचनाएँ लोकभाषा हिन्दी में की जिसमें रामरक्षा, ग्यानलीला, योग-चिंतामणी, पद और हनुमान की 'आरती' आदि का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा, काशी से हुआ है। संपादक डॉ. पीताम्बर दत्त बड़थ्वाल हैं। रज्जबदास की 'सर्वाङ्गी' में उनका पद भी मिला है-

हरि बिन जन्म बृथा खोयो रे।
कहा भयो अति मान-बड़ाई, धन मद अंध मति सोयोरे।
अति उतंग तरु देषि सुहायो, सैकत कुसुम सुवा सेयो रे।

सोई फल पुत्र कलत्र विषे सुष, अति सीस धुनिधुनि रोयो रे।
सुमिरन भजन साध की संगति, अंतरि मन मैल न धोयो रे
रामानंद रतन जम त्रासैं श्रीमति पद काहे न जोयो रे।।[१]

मानव जीवन की सार्थकता हरिभक्ति में है, यह कहकर स्वामी रामानन्द ने अपनी भक्तिभावना की अभिव्यक्ति कर दी। उन्होंने जिस प्रकार लोक मंगल के लिए जुलाहा, चमार, नाई आदि को शिष्य बनाकर लोकनायक होने का परिचय दिया उसी प्रकार देववाणी संस्कृत का मोह त्याग कर लोकवाणी हिन्दी को अपनाया। जैसे मगवान् बुद्ध ने संस्कृत के बदले पालि में और भगवान महावीर ने प्राकृत में प्रवचन दिया। स्वामी दयानन्द और गान्धी जी ने हिन्दी को अपनाकर राष्ट्रीयता का स्वर मुखरित किया, उसी प्रकार स्वामी रामानन्द का हिन्दी अपनाना अपने में एक युगान्तकारी कदम है।

निष्कर्ष यह कि मध्यकालीन वैष्णव भक्ति के उदारचेता एवं क्रान्तिद्रष्टा स्वामी रामानन्द ने रामभक्ति का सबके लिए द्वार खोलकर, नारी को उचित स्थान देकर और हिन्दी के व्यापक प्रचार-प्रसार से राष्ट्रीयता की एक सात्विक एवं अहिंसात्मक धारा को प्रवाहित कर दी। उस भयावह काल में इससे अधिक क्या हो सकता था?

संदर्भ

१. रामानंद की हिन्दी रचनाएँ, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, पृ. ९



राष्ट्रोत्थान में आचार्यरामानंद का योगदान

डॉ. दयाकृष्ण विजयवर्गीय 'विजय'

महर्षि अगस्त्य जब वैष्णव धर्म दर्शन को लेकर अलंघ्य विन्ध को लाँघ दक्षिण में गये, तव उन्हें वहाँ सबसे अधिक विरोध का सामना शैव धर्माचार्यों से जो युगों पूर्व से वहाँ प्रतिष्ठापित थे, करना पड़ा था। शैवों से पराजित प्रतिरोधी शक को इन्द्र पद पर प्रतिष्ठित कर प्रजापति उपेन्द्र विष्णु को ब्रह्म का अवतार पहले ही सिद्ध कर चुके थे। उपेन्द्र विष्णु ने नाग राजा शेष एवं वासुकी को अपनी ओर मिला, उन्ही के सहयोग से, शम्बर, विष्णु, नमुचि, पुलोम, पिप्रू आदि नाग राजाओं को पराजित कर, जिसे तत्कालीन ग्रंथकारों ने समुद्र मंथन की संज्ञा दी है, विशाल आर्यावर्त्त की स्थापना की थी। महर्षि अगस्त्य ने अपने बुद्धि कौशल से सुदूर दक्षिण तक वैष्णव धर्म दर्शन के आश्रम स्थापित कर समानान्तर नये धर्म का विस्तार किया था।

श्रीसम्प्रदाय इनमें सबसे सशक्त सम्प्रदाय के रूप में दक्षिण में उभरा। इसके आराध्य देव, लक्ष्मीनारायण अर्थात् विष्णु थे। ऐसा माना जाता है कि इस सम्प्रदाय की संस्थापिका श्रीजी थीं। मेरा मत थोड़ा इससे भिन्न है। विष्णु पत्नी श्री को आराध्य बनाकर प्रारम्भ हुआ यह सम्प्रदाय अन्ततः श्रीसम्प्रदाय कहलाया। इस सम्प्रदाय का भी पूर्ववर्ती शैव सम्प्रदाय से कड़ा संघर्ष हुआ। परिणामतः ये तमिलनाडु छोड़ पहले कर्नाटक और फिर महाराष्ट्र तक चले आये। इन्हें वहाँ राजाश्रय भी मिला। पर विशेष सहयोग मिला आलवार सन्तों का। आलवार सन्तों में बारह आचार्यों के बाद तेरहवें आचार्य नाथमुनि हुए थे। इनके पुत्र श्री यामुनाचार्य ही श्रीरंगम् में रंगनाथ मठ में आचार्य हुए। इन्ही के लक्ष्मण नामक शिष्य रामानुज नाम से मठ की गादी पर इनके बाद बिराजे। इन्होंने श्री सम्प्रदाय का जितना विस्तार किया, उतना और किसी ने नहीं। इससे शैवधर्मी चोल राजा इनके विरुद्ध हो गया। ये श्रीरंगम् से मैसूर राज्य के नगर शालग्राम आ गये। वहाँ के राजा भट्टदेव ने इन्हें तिरुनारायणपुर में मंदिर का अधिष्ठाता बना दिया। इस मंदिर में श्रीराम के साथ लक्ष्मण एवं माता सीता भी मूर्तियाँ विराजित थीं। यह आलवार मंदिर था। इस कारण भी इन्हें राम भक्ति के विस्तार में आलवार सन्तों का बहुत योग मिला। यहाँ उल्लेखनीय है कि सगुण राम उपासकों ने रामावत नाम से एक नया पंथ महाराष्ट्र

में खड़ा कर लिया। इससे यहाँ राम भक्ति की दो शाखाएँ हो गईं। महाराष्ट्र के निर्गुण सन्त नामदेव निर्गुण राम भक्ति के चमत्कारी प्रतिनिधि सन्त थे। इन्होंने अपनी योगसाधना से औढ़य्या ग्राम के शिवमंदिर का मुख अपनी ओर मोड़ लिया था। अत: वहाँ के शैव इनसे अप्रसन्न हो गये। ये महाराष्ट्र छोड़ कोलायत (राजस्थान) होकर पंजाब चले आये। महाराष्ट्र में ही पंढ़रपुर में भगवान् विट्ठल का मंदिर था। बिट्ठल-बिट्ठल की रट लगाते हुए महाराष्ट्र में कई सिद्ध सन्त हुए। ये सभी वैष्णव संत थे। राम नाम के ही उपासक सन्त थे। इनमें सन्त ज्ञानेश्वर, सन्त एकनाथ, सन्त रामदास, सन्त तुकाराम आदि का नाम सुविख्यात है। इन्होंने महाराष्ट्र से लेकर सुदूर दक्षिण तक वैष्णव धर्म दर्शन का डंका बजा दिया। महाराष्ट्र से ही वैष्णव भक्ति उत्तर भारत में आई। उत्तर भारत में वैष्णव भक्ति निर्गुण और सगुण दोनों रूपों में आई। निर्गुण भक्ति धारा के प्रवर्तक बने, काशी के श्रीमठ के महन्त श्री राघवाचार्य के शिष्य श्री रामानंद तथा सगुण भक्ति के प्रवर्तक बने श्रीमद् बल्लभाचार्य। रामावत प्रभाव वाले सन्तों ने दाशरथि राम को अपना आराध्य बना राम मन्दिर बना कर रामभक्ति को विस्तार दिया तथा श्रीमद् बल्लभाचार्य ने भगवान् कृष्ण को आराध्य बना मंदिरों में अष्टयाम सेवा की व्यवस्था की। रामानंद निर्गुण राम उपासक थे परन्तु इन्होंने कभी किसी का विरोध नहीं किया। वे उदार समन्वयी वृत्ति के थे। इन्होंने सदा ही ईश्वरीय एकता का संदेश दे, साम्प्रदायिक वैभिन्नय को एक मंच पर लाने तथा समाज को संगठित शक्ति के रूप में खड़ा करने का ही सतत प्रयत्न किया।

श्रीरामानन्दाचार्य वैसे तो उत्तर भारतीय थे। प्रयाग में इनका जन्म हुआ था। ये कान्यकुब्ज ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम पुण्यसदन तथा माता का नाम सुशीला देवी था। काशी में आचार्य राघवानंद से आपने विक्रम संवत् १३८१ की बसन्त पंचमी को विधिवत दीक्षा ले विशिष्टाद्वैती धर्म दर्शन की सिद्धता अर्जित की। आचार्य राघवानंद के बाद स्वामी रामानंद ही श्रीमठ के आचार्य बने। स्वामी रामानंद ने आचार्य पीठ पर बैठते ही, तत्कालीन वैधर्मिक विकट परिस्थितियों का अनुमान तथा हिन्दू समाज की संगठित शक्ति की आवश्यकता एवं अनुभव कर राष्ट्रोत्थान के भाव से कई क्रान्तिकारी निर्णय लेते हुए मठों की जड़ परम्पराओं को एक नया आयाम दिया। भक्ति आन्दोलन में गति लाने के अभिप्राय से स्वामी रामानन्द ने अपनी धर्मदीक्षा के द्वार सभी जातियों तथा सभी वर्गों के लोगों के लिए खोल दिये। स्वामी रामानंद के सैकड़ों उपकृत शिष्यों में बारह शिष्य प्रसिद्ध हैं, जो सिद्धता की कई सीढ़ियाँ चढ़ चुके थे। इनमें दस पुरुष तथा दो महिलाएँ थीं।

अनन्तानंद, स्वामीजी के पट्ट शिष्य थे। ये ब्राह्मण थे। इन्हें स्वामी रामानंद ने अनेक विशिष्ट सिद्धियों से अभिषिक्त कर, पृथक से शिष्य बनाने का अधिकार भी प्रदान कर दिया था। कबीर दूसरे शिष्य थे, ये जुलाहे थे। गृहस्थ थे। इन्हें स्वामी जी ने गाँव गाँव घूम लोक संग्रह का दायित्व दिया। रैदास चर्मकार थे। ये भी गृहस्थ थे। इन्हें भी यही कार्य मिला था। ये दोनों काशी के ही थे। ये जीवन भर स्वामी जी के निकटस्थ रहे। सन्त पीपा गागरोनगढ़ (राजस्थान) के क्षत्रिय राजा थे। स्वामी जी का विश्वास था कि यदि राजाओं को प्रभावित कर लिया जाय तो समाज की संगठित शक्ति खड़ा करना आसान रहेगा। इसलिए उन्होंने रियासतों पर विशेष ध्यान दिया। सन्त सेन नाई थे। ये बघेलखंड़ के थे। स्वामी जी ने इन्हें सिद्ध सन्त बना बघेलखंड़ वापस भेज दिया। सेन ने राजधानी में रहकर वहाँ के राजा श्री राजाराम की तेल मालिश का काम ले लिया। एक बार सेन, राजा के यहाँ जाते समय मार्ग में सन्त मंडली के मिल जाने पर, उसे लेकर वापस घर आ गये। जब स्वामी जी ने अपनी योग शक्ति से राजा के मालिश हेतु सेन की अनुपस्थिति देखी तो स्वयं सेन के रूप में महल में पहुँच, स्वामी जी ने राजा की मालिश की। दूसरे दिन सेन के आने पर मालिश करते सेन से राजा ने कहा, कल तो तुमने बहुत अच्छी मालिश की। तब तत्काल सेन को स्मरण हुआ, निश्चय ही स्वामी जी ने आकर राजा की मालिश की है। जब यह भेद खुला तो राजा बहुत प्रभावित हुआ और स्वामी जी का शिष्य हो गया। स्वामी रामानंद नर पूज्य ही नहीं थे, देव मान्य पूज्य पुरुष थे। इनके एक शिष्य राजस्थान के टौंक जिले के धवन ग्राम के धन्ना जाट थे। ये बड़े भक्त थे। भगवान या कोई देवता इनकी भक्ति से बड़ा प्रसन्न था। इसने उससे मोक्ष चाहा, तो उस देव ने इन्हें काशी में जाकर मोक्ष हेतु रामानंद को गुरु बनाने को कहा। इसी तरह सन्त पीपा प्रारम्भ में देवी भक्त थे। एक बड़े यज्ञ हवन के पश्चात् देवी ने प्रकट होकर इनसे कोई वर मांगने को कहा। तब राजा ने कहा, मुझे मोक्ष चाहिए। देवी ने कहा, 'मोक्ष के अतिरिक्त तू और कुछ भी माँग ले, मैं तुझे दूँगी। मोक्ष तो कोई जीवित गुरु ही दिलवा सकता है। राजा के ऐसा गुरु पूछने पर, देवी ने स्वयं ज.गु. रामानंद का नाम बताया।

स्वामी जी ने अपने सभी शिष्यों को अपनी अपनी लोक भाषा का प्रयोग कर लोक संग्रह के लिए प्रेरित किया था। भले ही वे स्वयं संस्कृत के विद्वान्न् थे। भले ही उन्होंने अपना धर्मग्रंथ 'आनंद भाष्य' भी संस्कृत में ही लिखा था। इसके पीछे उनका यही भाव था। जाति विहीन हिंदू समाज की संरचना। उन्होंने यही उद्घोष सर्वत्र किया 'जात पांत पूछे नहि कोई। हरि को भजे सो हरि का होई।।' सभी जातियों

के शिष्य बना, उनके सहयोग से सभी को निरपेक्ष भाव से एक मंच पर लाने का उनका राष्ट्रवादी भाव था। स्वामी जी की सर्व समन्वयी, सर्वग्राही, नीति के अन्तर्गत पूरा समाज था। वे आधी जनसंख्या की उपेक्षा नहीं कर सकते थे। वे तो यह भी मानते थे कि यदि महिलाएँ संगठित हो एक मंच पर आ गईं तो देश को संगठित शक्ति के रूप में खड़ा करने में देर नहीं लगेगी। स्वामी जी ने मठ के द्वार महिलाओं के लिए भी खोल दिये। उन्हें दीक्षित सिद्ध सन्त बनाना प्रारम्भ कर दिया। उनका विश्वास था विद्यार्थियों से संत्रस्त महिलाओं में महिला संत ही अच्छा काम कर सकती हैं। त्रिपुरा के पंडित प्रभाकर शर्मा की एक मात्र पुत्री पद्मावती को स्वामी जी ने मंत्र दीक्षा देकर सन्त बना दिया। काशी में रहकर पद्मावती ने रामभक्ति की जो धारा बहाई, वह इतिहास का एक उज्ज्वल पृष्ठ है। पद्मावती ने महिला जागरण का जो शंख बजाया, उसके प्रभाव वश विधर्मी शासकीय अत्याचारियों के अत्याचारों में कमी आई। शील भंग की घटनाएँ कम हुई। धर्मान्तरण कम हुआ। स्वामी जी ने इसी भाव से उत्तर प्रदेश के ही लखनऊ जिले के परवम ग्राम के पं. सुरेश्वर प्रसाद शर्मा तथा उनकी प्रेयसी पडोसिन सुरसुरी को गृहस्थ संत बना दिया। इन्हें दक्षिण भेज आतताई सूबेदार मलिक काफूर के अत्याचारों से हिन्दू समाज की रक्षा का दायित्व दिया। दोनों सन्तों ने मिलकर मलिक काफूर को अपनी दिव्य शक्तियों से प्रभावित कर हिन्दू समाज विशेष कर महिलाओं पर हो रहे अत्याचारों को रुकवाया। सन्त सुरसुरी ने वहाँ महिलाओं में जागरण का शंख फूंक उन्हें अपने पैरों पर खड़ा कर दिया।

जो काम सन्त सुरेश्वरानंद तथा संत सुरसुरी ने किया, उससे भी अधिक महत्वपूर्ण काम स्वामी जी ने अयोध्या में कर दिखाया। अयोध्या के सूर्यवंशी राजा हरिसिंह देव को विधर्मी अत्याचारी नृशंस शासक जूनाखाँ तुगलक ने धर्मान्तरित कर मुसलमान बना लिया था। लज्जावश राजा सिंहासन छोड़ गजसिंह को राजपाट सौंप, स्वयं जंगल में जा भगवत भक्ति करने लगे। गजसिंह जो स्वयं बलात् धर्म परिवर्तन से विक्षुब्ध था, स्वामी जी के चमत्कारों की कीर्ति सुनकर स्वामी जी की सेवा में उपस्थित हुआ तथा धर्मान्तरण की करुण कथा कह सुनाई। साथ ही यह भी कहा, अयोध्या के मतान्तरित बीस हजार लोग वापस अपने हिन्दू धर्म में लौटने को तैयार हैं। स्वामी जी तब तक मठ छोड़ काशी से बाहर कभी नहीं पधारे थे, अयोध्या पहुँच वापस हिन्दू बनाने के लिए तत्काल तैयार हो गये। निश्चित समय पर जैसे ही स्वामी जी अयोध्या पहुँचे, उपस्थित जन समाज ने उनका भव्य स्वागत किया। स्वामी जी के निर्देश पर वे बीस हजार मतान्तरित जैसे ही सरयू में डुबकी

लगा बाहर निकले, सबके सिर पर चोटी थी। सबकी सुन्नत मिट गई थी। गले में जनेऊ पड़ी थी। इस चमत्कारी परिवर्तन ने उन्हें स्वतः ही हिन्दू घोषित कर दिया। हिन्दू समाज के लिए स्वामी जी की यह सबसे बड़ी कृपा तथा राष्ट्र के लिए सबसे बड़ी सेवा थी। इस घटना ने पूरे हिन्दू समाज में उठ खड़े होने का विश्वास जगा दिया।

ऐसा ही काशी में एक और प्रकरण उपस्थित हो गया। मुस्लिम प्रभाव वश काशी में मस्जिदों की बाढ़ आ गई थी। ऊँची आवाज में एक नहीं पाँच-पाँच बार अजाने लगने लगीं। इससे काशी के शांत वातावरण में हलचल मच गई। भयभीत हिन्दू स्वामी जी की शरण में श्रीमठ पहुंचे और उनके के सामने सारी स्थिति रख, कहा-'झगड़े की संभावना बढ़ गयी है। स्वामी जी ने तब अजानियों का अपनी योग शक्ति से कण्ठावरोध कर दिया। इस पर मुस्लिम समाज में हलचल मच गई। सबका शक स्वामी जी पर जा टिका। लेकिन मठ में घुसने की किसी में साहस नहीं था, इसलिए उन्होंने कबीर से सहयोग माँगा। कबीर ने उन्हें स्वामी जी से मिलाया। तब स्वामी जी ने कहा-'यदि आप मेरी इन बारह बातों का, जिनसे हिन्दू समाज आहत है, अपने बादशाह गयासुद्दीन तुगलक से समाधान निवारण आदेश लिखित में ले आओ, तो कण्ठावरोध दूर हो जायेगा। मुसलमानों ने बारह बातों का समाधान जैसे ही लाकर स्वामी जी को दिया, अजानियों का कण्ठावरोध समाप्त हो गया। इस घटना ने हिन्दू समाज को जहाँ शक्ति दी, वहीं देश विदेश के मुस्लिम सन्तों विशेष कर सूफी सन्तों में रामानंद के प्रति आध्यात्मिक श्रद्धा भाव जग आया। दिल्ली के हजरत निजामुद्दीन औलिया ने शिष्य अमीर खुसरो को प्रशंसात्मक पत्र के साथ स्वामी जी के पास काशी भेजा। स्वयं भी पक्षी के रूप में आकर स्वामी जी से मिले। सुदूर पश्चिम के सूफी सन्त श्री यासीन की शिष्या फातिमा गुरु के निर्देश पर अपनी शंकाओं के समाधान के लिए श्रीमठ आईं। पश्चिम का ही असरार प्रदेश का एक युवा संन्यासी नामवर जो संस्कृत पढ़ा लिखा था, स्वामी जी की ख्याति सुन उनकी सेवा में आया। वह स्वामी जी की दिव्यता से इतना प्रभावित हुआ कि काशी में ही बस गया। ऐशीमत का यूनानी प्रवासी अन्तोलिया को उसकी प्रेतयोनि से स्वामी जी ने मुक्ति दिलाई। पश्चिम के ही अग्नि पूजक सन्त कवोंकिया के शिष्य मंगी पुरोहित को तो, श्रीमठ में आने पर, स्वामी जी ने आत्म साक्षात्कार करा शिष्य बना दिया। स्वामी जी द्वारा ब्रह्म सूत्र पर समन्वयी दृष्टि से लिखे 'आनन्दभाष्य' ने दक्षिण के शैव एवं वैष्णव सम्प्रदायों में विरोध की भावना जगादी। तब दक्षिण से आये विरोधियों को स्वामी जी ने स्वयं वेद व्यास को सशरीर उपस्थित करा

उनसे 'आनन्द भाष्य' की भावभूमि का समर्थन करवा विरोध शान्त करवाया। फिर भी दक्षिण का विरोध शान्त होता नहीं देख, स्वामी जी ने भारत यात्रा का निश्चय किया। स्वामी जी की भारत यात्रा के वृत्त पर जब हम दृष्टिपात करते हैं तब हमें लगता है, देश किस प्रकार विभिन्न सम्प्रदायों में बँटा ही नहीं था, विभिन्न धर्म सम्प्रदाय अपनी श्रेष्ठता की अहमन्यतावश एक दूसरे को फूटी आंख नहीं देखना चाहते थे। स्वामी रामानंद ने इस द्वैत को मिटाने हेतु अपनी योग शक्ति ही दांव पर लगा दी। रामेश्वरम् में शैवों और वैष्णवों में गहरा संघर्ष छिड़ा हुआ था। जब स्वामी रामानंद अपनी सन्त मंडली के साथ रामेश्वरम् मंदिर में पहुँचे तो वहाँ पड़े पुजारियों ने यह कह कर बाधा खड़ी कर दी, कि मंदिर में केवल आड़ा त्रिपुण्ड धारी ही प्रवेश कर सकता है, ऊर्ध्व पुण्ड्र तिलक धारी नहीं, तब स्वामी जी ने जैसे ही अपना दक्षिणावर्त्त शंख फूँका, सभी दर्शनार्थियों के भाल पर आड़ा भभूत का त्रिपुण्ड तिलक लग गया। इस चमत्कार से जहाँ मूर्ति पूजक चकित थे, वहीं सभी दर्शनार्थियों के लिए मंदिर के द्वार खुल गये। वहाँ स्वामी जी ने ईश्वर की एक ही सत्ता का विवेचन करते हुए, धार्मिक समन्वय, साम्प्रदायिक एकता आपसी सहिष्णुता तथा मिलकर आसन्न संकट का निवारण करने की आवश्यकता प्रतिपादित की। साथ ही आपने सबको एक ही मंच पर आ राष्ट्रीय एकता में सहयोग देने का खुला आह्वान भी किया। इसी तरह की बाधा विष्णु कांची के रंगनाथ मंदिर के पुजारियों ने खड़ी कर दी। सन्त कबीर को जुलाहा तथा सन्त रैदास को चमार कहकर मंदिर प्रवेश से रोक दिया। वहां भी स्वामी जी ने भगवान वेणीमाधव प्रदत्त उसी दक्षिणावर्त शंख को बजाया। उस मायावी ध्वनि से वशीकरण का ऐसा प्रभाव पड़ा कि पुजारियों के मन को द्वैत सहसा तिरोहित हो गया। स्वामी जी तो उन्हें भगवान रंगनाथ के गर्भगृह में दिखे, जहाँ स्वयं रंगनाथ भगवान अपना हाथ बढ़ा स्वामी जी को गले लगा रहे थे। इस चमत्कार को देखते ही विरोधी पंड़े पुजारी अचंम्भित रह गये। वहाँ भी विभाजित पंड़े, पुजारियों को स्वामी जी ने यही कहा- 'सारा विश्व प्रपंच एक ही ईश्वर की सृष्टि है। एक से अनेक होने की उसकी इच्छा का ही यह परिणाम है। फिर द्वैत कैसा। फिर कैसी छूआछूत। यहाँ उन्होंने अपना पुराना उद्घोष फिर दुहराया, 'जात पांत पूछे नहिं कोई। हरि को भजे सो हरिका होई।। और कहा समय आयेगा जब सब हरि भक्तों को एक सूत्र में बाँध, देश की एकता को सुदृढ़ करना है। समय की यही महती आवश्यकता है, तभी मंदिर सुरक्षित रहेंगे। गौ माताएँ सुरक्षित रहेंगी। धर्म सुरक्षित रहेगा। भारत सुरक्षित रहेगा। सारे भेद कृत्रिम हैं। सबमें उसी एक चिरन्तन सत्ता की व्याप्ति मान हमें सर्व धर्म

समन्वयी होकर व्यवहार करना है। वृन्दावन में तो स्वामी जी ने राधा और कृष्ण को एक साथ भोजन करा, सभी को चकित कर दिया। एकता का पांचजन्य गुँजा दिया। स्मरणीय है कि स्वामी जी ने सर्वधर्म समन्वय का आदर्श उपस्थित करने के भाव से भारत यात्रा पर प्रस्थान से पूर्व स्वयं विश्वनाथ मंदिर पहुँच, भगवान शिव से भारत माता की सफलता हेतु आशीर्वाद प्राप्त किया था।

देश को, समाज को तथा सम्प्रदायों को एक सूत्र में गूँथ, जिस राष्ट्रीय एकता का शंख स्वामी जी ने गुँजाया उसी का परिणाम था कि राष्ट्र अपने पैरों पर खड़ा हो गया। समाज सारे मत भेदों को भुला, सिर पर आये संकट को परास्त कर सकने में सफल हो सका। आचार्य रामानंद के चमत्कारों तथा प्रयत्नों का प्रतिफल था कि उन कठिन समयों में हिन्दू समाज अपने स्व से जुड़ स्वाभिमान पूर्ण जीवन जी सका। स्वामी जी का राष्ट्रोत्थान में दिया योगदान भारतीय इतिहास का एक उज्ज्वल पृष्ठ है। जो सदैव कृतज्ञ भाव से स्मरण किया जाता रहेगा।



भारतीय राष्ट्रवाद के आधार और श्रीरामानन्दाचार्य

प्रो० सतीश कुमार

राष्ट्रवाद एक आधुनिक अवधारणा है। यह भारत में पुनर्जागरण आन्दोलन के विविध आयामों और उसके प्रभावस्वरूप उद्भूत राष्ट्रीय नवचेतना का परिणाम रहा है। यह राष्ट्रीय नवचेतना मध्यकालीन मान्यताओं एवं प्रवृत्तियों के ध्वंस का संदेश देते हुये अंकुरित और पल्लवित होती है। वस्तुतः इस आधुनिक नवजागरण-आन्दोलन की विभिन्न दृष्टियों से जुड़े स्वर हमें मध्यकालीन भक्ति आन्दोलन और उसे जनान्दोलन का रूप देने वाले स्वामी रामानन्द की चिन्तनधारा एवं दार्शनिकता में भी सशक्त रूप से प्रतिध्वनित होते सुनायी देते हैं। उनके भक्ति आन्दोलन की वैचारिकी ने मध्यकाल में ही उन सभी मूल्यों में नवचेतना का बीज बो दिया, जो आधुनिक काल में भारतीय-राष्ट्रवाद का मुख्य आधार बनते हैं। रामानन्द जी के युगान्तकारी व्यक्तित्व एवं कृतित्व से जुड़ी इस राष्ट्रीय नवचेतना का तत्कालीन दौर के धर्मसुधार एवं समाज सुधार के क्षेत्र में गहरा प्रभाव दिखायी देता है। इस तरह स्वामी रामानन्द की भारतीय-राष्ट्रवाद के महत्तम निर्माताओं में गणना की जानी चाहिये, जिन्होंने उसकी गतिशील सांस्कृतिक आधारभूमि खड़ी की। उसमें जैसी उदात्त समन्वयी गत्यात्मकता है, उसके दर्शन, हमें विभिन्न प्रकार की मताग्रही जड़ताओं से आक्रान्त आधुनिक सांस्कृतिक-राष्ट्रवाद की अनेक चिन्तनधाराओं में भी नहीं होते।

आधुनिक पुनर्जागरण आन्दोलनों के साथ भारतीय समाज में उद्भूत राष्ट्रीय नवचेतना, जो आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद की आधारभूमि खड़ी करती है, वस्तुतः पश्चिम के संस्थागत एवं मूल्यगत सम्पर्कों एवं प्रभावों का परिणाम मानी जाती है। माना जाता है कि उन सम्पर्कों की क्रिया-प्रतिक्रिया ने ही उस नवचेतना को जन्म दिया और उन मूल्यों को उभार प्रदान किया जो अंग्रेजी शासनकाल के समाज सुधार एवं धर्मसुधार आन्दोलनों में अभिव्यक्ति पाते हैं। इन आन्दोलनों ने सामाजिक क्षेत्र में समतामूलक एवं भेदभाव निषेध की दृष्टि, जाति सुधार या जातीय संकीर्णताओं की समाप्ति, स्त्री वर्ग के लिये समानाधिकार आदि सहित विभिन्न मुद्दों

पर सामाजिक परिवर्तन की चेतना खड़ी की। धार्मिक सुधार के क्षेत्र में धार्मिक कट्टरता एवं धर्मान्धता, धार्मिक अधिकारों में भेदभाव, वंशानुगत धार्मिक श्रेष्ठता के अहंभाव तथा उससे जुड़ी मठाधीशी, पुरोहिती आदि के विरोध में आन्दोलनों का प्रकटीकरण होता है। इन आन्दोलनों ने व्यक्ति स्वातंत्र्य, समता एवं सामाजिक एकता, राष्ट्रीयता आदि सिद्धान्तों पर जोर दिया और उनके लिये संघर्ष किया।

आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद की प्रवृत्ति जनाभिमुख और पूरी तरह जनतांत्रिक रही है। उसकी पृष्ठभूमि से जुड़े समाजसुधार एवं धर्मसुधार आन्दोलनों में भी यह प्रवृत्ति सक्रिय रूप से विद्यमान रही है। "इन आन्दोलनों ने सामाजिक एवं धार्मिक क्षेत्रों में सामाजिक विशेषाधिकारों के ध्वंस की प्रेरणा दी। वे आन्दोलित जाति एवं लिंग से परे सभी को समान अधिकार दिलवाना चाहते थे। सुधारकों का यह कहना था कि भारतीय जनता की राजनीतिक स्वतंत्रता और सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक प्रगति तथा राष्ट्रीय एकता के लिये यह आवश्यक है कि सामाजिक सम्बन्धों एवं संस्थाओं का जनतंत्रीकरण हो। यह चेतना समाज सुधार एवं धर्म सुधार आन्दोलन को राष्ट्रीय जागरण का सूचक बना देती है और फलतः मध्ययुगीन सामाजिक संरचना और धार्मिक दृष्टिकोण का कमोबेश जनतांत्रिक अर्थात् व्यक्ति स्वतंत्रता और मानव एकता के सिद्धान्तों के आधार पर परिशोधन होता है"।

भारत में आधुनिक राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि को अभिचित्रित करने और उसके जन्म का ऐतिहासिक, सांश्लेषिक एवं क्रमबद्ध विवरण प्रस्तुत करने वाले अकेले ग्रन्थ के रूप में ए.आर. देसाई की पुस्तक "भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि" है। उन्होंने राष्ट्रवाद के पीछे खड़े सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलनों के ऊपर वर्णित आधारभूत प्रवृत्तियों को राष्ट्रवाद के विकास का मूलभूत नियामक तत्व माना है। इनके अतिरिक्त आधुनिक राष्ट्रवाद के विकास में जिन सहायक तत्वों-कृषि के बदलते स्वरूप, आधुनिक उद्योगों के उद्भव एवं विकास, नागरिक हस्तशिल्प का अवकर्ष, आवागमन के आधुनिक साधनों, आधुनिक शिक्षा, प्रशासनिक एवं राजनीतिक एकीकरण, नये सामाजिक वर्गों के उदय, समाचारपत्रों की भूमिका आदि को उन्होंने इस सन्दर्भ में अभिचित्रित एवं विश्लेषित किया है, वे आधुनिक कालक्रम से जुड़ी हुई घटनाओं के प्रतिफल रहे हैं।

यहाँ यह उल्लेखनीय है कि आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि के विकास में सहायक उपर्युक्त साधनों एवं समसामयिक प्रभावों से अलग

उससे जुड़े जिन मूल्यों को उन्होंने विश्लेषित किया है, उनकी मुखर और सशक्त अभिव्यक्ति शताब्दियों पूर्व मध्यकाल के उत्कर्ष के दौर में स्वामी रामानन्द जी के भक्ति आन्दोलन में होती है। अत: हम कह सकते हैं कि भारतीय राष्ट्रवाद की आधारभूमि तो स्वामी रामानन्द जी के चिन्तन में मौजूद रही है और उन्होंने भारतभूमि पर जिस आध्यात्मिक क्रान्ति का सृजन किया था, उससे राष्ट्रवाद की सांस्कृतिक चेतना का बीजारोपण मध्यकाल में ही हो जाता है, भले उसका पल्लवन आधुनिक युग सन्दर्भ के साथ होता है। आधुनिक काल में भी पुनर्जागरण के आन्दोलनों की शुरुआत तो धर्म सुधार एवं समाज सुधार के ही क्षेत्र में होती है और उसके प्रभावस्वरूप राजनीतिक पुनर्जागरण की तस्वीर आगे चलकर स्पष्ट उभरती है। वस्तुत: इस नवचेतना का अलख तो उससे वहुत पहले स्वामी रामानन्द जी ने जगाते हुये, उसका शंखनाद कर दिया था। उन्होंने ईश्वर-साक्षात्कार में समता के आध्यात्मिक अधिकार का मार्ग प्रशस्त करते हुये अपने भक्ति आन्दोलन एवं उसकी नवचेतना को जनाभिमुख बनाया। धीरे धीरे जनान्दोलन का रूप लेने वाली उनकी भक्ति चेतना पूरे राष्ट्र पर छा जाती है। इस तरह उसमें राष्ट्र की भौगोलिक एकता एवं उसके भीतर भेदभाव रहित मानवीय एकता का भाव समाविष्ट है। जनतांत्रिक चेतना पर आधारित अपने आध्यात्मिक गणतंत्र की रचना में उन्होंने जहाँ जाति एवं लिंग आधारित भेद के ध्वंस का सन्देश दिया, वहीं इस नवचेतना को जनान्दोलित रूप देने के उद्देश्य से प्रेरित विचारों के जनसम्प्रेषण में लोकभाषा हिन्दी का प्रयोग किया। जातीय असमानता और स्त्री-पुरुष असमानता के साथ साथ उन्होंने वंशवाद आधारित अहं को तोड़ने का भी जहाँ सन्देश दिया, वहीं मत-मतान्तरों के बीच समन्वयी चेतना पर टिकी सहिष्णुता एवं एकता के सूत्र में पिरोनें वाली एक नयी वैचारिक संस्कृति का राष्ट्रीय जीवन में क्रान्तिकारी सूत्रपात किया। यह सब अवदान मिलकर स्वामी रामानन्द को भारतीय राष्ट्रवाद की नींव का ऐसा पत्थर बना देती है, जिसका सम्यक मूल्यांकन आधुनिक राजनीतिक वैज्ञानिकों का भी धर्म है।

स्वामीरामानन्द जी का चिन्तन एवं दर्शन जनाभिमुख था। काशी की संस्कृति भी जनाभिमुख रही है। रामानन्द जी भी जनचेतना से जुड़े आचार्य थे। शिव की नगरी काशी से उन्होंने रामभक्ति की जनान्दोलित चेतना के प्रवाह का प्रकटीकरण किया। उन्होंने शैव एवं वैष्णव परम्पराओं के बीच ही तादात्म्य नहीं स्थापित किया, बल्कि उनके द्वारा प्रवर्तित भक्ति आन्दोलन का केन्द्र 'श्रीमठ;' पंचगंगा सगुण एवं निर्गुण धाराओं का भी समान रूप से गोमुख रहा है। इस गोमुख में ही संगम है,

जो राष्ट्रीय जीवन में आस्था के विविध प्रवाहों को जोड़ देता है। इससे एक विविधतापूर्ण राष्ट्र में एकता के उदात्त आदर्शों की आधारभूमि खड़ी होती है। राष्ट्र केवल नदियों, पहाड़ों और मैदानी भूभागों से नहीं बनता, देश बन सकता है। राष्ट्र बनता है उसमें निवास करने वालों के बीच एकता और सामन्जस्य की साझी अनुभूति एवं चेतना से। इसे पल्लवित करने का महत्वपूर्ण अवदान स्वामी रामानन्द जी के व्यक्तित्व एवं कृतित्व से एक कठिन युग संक्रमण के उस दौर में सामने आया जब समाज की संरचना एवं संस्कृति बिखराव एवं टूटने के खतरे से मुखातिब थी।

भारतीय स्वतंत्रता के राष्ट्रीय-आन्दोलन के साथ पल्लवित हुआ आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद भी अपनी परिपक्वता गांधी युग के विकास के साथ अर्जित करता है, जब हमारा राष्ट्रीय आन्दोलन एक राष्ट्रीय जनान्दोलन बन जाता है। गांधी ने उसे आध्यात्मिक एवं नैतिक चेतना तथा रामनाम की अणुशक्ति से जोड़ा। उसमें कहीं भी मताग्रही संकीर्णता नहीं, सारे भारत के लोगों को बिना भेदभाव के जोड़ने एवं एक मानने का संकल्प था। कई शताब्दी पूर्व ऐसी ही भावभूमि तो स्वामी रामानन्द जी ने खड़ी कर राष्ट्रीयता के सामाजिक एवं सांस्कृतिक सूत्रों का अग्रणी प्रतिपादन मध्ययुग में ही किया। रामानन्द जी के भक्ति आन्दोलन की आध्यात्मिक क्रान्ति भी जनाधारवादी थी। ईश्वर साक्षात्कार के 'राजपथ' सदृश्य ज्ञान मार्ग के समानान्तर भेदभावरहित एवं लोकसुलभ 'जनपथ' सरीखे भक्तिमार्ग का प्रवर्तन कर उन्होंने जिस आध्यात्मिक-' समाजवाद एवं आध्यात्मिक गणतंत्रवाद का वितान खड़ा किया, वह भारतीय राष्ट्रवाद की विकास यात्रा में उनका अवदान है। जाँत-पाँत पूछे नहिं कोई, हरि को भजै सो हरि का होई' जैसे महामंत्र का राष्ट्रीय जीवन में प्रायोगिक स्वरूप प्रस्तुत कर स्वामीरामानन्द जी ने अपने उस आध्यात्मिक गणतंत्र में जुलाहे कबीर और चर्मकार रैदास को महाभागवत रूप प्रदान कर दिया। राष्ट्रवाद के उत्कर्ष के साथ अर्जित हमारे आधुनिक राजनीतिक-गणतंत्र ने भी अनेक बड़े आदमी पैदा किये, लेकिन उनमें कोई महामानव की उस ऊँचाई को छू भी नहीं सकता।

रामानन्द जी भक्ति को दक्षिण से उत्तर ले आये और उस चेतना के सूत्र से न केवल पूरी भारतभूमि को जोड़ा बल्कि जाति, वर्ण, सम्प्रदाय एवं लिंग की संकीर्णताओं से रहित भक्ति चेतना को आम आदमी से जोड़कर राष्ट्र चेतना की आध्यात्मिक भावभूमि खड़ी की। इस चेतना को जनसाधारण के लिये सुबोध भी बनाया। इसके लिये भक्ति को 'प्रपत्ति' या 'शरणागति' के सरलतम् संस्करण के रूप में जहाँ प्रस्तुत किया, वहीं लोक चेतना से उसका विश्वसनीय तादात्म्य स्थापित

करने के लिये सम्प्रेषण की भाषा के रूप में हिन्दी का प्रयोग किया। ईश्वर के मर्यादित पुरुषोचित स्वरूप के साथ 'राम' और उनकी भक्ति को लोकचेतना के संस्कारों में गहरे उतार दिया। इसमें कहीं भी सगुण या निर्गुण का मताग्रह नहीं। मताग्रही संकीर्णताओं एवं जड़ताओं की अन्य कोई गुंजायश नहीं। शिष्यों को भी अपने मताग्रही बन्धनों में बांधने की जगह उन्हें अपने अपने स्वतंत्र मतों का प्रवर्तक आचार्य बना दिया। आधुनिक राष्ट्रवाद जिस व्यक्ति स्वातंत्र्य की चेतना के भावभूमि पर खड़ा होता है, उसका इससे अच्छा दृष्टांत कहाँ मिलेगा, जो रामानन्द जी की आध्यात्मिक क्रांति में प्रकट हुआ। अनेकता में एकता आधुनिक भारतीय राष्ट्रवाद की सैद्धान्तिक कसौटी है, जो किसी भी प्रकार के मताग्रहजनित जड़त्व की जगह समन्वयी गत्यात्मकता का सन्देश देती है। यह कसौटी रामानन्दजी के आध्यात्मिक गणतंत्र का भी आधार है। उसमें समता के आध्यात्मिक अधिकार का मुखर सन्देश प्रतिध्वनित होता है। मध्यकालीन युग-संक्रमण में स्वतंत्रता एवं समानता की यह आध्यात्मिक अवधारणा रामानन्द जी के चिन्तन में राष्ट्रवाद की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि की सशक्त उपस्थिति का संकेत है। अतः रामानन्द जी भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक एवं सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के अग्रणी प्रवर्तक आचार्य हैं।

1. देसाई, ए.आर., "भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि", मेकमिलन इण्डिया लि., मद्रास, 1976, पृ. 191



लोकमंगल के आराधक : संतपीपाजी

डॉ. ललित शर्मा

पौरुष की अभिव्यक्ति का माध्यम संग्राम करना ही नहीं होता अपितु यह अभिव्यक्ति भक्ति के माध्यम से भी होती है। मध्ययुगीन भारतीय इतिहास के भक्तिकाल में महान संत पीपाजी ने अपने कृतित्व से यह सिद्ध किया कि भक्ति भी ऐसी हो सकती है जो अपराजेय हो। भारतीय राजपूतों की शौर्य गाथाओं से भरपूर इतिहास इस तथ्य का भी साक्षी है कि उनकी खींची राजपूत परम्परा में एक ऐसा पराक्रमी नरेश भी हुआ, जिसके कारण गागरोन जितना अपने अभेद्यदुर्ग के कारण प्रसिद्ध हैं उतना ही एक महान तीर्थ के रूप में भी।

उल्लेखनीय होगा कि राजस्थान प्रदेश के झालावाड़ जिला मुख्यालय से उत्तर दिशा की ओर ४ किलोमीटर दूर आहू और कालीसिंध नदी के किनारे बना प्राचीन जलदुर्ग गागरोन संत पीपाजी की जन्म और शासन स्थली रहा है। इसी के समक्ष नदियों के संगम पर उनकी समाधि, गहन साधना गुफा और मंदिर आज भी अपनी दिव्य आभा लिये स्थित है। उनका जन्म वि०सं० १३८० की चैत्र पूर्णिमा को गागरोन दुर्ग के खींची राजवंश में हुआ था। संत पीपाजी के जीवन और उनके कृतित्व के सम्बन्ध में भले ही सामान्य जानकारी है लेकिन संत पीपाजी के लिये भक्ति का क्या अर्थ था, उसके मर्म को सम्भवत: देश में आज भी बहुत कम लोग जानते हैं।

व मध्ययुगीन भक्तिआन्दोलन के प्रवर्तक श्री रामानन्दाचार्य के बारह प्रधान शिष्यों में एक थे। संतों के दिशा निर्देश पर पीपाजी गागरोन से काशी गये और उन्होंने स्वामी रामानन्द का शिष्यत्व ग्रहण किया। एक वर्ष बाद स्वयं रामानन्द अपने शिष्यों कबीर और रैदास तथा ४० अन्य शिष्यों सहित गागरोन आये। उसी समय पीपाजी ने अपनी सबसे छोटी रानी सीता सौलंकिनी सहित राजपाट त्याग व संत बाना धारण कर स्वयं को वैष्णव धर्म प्रचार में समर्पित कर दिया था। अपने गुरु के निर्देश पर उन्होंने सपत्नी पैदल यात्राएँ कर पश्चिमी भारत में रामानन्दी वैष्णव भक्ति के प्रचार की सुदृढ़ भूमिका तैयार करने में विलक्षण योगदान दिया। अभी तक उनकी १५५ साखियाँ और २८ पद प्राप्त हुए हैं।

अपने गुरु के बारे में वें कहते हैं -

पीपा के पंजरि बस्यो, रामानंद को रूप।
सबै अन्धेरा मिटि गया, देख्या रतन अनूप।।

तथा

लोह पलट कंचन करयौ, सतगुरू रामानंद।
पीपा पद रज है सदा, मिट्यों जगत को फंद।।

वे कबीर और रैदास के गुरुभाई तथा अनन्य मित्र थे। परन्तु उनका सम्बन्ध नाथपंथियों से भी रहा है। १७वीं सदी की एक कृति "पीपा बत्तीसी" में किन्ही गोरखनाथी साधु व पीपाजी के मध्य संवाद के ३२ पद हैं। इन पदों का सार यह है कि नाथ पंथी साधु उन्हें निर्गुण भक्ति हेतु प्रेरित करते हैं। यह भी ज्ञात होता है कि वे आरम्भ में सगुणमार्गी थे, किन्तु बाद में निर्गुणमार्गी हो गये थे। उनकी रचनावाणी से भी इस तथ्य की पुष्टि होती है।

संत पीपाजी बाहरी आडम्बरों, थोथे कर्मकाण्डों और रूढ़ियों के प्रबल विरोधी थे। उनका मानना था कि "ईश्वर निर्गुण, निराकार, निश्छल और अनिर्वचनीय है। वह बाहर भीतर, घट-घट में व्याप्त है। वह अक्षत है और जीवात्मा के रूप में प्रत्येक जीव में व्याप्त है।" उनके अनुसार "मानव शरीर में ही सारी सिद्धियाँ और वस्तुएँ व्याप्त हैं।" उनका यह विराट चिन्तन "यत्पिण्डेतत्ब्रह्माण्डे" के सूत्र को मूर्त करता है और तभी वे अपनी काया में ही समस्त निधियों को पा लेते हैं। फिर किसी बाहरी मन्दिर या तीर्थ, पूजा की उन्हें कोई आवश्यकता नही रह जाती है। श्रीगुरु ग्रन्थ साहिब में संकलित उनका यह पद इसी भावभूमि पर खड़ा हुआ भारतीय भक्ति साहित्य का कण्ठहार माना जाता है।

अनत न जाऊँ राजा राम की दुहाई।
कायागढ़ खोजता मैं नौ निधि पाई।।
काया देवल काया देवा, काया पूजा पांती।
काया धूप दीप नइवेद, काया तीरथ जाती।।
काया माहै अठसठि तीरथ, काया माहे कासी।
काया माँहे कंवलापति, बैकुंठवासी।।
जो ब्रह्माण्डे सोई पिण्डे, जो खोजे सो पावै।
पीपा प्रणवै परमततरे, सद्गुरू मिलै लखावै।।

संत पीपाजी के वचनों की एक बड़ी विशेषता यह है कि वे सामाजिक

समन्वय का मंगलमय संदेश देते हुए कहते हैं -

परमारथ के कारणे, जिनको जीवन अंत।
पीपा सोई सत पुरख, सोई सांचो संत।।
भलो बुरो सब एक है, जाकै आदि न अन्त।
जगहित हरि जो सेवये, पीपा सोई संत।।

वे इसी समन्वय की मिसाल हरेभरे गुलदस्ते की तरह देते हैं। उन्हें अपने देश से बहुत प्यार था। इस देश की मिट्टी को अपनी आँखों का काजल बनाकर उन्होंने सदियों पहले भारत की बहुरंगी छवि को देख कर कहा था -

फूल बगीचा में घणा, सबरों सुन्दर रूप।
पीपा जद मिल सब छबै, भासे रूप अनूप।।

वे सामाजिक समन्वय के अतिरिक्त मानवीय कर्म और धर्म में भी समन्वय देखते हैं। इसी क्रम में निर्गुण और सगुण में भी उनकी दृष्टि समन्वय भावों की रही है :-

हिरदे राखे धरम ने, करमाई करम कमाण।
पीपा सत री ढ़ाल दे, भेदो निहिच निसाण।।

तथा

सरगुण मीठो खाण्ड सो, निरगुन करुओ नीम।
पीपा सद्‌गुरू पुरस दे, निरभय होकर जीम।।

उन्होंने अपने विचारों और कृतित्व से भारतीय समाज में परिवर्तन का पथ प्रशस्त किया। उन्होंने लोक के कोण से शास्त्र को परखा भी और उसमें परिवर्तन भी किया। सदियों से इस देश में चली आ रही चतु:वर्ण परम्परा में एक नवीन वर्ण "श्रमिक" नाम से सृजित करने में उन्होंने महती भूमिका निभाई। उनके द्वारा सृजित यह नवीन वर्ण इस प्रकार का था जो हाथों से उद्यम कर्म करता और सुख से "ब्रह्मराम" का उच्चारण करता था जिसमें कर्म, धर्म का अद्‌भूत समन्वय था-

हाथाँ से उद्यम करें, मुख सो ऊचरे "राम"।
पीपा सांधा रो धरम, रोम रमाड़े राम।

संत पीपाजी सच्चे अर्थों में लोक मंगल की समन्वयी पद्धति के प्रतीक थे। उन्होंने संसार त्याग कर निरी भक्ति करते हुए कभी पलायन करने का सन्देश नहीं दिया। वे अपने लोक के प्रति इतने समर्पित थे कि वे इसी से अपनी भक्ति के लिये ऊर्जा प्राप्त करते थे। यही कारण है कि मध्ययुगीन भारतीय सन्तों में उनकी अपनी

प्रतिष्ठा है। वे लोकवाणी के वाहक भी है और लोक को समर्पित व्यक्तित्व भी। उनकी समूची वाणी ही लोक के परिष्कार के लिये है। अपनी वाणी में उन्होंने जो कुछ भी कहा उसकी अपनी व्यंजना है।

वे सामाजिक समन्वय के महान आख्याता इसलिये हैं कि उन्होने उस ब्रह्म से साक्षात कराया जिस ब्रह्म की खोज में मानव आजीवन भटकता है। उन्होंने सच्चे अर्थों में ब्रह्म के स्वरूप की पहचान पर जोर देते हुए कहा कि "उस ब्रह्म की पहचान मन में अनुभव करने से है।"

उण उजियारे दीप की, सब जग फैली ज्योत।
पीपा अन्तर नैण सो, मन उजियारा होत।

अपनी अन्तरदृष्टि के प्रति भी उनका विशेष आग्रह था। देखा जाय तो प्रत्येक सच्चे भक्त की पूँजी उसकी अन्तरदृष्टि में मिलती है। सच्चे गुरु की अमोघ कृपा से- सच्चे गुरु की पहचान क्या हो?-पीपाजी इस साखी में उसका उत्तर बताते हैं -

सतगुरू साँचा जौहरी, परखे ज्ञान कसौट।
पीपा सूधोई करे, दे अण भैरी चोट।

अपने गुरु भाई कबीर का उन्हे बहुत सहारा था, अत: वे उन्ही की भांति अपने युग के पाखण्ड और आडम्बर के विरुद्ध तनकर खड़े हुए भी दिखाई देते है। वे उस सन्त की खुले शब्दों में भर्त्सना करते हैं जो केवल वेषभूषा से संत होता है आचरण से नहीं -

पीपा जिनके मन कपट, तन पर उजरो भैस।
तिनको मुख कारो करो, संत जना के लेख।।

और इसी के साथ वे बड़े मर्म की बात कहते है कि- "सच्चा सूरमा वही है जो अपने अन्दर बैठे हुए शत्रुरूपी विकारों पर पूर्ण विजय पा ले।"

अलस, अधीर, छल, ईर्ष्या, काम क्रोध, मद, क्रूर।
पीपा जिणई जितीया, तेई साँचा सूर।।

इसी के साथ उनका अपने मन पर भी जोर है और इसी से वे अपनी आत्मा में ही परमात्मा को देखते है -

मन आप दरसाया।
आप ही बिछ बीज अंकुरा। आप फूल फल छाया।।

आप ही सूरज किरंन परकास्या। आप ब्रह्म जीव माया।।
आतम में परमातम दीखै। छाया मांहि माया।।
छाया माया आपै सबहि। पीपे सांच लखाया।।

और फिर वे लोक मंगल के लिये आपसी भेदभाव मिटाने पर भी बल देते है। उनके इस विचार में एक महान तात्विक चिन्तन छिपा हुआ है। जिसमें एक परात्पर ब्रह्म राम के प्रति आस्था पर बल है और वह तत्व सर्वव्यापी है फिर विप्र, शुद्र का अंतर कैसा? वे कहते हैं-

संतो एक राम सब मांही।
अपने मन उजियारो। आन न दीखे काही।।
एकै धाम रुधिर अर सांसा। छोट मोट तन मांही।।
एकौ मात पिता सबही के। विप्र छुद्र कोई नाही।।
पीपा जो जन भरम भुलाने। तै ढुलरात सदा ही।।

उनकी प्रीति की रीति भी बड़ी अनोखी है- इसे स्पष्ट करते हुए वे कहते है-

प्रीत की रीति अनोखी जानौ।
चिन्ता नाई दुख सुख परे देहपै। चरण कमलकर ध्यानौ।।
जैसे चातक स्वाति बून्द बिन। प्रान समरपन ठानौ।।
पीपा जैहि राम भजन बिन। काल रूप तेही जानौ।।

उन्होंने लोक समन्वय के लिये ब्रह्म, भक्ति, नामरस, आत्मा-परमात्मा, कर्म, माया, वर्ण, अहिंसा, जीव, इन्द्रिय-विग्रह, अनहदनाद व वर्ण आदि पर ऐसी अनुपमेय अभिव्यक्ति दी जो सदियों बाद आज भी प्रासंगिक है। उनकी वाणी वास्तव में सुनने सुनाने के लिये नहीं है, वह तो आचरण में उतारने के लिये है। यह वाणी सहज और सम्प्रेषणीय है। इसमें लोक मंगल की आराधना भी है और समूचे समाज के कल्याण के लिये किये जाने वाला आह्वान भी। ऐसा विराट आह्वान वही पौरुषमय संत कर सकता है जिसमे पीपाजी जैसा यह सामर्थ्य हो कि वह हिंसक सिंह को भी भक्ति का उपदेश दे सके। इसीलिये उनकी अभ्यर्थना करते हुए नाभादास ने भक्तमाल में सही कहा है :-

परसि प्रणाली सरस भई, सकल बिस्व मंगल कियो।
पीपा प्रताप जग बासना, नाहर को उपदेश दियो।।

यह कहना असंगत न होगा कि संत पीपाजी का रचना संसार लोक मंगल

के लिये समन्वय भावों पर आधारित है। आज जब धर्म, नस्ल, जाति, क्षेत्र जैसे तमाम भेदों को गहराकर मानवता विरोधी ताकते सक्रिय हैं। ऐसे में महान संत पीपा जी की वाणी की राह ही हमें अखण्ड मानवता के पक्ष में ले जा सकती है।

संतपीपा की साधना और वाणीसाहित्य

प्रो० पूर्णमासी राय

मध्यकालीनवैष्णवभक्ति आन्दोलन के प्रवर्तक स्वामी रामानन्द के बारह शिष्यों में संतपीपा के व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व की कुछ अपनी विलक्षणताएँ हैं। उनके आदेश से वासना नाहर (बहुत दूर से मनुष्य की गंध का अनुभव करने वाला व्याघ्र की हिंसक प्रवृत्ति में परिवर्तन आ गया। पहले वे देवी भवानी के भक्त थे। पर स्वयं भवानी ने श्री हरि की शरणागति ग्रहण कर रामानन्द जी को गुरु बनाने का आदेश दिया- नाभादास जी ने भक्तमाल में लिखा है-

पीपा प्रताप जग वासना नाहर को उपदेश दियो।।
प्रथम भवानी भक्त मुक्ति मॉगन को धायो।
सत्य कह्यौ तिहि शक्ति सुदृढ़ हरिशरण बतायो।।
श्री रामानंद पद पाइ, भयो अतिभक्ति की सीवाँ।
गुण असंख्य निर्मोहन सन्तधरि राखत ग्रीवाँ।।
परसि प्रणाली सरसभई, सकल विश्व मंगल कियो।
पीपा प्रताप जग वासना नाहर कौ उपदेश दियो।।

प्रियादास जी ने इसकी टीका २४ कवितों में की और पीपाजी के जीवन की अनेक चमत्कारी घटनाओं का उल्लेख किया और 'रामरसिकावली में महाराज रघुराज सिंह ने इन्हें और विशद रूप में उपस्थित किया। यहाँ उनका उल्लेख न कर अत्याधुनिक शोध में उपलब्ध तथ्यों की चर्चा की जा रही।

संतपीपा का यह जीवनवृत्त सर्वत्र अंकित है कि वे राजस्थान के झालावार प्रदेशान्तर्गत एक छोटी सी रियासत गागरौन गढ़ के राजा थे। पंड़ित परशुराम चतुर्वेदी ने राजस्थान इतिहास के साक्ष्य से इनका समय संवत् १४२५ से १४७५ माना है। उनके अनुसार पीपा के बड़े भाई अचलदास खींची के साथ राणा कुम्भा (संवत् १४७५-१५२५ वि.) की बहन लाला का ब्याह हुआ था। ये उनकी प्रथम रानी थीं। ये कबीर और रविदास के समकालीन थे। पीढ़ी में गुजरात के सुलतान होशंग गौरी ने सन् १५४६ में पीपा के पोता अनन्तदास से गांगरौन गढ़ छीन लिया था। इनका छोटा भाई अचलदास खींची इस युद्ध में मारा गया था। अनंतदास

स्वयं वैष्णव संप्रदाय में दीक्षित हो गए थे। रामानन्द के प्रमुख शिष्य अनंतानंद की शिष्य परम्परा में से अग्रदास के बड़ेभाई विनोदी भाई के शिष्य थे। अनन्तदास ने संवत् १६४५ (सन् १५८२) को 'भक्त रत्नावली की रचना की। 'भक्त रत्नावली' (रचनाकाल संवत् १६४५) एक परिचई साहित्य है। इसमें नागदेव, त्रिलोचन, अंगद, रविदास, कबीर और पीपा की परिचई दी गयी है। इसके संपादक डॉ० वेणी प्रसाद शर्मा ने दादू संस्कृत महाविद्यालय,जयपुर से प्राप्त पांडुलिपि के आधार पर इसका संपादन किया है। इसके लेखक संत पीपा के पोता अनन्तदास वैष्णव हैं। इसमें पीपा के जीवन से संबद्ध घटनाओं को इन प्रकरणों में विभक्त कर उपस्थित किया गया है। प्रथम पाँच प्रकरणों में गागरौनगढ़ परिचय, जालपा देवी की उपासना कर स्वामी रामानन्द से दीक्षा लेने के लिए बनारस यात्रा, एक वर्ष पर्यन्त स्वामी जी के शिष्यत्व में रहकर वापिस अपने राज्य में आना, पीपा के निमंत्रण पर स्वामी जी का गांगरौनगढ़ जाना एवं स्वागत वर्णन है। छठे प्रकरण में पीपा गांगरौनगढ़ छोड़कर संन्यासी रूप में अपनी पटरानी सीता सहित वैष्णव भक्त के रूप में द्वारका यात्रा पर चल पड़ते हैं-

स्वामी संपत्ति अपनी दीनी। पीपा संगि सिया करि लीनी।।
चले नगर तैं छाड्यौ मोहू। पीछै ज्यूं भावै त्यूं होहू।।

इसके बाद के परिच्छेदों में पीपा जी के अनेक चमत्कारों का वर्णन है। ५६ पृष्ठों में प्रस्तुत यह विवरण पीपा साहब के त्याग और अतिथि सेवा का मनोरम उदाहरण है।

पीपा साहब की साधना-पद्धति एवं साहित्यिक अवदान के संबंध में जो कुछ उल्लेख मिलता है, वह इतना अपर्याप्त और अनुपलब्ध है कि उससे किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता। एक जगह उल्लेख है कि श्री रूपकलाजी ने 'पीपाजी की बानी' नामक एक ग्रन्थ पर्याप्त समय हुए छपवाया था, पर अब वह अप्राप्य है। रामानन्द प्रकाश (सन् १९९५) में प्रकाशित एक लेख में उल्लेख है कि सांवर लाल तंवर का 'संत पीपा जी : एक अध्ययन' शीर्षक शोध प्रबंध भी आ चुका है। जो जयपुर के 'पीपा शोध संस्थान' के माध्यम से 'श्री पीपा प्रकाश' नाम की पत्रिका भी निकल रही है।

श्री गुरुग्रंथ साहब की दूसरी सैंची में रागु घनासरी में केवल एक पद संकलित है जिसका स्वर निर्गुनिए संतों का है-

कायउ देवा काइअउ देवल काकइअरूजंगम जाती।
काइअउ धूप दीप नइवेदा काइअउ पूजउ पाठी।।

काइआ बहु खंड़ खोजते नवनिधि पाई।
ना कुछ आइवो ना कछु जाइवो राम की दुहाई॥१॥ रहाउ॥
जो ब्रह्मांडे सोई पिंडे जो खोजै सो पावै।
पीपा प्रणवै परम तत्तु है सतगुरु होइ लखावै॥२॥

कुछ दिन हुए चंडीगढ़ के डॉ. वी.पी. शर्मा को दादू संस्कृत महाविद्यालय जयपुर में जो पाण्डुलिपि मिली उसमें अन्य संत वाणियों के साथ संत पीपा की १२ साखियाँ और १३ पद भी मिले। इनका प्रकाशन 'गुरु नानक वाणी' के साथ 'विश्व भारतीय प्रकाशन' चण्ड़ीगढ़ से सन् १९७८ में हुआ है। इसके संबंध में उन्होंने लिखा है- "पीपा जी की प्रस्तुत साखियों और १३ पदों का साहित्यिक महत्व चाहे कुछ हो या न हो परन्तु एक समस्या का हल हो जाता है कि पीपा ने रामानन्द से अवश्य दीक्षा ली और ये कबीर रैदास के साथी थे। पीपा ने निम्न साखी में स्वामी रामानन्द को अपना गुरु स्वीकार किया है-

पीपा के पंजरि बस्यौ रामानन्द को रूप।
सबै अधारा मिट गया, जब देखा तत्त अनूप॥

इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि कबीर-रैदास के साथ रहने से हरिभक्ति में इनकी प्रवृत्ति बढ़ी-

राम सुनामा रैदास, कबीरा तहाँ पीपा कछु पाया।

पीपा साहब की भक्ति साधना-

पीपा साहब वैष्णव भक्ति के अनुयायी थे। इसमें सगुण निर्गुण भाव में कोई भेद नहीं है अपितु सगुनमय भाव है एवं देश- समाज सेवा का विधान है। ये निर्गुणोपासक थे परन्तु दाशरथि राम के सगुण रूप अथवा अवतारवाद के कबीर की भाँति निदंक नही थे- मंदिरों में जाकर कीर्तन द्वारा रामभक्ति का प्रचार करते थे-

भज सगुन निगुन करी इक भावा। ताते होई न भक्ति मंह भेवा॥
अगुन निगुन मनि धरिये न कोउ। ताकि भक्ति जु निश्चल होउ॥
मूर्ति देवी साती सुखदाई॥ पीपा परिचई, अनन्तदास॥

पीपा तो काठ और प्रस्तर की प्रतिमाओं में भी राम के दर्शन करते हैं-

काठ-पषाणं सबनि मैं केसौ ऐसा त्रिभुवन राया॥

इसके साथ ही एक सिद्ध साधक की तरह आत्मचिन्तन द्वारा पीपा कभी ब्रह्म

समाधिस्थ भी रहते थे-

मूरिष लोग न जानै कोउ। पीपा पूजै आतम देउ।
परमारथ की जानि रीति। निसदिन पारब्रह्म सो प्रीति।
भगति करै तन मन धन अरपै। सब ते निकर स्वाँग तै उरपै।।

रामभक्ति से ही पापों से मुक्ति मिलती है, इसी विश्वास के बल पर उन्होंने कहा-

पीपा मन हरष्यों फिरौ समुझै नहीं गंवार।
राम बिना आवै नहीं, पाणातणा पहाड़।।पीपावाणी।।

पीपा साहब की राम विषयक अनन्य भक्ति और उनके दार्शनिक दृष्टिकोण को कुछ समझ लेने पर उनकी उपलब्ध वाणी को उद्घृत करना अधिक उपादेय प्रतीत होता है क्योंकि उससे उनकी विचारधारा पर आगे विद्वानों को सोचने का अवसर मिलेगा।

(पीपावाणी)

साखी

पीपा थोड़े अन्तरे वाणी विगूची लेइ।
महाभाइ भाख्या घणा, तारयौ सुमयौ न कोई।।१।।
पीपा घोया नजरि का जती सती कौ होइ।
मन अरु कौण विगूचतां, बिरला शवै कोउ।।२।।
पीपा दास कहावन कठिन है, मन लै बांध्यो मानि।
सतगुरु सौं भेंटा नहीं, कलिजु लागौ कांनि।।३।।
पीपा परवै पवन कै, केता मिलिसी आई।
जब यदू परवा भांजिसी, तब पवन काया थैं जाई।।४।।
पीपा परचा आया तब जाणिये, मन मै संक न आणि।
सिर कै साटै हरि मिलै, तब लग सोंधा जांणि।।५।।
पीपा दोइन सौ मै भगत कै, ऊँट रु सालिगराम।
उह तौ चाहै पीपला, उह तुलसी का पान।।६।।
पीपा परसि पटंतरै, हुआ आदि धुरांह।
हीरैं हीरा बेंधिया, लागि जोति घरांह।।७।।
पीपा पर नारि सुंदरी, बिरला बंचै कोई।

नांऊ पेटि संचारियो, जैसो नां कि होइ ॥८॥
पीपा परनारी परतषिछुरी, बाहीन लीगै अंगि।
रावण सरीषा बहि गया, पंर नारी के संग ॥९॥
पीपा भान भंग गति मै, बुधिज कलिका देषि।
भुरकी लाइ भ्रम की, पंज्य मगता मै मोषि॥१०॥
पीपा कै पंजरि बस्यौ, रामानंद कौ रूप।
सबै अंधारा मिट गया, जब देष्या तत्त अनूप॥११॥
पीपा भन हश्ष्यौ फिरै, सममौ नहीं, गंवार।
राम बिना भाजै नही पापां तणां पहाड़ ॥१२॥

पीपा-वाणी

(1) राग सोरठी

तुम कलि तरवर छौं जन पंक्षी, अम्बरीष ध्र नारद सार्षी ॥टेक॥
जे तुम गिरवर तौ मैं मेरा, जे तुम चंदा राम तौ मैं चकोरा।
जे तुम तीरथ तौ मैं जाती, जे तुम देवा राम तौ मैं पाठी ॥१॥
जे तुम सरवर तौ मैं मंच्छा, जे तुम सुरही राम मैं बच्छा।
पीपा प्रणवै अंतरजानी, हौं तेरौ सेवगु तूँ मेरो स्वामी॥२॥

(2)

हरि कौ मइम न जानै कोई, जैसा भाव तिसि सिधि होई ॥टेक॥
घर बैठा तीरथ कौ धाकै, तीरथ जाइ पछितावै।
ता तीरथ चलिये मेरे जियरा, पुनरपि जनभि न आवै॥१॥
निंद्या करि करि जगत भुलाया, पौग्या तिनि हरि पाया।
काठ पषांण् सबनि मैं केसौ, ऐसा त्रिभुवन राया॥२॥
तीरथ ब्रत देव द्विज पूजा, शहि बेसासि विगूता।
पीपौ कहै परगट परमेसर, का जागै कौ सूत्ता ॥३॥

(3)

जियरा करि तै दोउ उपाका, जायै बैद मिलै राम राया॥टेक॥
षनि षनि मूली षइये, भूमि भूमि तीरथ न्हइये।
कोटि बैद संग फिरिये तोड़ देषतां मरिये॥१॥

कोई राजा कोऊ राणा, कोंउ पातिसाह सुलितानां।
बहु नाइक जौ सरियें, तउ देषतां मरिये।।२।।
ऊँचा कोट मरोडा, तहाँ नहीं धन थोड़ा।
बाँधि घोड़ा हाथी, तेरे संग न चलैं साथी।।३।।
पीपौ प्रणकै अन्तरजामी, तूँ जनामि म्हारो स्वामी।
तूँ मोरे जनम का पासा, हौं जुगि जुगि थारौ दासा।।४।।

(4)

मन रे कहा भूलौ मति हीणां न कौ तेरा न तू काहुकौ।
जहां उपज्या तहाँ षीणा ।।टेक।।
राज पाठ रमणी बहुतेरी, होते घोड़ा हाथी।
परमहंस जब कीया पयाणा, बिछरि गया सब हाथी।।१।।
जे नर छांह छत्र की चलते, दुनी मान मही राणां।
नग की करत सौ जालण लागे, तब तन भया बिराणां।।२।।
पीपौ कहै पदारथ पायौ, अंध न जानै कोई।
अम्रित नांव राम कौ मीठौ, पीउणा रस हम सोई।।३।।

(5) राग गौड़ी

देना नट गति नाचिं गये, दुनिया में केते।
भोपति भुवाल गवाल, भीर भसिक होते ।।टेक।।
जाके बाउ अगनि तेज पवन, चलते दल भारी।
लंकापति हारि गये, रावण से अहंकारी।।१।।
ममिता मति पलट दई, षेल पसारयौ भाया।
भूमि जेवड़ि साजि जैरू, बाजीगर डरबाया।।२।।
लेवां षौहणि षीजि गये, कैरूं पांड़ौ लड़ते।
वसुधा कीनि जीति पीया, दोऊ गरब करते।।३।।

(6)

जे कलि रैदास-कबीर न होते, जौ लोक बेद अरु कलजुग मिलकर।
भगति रसातलि देते ।।टेक।।
अगम निगम करकरि पांड़े, फल भागौत लगाया।

राजस तामस सातिग कथिकथि, इनाहि भरमि भुलाया॥१॥
कथतां सुणतां दोऊ भूलै, दुनिया सबै भुलाई।
कल्प ब्रिच्छ की छाया बैठे, क्यों कलपना जाई॥२॥
सरगुण कथि कथि मिष्ट पुवाया, काया रोग बढ़ाया।
निरगुण नीब पीयां नहिं गुरगमि, ता क्षै आढ़ै जीव बिकाया॥३॥
अंधल कुटिया अंध गही है, परत कूप कत धोरे।
अवरण- वरण दो तुरस अंजन, प्रांषि सबनि की फोरे॥४॥
हम से पतित कहा कहिं रहते, कौण प्रतीति मन धरते।
नाना वापी देषि सुँणी श्रवणां, बहु मारग अणसरते॥५॥
हरि हरि भगत भगति कण लीनां, त्रिविध रहनि खिति मोहें।
पाषंड सुषभेष बछु कंकर, ग्यान सूप करि सोहे॥६॥
त्रिगुण रहित भगति भगवतंहि बिरला कोउ पावै।
दया होइ जौ क्रिया नाथकी, तौ ज्ञाम कबीरहि गावै॥७॥
अपणीं भगति आप हरि काजै, भगति भेष धरि आया।
राम सुनामा रैदास-कबीरा, तहाँ पीछै कछु पाया॥८॥

(9) राग रामभरी

पूजा कौंण करौं जग जीनन, पाँति कौंण चहौड़ों।
संकल जीव मैं तूही बरतै, ताकौ मैं नहीं तोड़ौं॥टेक॥
जो दीसै सो निणासि जाइगा, अबिनासी नहि पाऊँ।
बेदां थापि देहू रे आण्यो, ताको मैं नहिं ध्यांऊं॥१॥
सालिगराम न पूजौं स्वामी, यहु तौ देव न होई।
सोई पूजौं जो रहे निरंतरि, अवगति लषै न कोई॥२॥
अकल निरंजन तूँ अविनासी, तेरी गति जाइ न जांणी।
पीपा पूजि पूजि जगुषीनां, को पाशर को पांणी॥३॥

(10)

मना भजिसि रे हरिचरणा, जीते चारयूँ वरणां ॥टेक॥
जास की जाति अछोत छीपा, व्यास में लेषिये सनकमैं पेषिये।
नाम की नामना सपत दीपा॥१॥

ताके ईद बकरीद गउरह बध करे, मानि मेष सहीद पीरा।
बाप ऐसी करी पूति ऐसो धरि, प्रथम परसिधनौ षंड कबीरा।।२।।
जास के कुढुँव ढेढ़ ढोर ढोवंत फिरे, अजहँ बाणारसी आस पासा।
षट क्रम विप्र डंडवत करै, प्रगट निसांणे रैदास दासा।।३।।
जपत जे जनां चरण कंबलापति, ता सभि तूलि नहिं अवरु कोई।
आदि तूँ एक अनेक है विस्तरयौ, आदि तूँ ऐक हौ अनेक सोई।।४।।
पूरि रहयौ सुजस सकल संसार में, कुण भारग गए षोज नहिं पाऊँ।
दास पीपौ कहै कलि काल मैं, भगत भगवंत भजि पार पाऊँ।।५।।

(9) राग आसावरी

तू मोरे तीरथ तू मोरे कासी, सेइये गोविंद राइ सरके षासी।।टेक।।
गगन गंगा भवन गंगा, त्रिबिधि गंगा, नाराइण संगा।
अठसठि तीरथ जो मन चंगा, नाम कै नाइं पषालिए अंगा।।१।।
काया मांहे अठसठ तीरथ, काया मांहे कासी।
काया मांहे कंबलापति, बैकुंठबासी।।२।।
जे ब्रह्म डे सोई प्यंड़े, जो षोजइ सो पावै।
पीपौ प्रणवै परम लन्त रे, सन्त गुर मिले तत लषावै।।३।।

(10)

ऐक अचंगा ऐसा पेष्या, सो मन रे कहूँ बिरले देष्या ।।टेक।।
नाद विंद थै रहै नियारा, सो पद परसत भया उजियारा।
त्रिकुटि मधे जोतिहि कहिये, साहू तै अगम अगोचर लहिये।।१।।
त्रिविधि धांन त्रिविधि थै रहिता, त्रिगुण अतीस गुनमि मैं रमिता।
जन पीपा सतगुर बलिहारी, जाकै सबद मिलै मुरारी।।२।।

(11)

क्या मेरा क्या तेरा मनां, जइसै पंषी तरवरि बसेरा रे मनां ।।टेक।।
बंद न होता सूर न होता, होता दिवस न राती।
ब्रह्मन न होता सूद्र न होता, करता कूँण भराती।।१।।

माइ न होती बाप न होता, करमन न होती काया।
श्रम्हें न होता तुम्हें न होता, कहौ कहाँ ये आया।।२।।
बरण न होता विचार न होता, मोह न होती माया।
पीपौ प्रणवै परम तत्त रे, सब जगु होती माया।।३।।

(12)

माधवे नट विद्या मांड़ी, सब जगु देष्या माया रांधी ।।टेक।।
ना कोउ पुरिष ना कोउ नारी, ना कौ दाता नां कौ भिषारी।
नां कौ रंक ना कौ भुवाला, ना कौ साहिब नां कौ पाला।
प्रणवत पीपा सब जग पेष्या, बाजीगर सब भीतरि पेष्या ।।१।।

(13)

भ्रमंतौ भ्रमंतौ तुझ सरणि आयौ देवा।
सरणाई राम बिंजै पंजर, राषि लै रमइया राइ ।।टेक।।
लोह को सांकलौ पाइ टूटै, हो धन चौधाइ।
मोह को सांकलौ कइसै छूटै, हों रमइया राइ।।१।।
देषि विद्या देवौ दांन, देषी काया क्रित भव्यांन।
साद्य संगति बिसरौ कहूँन, मांनै मांन।।२।।
देष्यो पुँनि देष्यो पाप, सकल जग देष्यौ संताप।
प्रणवत पीपौ नरहरि उधारि लै आपै आप ।।३।।



श्रीरामानन्दाचार्य के मत दर्पण में गाँधी का समाज दर्शन

प्रो. प्रभुनाथ द्विवेदी

जननीं जानकीं वन्दे श्रीरामस्मितभूषिताम्। यस्याः पादाब्जभक्तिस्तु भुक्तिमुक्तिप्रदायिनी ॥१॥
यतिवर्यं परं नौमि रामानन्दं जगद्गुरुम्। येन प्रवर्तिता भक्तेर्भुवि धारा सुधामयी ॥२॥
विरक्तोऽप्यनुरक्तोयः प्राणिमात्रस्य मुक्तये। तस्य कीर्तिप्रकाशेन भास्वराः सर्ववैष्णवाः ॥३॥
श्रीमठपीठाधीशं श्रीवैष्णवावनीशं वन्दे। श्रीमद्रामनरेशं यस्यानुग्रहः पुनात्यस्मान् ॥४॥
दिष्टवान् वैष्णवं धर्मं रामानन्दो जगद्गुरुः। मतं तस्य परिव्याप्तं लोके पश्चान्महीयते ॥५॥
तदालोकेऽधुना ह्यत्र गान्धिनस्तन्महात्मनः। चिन्तनं दर्शनं चैव सद्धर्माय विमृश्यते ॥६॥
एको रामावतारोऽस्त्यपरो रामपरायणः। द्वयोस्तु सङ्गता दृष्टिः सर्वभूतहितैषिणी ॥७॥
विरक्तः प्रथितः सोऽयमनसाक्तश्च सर्वदामुक्तियत्नो द्वयोरासीत्सत्याहिंसाप्रयोगतः ॥८॥
अतो भक्ताः प्रसीदन्तु सुधियो धर्मनिष्ठकाः। समाजो भावपूतःस्याद् विश्वं पश्यतु मङ्गलम् ॥९॥

भक्त नरसी मेहता का एक भजन[1] महात्मा गाँधी को सर्वातिशय प्रिय था। उस भजन का पूरा भाव यहाँ समुद्धृत करना चाहूँगा-

"वैष्णव तो उसी जन को कहना चाहिए, जो दूसरों की पीड़ा समझता हो, दूसरों के दुःख के समय उनका उपकार करता हो किन्तु उसके कारण मन में अभिमान न करता हो, जो समस्तलोक में सबकी वन्दना करता हो, किसी की भी निन्दा न करता हो, जो वाणी, कर्म और मन से दृढ़ निश्छल हो, उसकी जननी धन्य है। जो समदृष्टि हो, तृष्णा त्याग चुका हो, परस्त्री जिसके लिए माता सदृश हो, जिसकी जीभ असत्य बोल ही न सकती हो, जो पराए धन को कथमपि हाथ न लगाता हो, जिसको माया-मोह कभी न व्यापता हो, जिसके मन में दृढ़ वैराग्य हो, जो निरन्तर रामनाम की रट लगाता हो (राम नाम जिसकी जीभ की तालु से चिपक गया हो), उसके शरीर में समस्त तीर्थों का निवास है। जो लोभ को जीत चुका हो (जिसकी समस्त वासनाओं का शमन हो चुका हो), जो कपटरहित हो,

काम-क्रोध का निवारण कर चुका हो, नरसी कहता है कि उस (वैष्णव जन) का दर्शन करने से कुल (वंश) की इकहत्तर पीढ़ियाँ तर जाती हैं।''

मेरा अनुमान है कि गान्धीजी को यह भजन इसलिए प्रिय था कि इसमें उन्हें एक आदर्श मानव की झलक मिलती रही होगी। निःसंदेह इस भजन में सच्चे मानवीय गुणों, नैतिक मूल्यों अथवा यों कहें कि मानवता के समस्त उत्प्रेरक तत्वों का निराडम्बर सन्निवेश है। यदि कोई समाज इसे अविकल रूप में अपना ले तो वह प्रेम और श्रेय के सम्पूर्ण वैभव की ऊँचाइयों को छूने वाला आदर्श समाज बन सकता है। जब हम इस भजन-भाव के निकष पर महात्मा गाँधी के व्यक्तित्व की परख करते हैं, तो निश्चय ही उन्हें एक आदर्शोन्मुख वैष्णव जन के रूप में पाते हैं। 'आदर्शोन्मुख' इसलिए कि स्वयं उनका अपना मानना था कि ''आदर्श एवं व्यवहार में सदा अपूरणीय खाई रहेगी ही। यदि उसे उपलब्ध करना सम्भव हो जाये तो वह आदर्श रहेगा ही नहीं।''[२]

भक्त नरसी मेहता का पूर्वोद्धृत भजन वैष्णव जन का जो स्वरूप वर्णित करता है, निश्चय ही वह जगद्गुरुश्रीरामानन्दाचार्य के द्वारा प्रतिपादित वैष्णवाचार (अथवा वैष्णवधर्म) से अनुप्राणित है। उनके द्वारा प्रणीत 'श्री वैष्णव मताब्जभास्कर' का अनुशीलन करने से यह तथ्य सर्वथा स्पष्ट हो जाता है। यद्यपि उनका यह ग्रन्थ सम्प्रदाय-दृष्टि से वैष्णवधर्म में दीक्षित साधु-सन्तों एवम् आचार्यों की आचारसंहिता है, अनुशासननियमावली है, तथापि इसका साधारणीकरण करने से वह एक सज्जन निर्मित मन्त्र मञ्जूषा बन जाता है।

महात्मा गाँधी की ईश्वर और राम विषयक अवधारणा से हम अपने कथ्य का श्रीगणेश करते हैं। ईश्वर और राम सम्बन्धी उनकी अवधारणा अत्यंत विशिष्ट है। यदि हम यह कहें कि यह उनके समाजदर्शन की मूलभित्ति है तो यह कथन लेशमात्र भी अनुचित न होगा। ईश्वर और राम विषयक उनकी मान्यता समाज से नास्तिकता का उन्मूलन करने की दिशा में एक प्रशंसनीय प्रयत्न है। ईश्वर के सम्बन्ध में उनका यह कथन ध्यातव्य है- ''एक अपरिभाषेय, रहस्मय शक्ति है जो सर्वव्यापी है।[३] यद्यपि मैं उसे देख नहीं पाता किन्तु उसका अनुभव करता हूँ। वह

अदृश्य शक्ति अपने को आभासित करती है।...वह इन्द्रियों का अतिक्रमण करती है किन्तु एक सीमा तक यह सम्भव है कि इस ईश्वर के अस्तित्व को तर्क द्वारा अनुमित कर सकें।[४] वे ईश्वर की सत्ता के पक्ष में तर्क देते हैं कि सामान्यतया किसी भी देश के साधारणजन को ज्ञात नहीं रहता कि उसका शासक कौन है किन्तु इतना वे अवश्य जानते हैं कि वे किसी न किसी के शासन में हैं अवश्य। अत: मुझे आश्चर्य नहीं होना चाहिए यदि मैं राजाओं के राजा ईश्वर की सत्ता का अनुभव न कर सकूँ। उनकी दृष्टि में सत्य या ईश्वर एक व्यवस्थित सम्पूर्ण धर्म है। ईश्वर सत्यमेव आदर्श धर्म है और धर्म ही ईश्वरत्व है।[५] महात्मा गाँधी का कथन है-

"क्योंकि उसे मैं बहुत कम जान पाया हूँ, केवल इसलिए मैं धर्म या धर्मप्रदाता को अस्वीकार नहीं कर सकता।"[६]

कभी-कभी गाँधी जी ईश्वर के प्रति अपने विश्वास को भावावेशमयी भाषा में प्रकट करते थे- "मेरे लिए ईश्वर सत्य या धर्म है, ईश्वर सदाचार एवं नैतिकता है, ईश्वर निर्भयता है। ईश्वर ज्योति एवं जीवन का स्रोत है तथापि वह इन सबसे ऊपर है, परे है। ईश्वर हमारा अन्तर्विवेक है। नास्तिकों की नास्तिकता भी वही है।"[७]

गांधी जी भोजन के बिना रह सकते थे किन्तु ईश्वर के बिना नहीं। एकबार स्विटजरलैण्ड में इण्टरनेशनल वालण्टरी सर्विस फार पीस के प्रतिष्ठाता पियरे सेरेलावा ने उनसे पूछा- "इस युग के नेता के लिए आप किन गुणों को आवश्यक समझते हैं?" गांधी जी का उत्तर था-"चौबीसों घण्टे प्रतिक्षण ईश्वर की अनुभूति। मैं आपसे कहता हूँ कि यदि सारा संसार ईश्वर को अस्वीकार करे तो भी मैं अकेला उसका साक्षी रहूँगा। यह मेरे लिए सतत चमत्कार है।"[८] यद्यपि वे ईश्वर को साकार नहीं मानते थे तथापि उनका ईश्वर विषयक अधोलिखित कथन कहीं न कहीं उनके अन्तर्मन में प्रविष्ट ईश्वर की साकारता को अभिव्यक्त करता है-

"ईश्वर को पथप्रदर्शक मानकर उसके साथ मुझे चलना है। वह एक ईर्ष्यालु स्वामी है। वह अपने अधिकार में किसी को भागीदार नहीं बनने देगा। अत: उसके सम्मुख सम्पूर्णरूपेण दीन और नि:स्व होकर पूर्ण आत्मसमर्पण की भावना लेकर

उपस्थित होना चाहिए तभी वह तुम्हें सारे संसार के समक्ष खड़ा होने में समर्थ बनाता है और अनिष्ट से तुम्हारी रक्षा करता है।[९]

महात्मा गाँधी द्वारा नित्य रामनाम सङ्कीर्तन किये जाने के कारण और श्री रामचरितमानस के प्रति उनके अतिशय प्रेम को देखकर लोग बहुधा ऐसा समझ सकते हैं कि वे साकार ईश्वर में विश्वास करते थे। कुछ लोग ऐसा भी मान सकते हैं कि उनके श्रद्धास्पद राम अयोध्या नरेश दशरथात्मज राम से अभिन्न हैं। महात्मा गाँधी ने अपने हृदय में बैठे हुए राम के सम्बन्ध में स्वयं कहा है- "मेरे राम, हमारी प्रार्थनाओं के राम, अयोध्यानरेश दशरथ के पुत्र ऐतिहासिक राम नहीं हैं। वे शाश्वत, अजन्मा, अद्वितीय हैं। केवल उन्हीं की मैं पूजा करता हूँ।"[१०]

वस्तुत: गांधी जी के जीवन पर श्रीरामचरितमानस (गोस्वामी तुलसीदास) का अमिट प्रभाव पड़ा था। १८८५ई. में जब गांधी जी के पिता जी गम्भीर रूप से अस्वस्थ थे तब उनके घर आकर लाधा महाराज नामक एक साधुपुरुष श्रीरामचरितमानस का पाठ किया करते थे। उस समय वहाँ गांधी जी नियमित रूप से उपस्थित रहते थे। बाद में उन्होंने इस पवित्र ग्रन्थ का स्वयम् अध्ययन किया और इसे भक्ति साहित्य का सर्वश्रेष्ठ ग्रन्थ बताया। उन्हें इस ग्रन्थ के अध्ययन से यह अनुभूति हुई कि सत्य सम्पूर्ण मेधा की आधारशिला है और राम-नाम द्वारा अशिक्षित भी अपना शुद्धीकरण करके आत्मोद्धार कर सकते हैं।[११] गोस्वामी जी ने भी सगुणोपासना-क्रम में राम को शाश्वत ब्रह्म का अवतार तो माना है किन्तु राम के निराकारत्व की भी स्थापना भीं की है। रामचरितमानस में प्राय: सर्वत्र राम का यह स्वरूप वर्णित है।[१२] अत: महात्मा गाँधी द्वारा राम को शाश्वत, अजन्मा और अद्वितीय देखा जाना असंगत नहीं है। गांधी जी सबको राम-नाम लेने की सलाह दिया करते थे। उनके लिए सिद्धि का सिद्ध मंत्र था राम नाम। राम नाम में उनकी निष्कपट गहरी आस्था थी। यही कारण था कि अपनी अन्तिम साँस के साथ उन्होंने 'हे राम' का उच्चारण किया था।

यहाँ जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य के 'ईश्वर' और 'राम' सम्बन्धी मत का अवलोकन करना समीचीन होगा। जगद्गुरु के अनुसार 'ईश्वर' और श्रीराम अभिन्न

हैं। जगद्गुरु रामानन्द 'ईश्वर' का निरूपण करते हैं-

'विश्वं जातं यतोऽद्धा यदवितमखिलं लीयते यत्र चान्ते
सूर्यो यत्तेजसेन्दुः सकलमविरतं भासयत्येतदेषः।
यद्भीत्या वाति वातोऽवनिरपि सतुलं याति नैवेश्वरो ज्ञः
साक्षी कूटस्थ एको बहुशुभगुणवानव्ययो विश्वभर्ता।।'[१३]

अर्थात्, यह अखिल सूक्ष्म-स्थूल-जड़-चेतनात्मक सारा संसार जिससे साक्षात् उत्पन्न होता है, पालित होता है और अन्ततः लीन हो जाता है, जिसके प्रकाश से सूर्य, चन्द्र और सकल जगत् निरन्तर प्रकाशित होता है, जिसके भय से वायु प्रवाहित होता है और पृथ्वी भी अधःपतित नहीं होती, वह एकमात्र (अद्वितीय), विश्व को धारण-पोषण करने वाला, अनेक शुभ-गुणों से युक्त, अव्यय स्वरूप चेतन, कूटस्थ, साक्षी ईश्वर है।

इसीप्रकार, जगद्गुरुरामानन्दाचार्य के आराध्य श्रीराम हैं-

'श्रीमानर्च्यः शरण्यो बहुविधविबुधैर्योगिगम्याङ्घ्रिपद्मोऽ
स्पृश्यः क्लेशादिभिः सत्समुदितसुयशाः सूरिमान्यो वदान्यः।
शश्वच्छ्रीरामचन्द्रः सुमहितमहिमा साधुवेदैरशेषै-
र्निर्मृत्युः सर्वशक्तिर्विकलुषविजरो गीर्मनोभ्यामगम्यः।।'[१४]

अर्थात् श्रीसम्पन्न, शरणागति के योग्य, विद्वानों और योगियों द्वारा प्राप्य चरणकमल वाले, अविद्या आदि क्लेशों से सर्वथा स्पर्शरहित, समुद्गीतसत्कीर्ति वाले, मनीषियों के आराध्य माननीय, उदारतया चतुर्वर्गफलप्रदाता, निर्मल, विकार रहित, अजर-अमर, सभी वेदों के द्वारा प्रथित महिमाशाली, शाश्वत (अजन्मा) सर्वशक्तिसम्पन्न श्रीरामचन्द्र वाणी और मन के द्वारा अगोचर हैं।

ईश्वर और राम के सम्बन्ध में जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य के मत के आलोक में महात्मा गांधी की एतद्विषयक मान्यता की आलोचना करने पर यह ज्ञात होता है कि गाँधी जी की मान्यता निश्चय ही जगद्गुरु के मत से प्रभावित है। मैं यह तो नहीं कह सकता कि महात्मा गांधी ने जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य के साहित्य का अनुशीलन किया था अथवा उनके उपदेशों को किन्हीं से सुना था, किन्तु इतना

अवश्य कह सकता हूँ कि उन्होंने श्रीरामचरितमानस का गहन अध्ययन और श्रवण किया था। गोस्वामी जी जगद्गुरुरामानन्दाचार्य के प्रशिष्य माने जाते हैं और श्रीरामभक्त सन्तशिरोमणि तुलसीदास का प्रतिपाद्य जगद्गुरु के मत का उपबृंहण ही है। अत: यदि गांधी जी के 'ईश्वर' और 'राम', जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य के आराध्य ईश्वर-राम से मिलते हैं तो इसमें कोई आश्चर्य नहीं।

राम के प्रति महात्मा गाँधी की अनन्य आस्था, 'रामराज्य' की उनकी कल्पना में भी प्रतिबिम्बित होती है जिसमें वे भारत के लिए एक आदर्श समाज और आदर्श शासन प्रणाली के पक्षधर थे। उनकें विचार और कार्य का क्षेत्र केवल राजनीति न होकर पूरा मानव समाज था। उनके समाज-दर्शन का फलक सुविस्तृत है। उनका 'सर्वोदय' और 'समभाव' वस्तुत: 'सर्वे प्रपत्तेरधिकारिणोमता:' का भावानुवाद ही है। उनका दृढ़ विचार था कि ईश्वर सबका है और सब ईश्वर के हैं, अत: किसी को भी देवमन्दिरों में प्रवेश से वञ्चित नहीं किया जाना चाहिए।

'धर्म' गाँधी जी के जीवन, दर्शन और कार्य का केन्द्र बिन्दु था। उनका विश्वास था कि कोई भी व्यक्ति धर्म के बगैर जीवित नहीं रह सकता। उनका जन्म और लालन-पालन एक कट्टर धार्मिक व शिक्षित वैष्णव परिवार में हुआ था।[१५] उन्होंने श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीरामचरितमानस को हृदय से अपनाया था। वे स्वयं जिज्ञासु और तत्त्वचिन्तक थे और मानवता के व्यापक हित में उनके चिन्तन की दिशा थी। अत: वे नैतिकता और मानवता के अभाव में धर्म को सारहीन मानते थे। उनका कहना था कि धर्म किसी विशिष्ट मत या सिद्धान्त का नाम नहीं है। धर्म प्रत्येक मानवीय प्राणी में मौजूद आत्मा का गुण है। धर्म आत्मानुभूति का साधन है। जिसका पालन दैनिक जीवन में न किया जा सके, वह धर्म नहीं है।[१६] वस्तुत: धर्म मनुष्य को ईश्वर से तथा मानव को मानव से प्रेम के अटूट बन्धन में बाँधता है। गांधी जी का कहना था- "धर्म से अलग राजनीति पूर्णत: अर्थहीन है।...जो यह कहते हैं कि धर्म से राजनीति का कोई लेना-देना नहीं है, वह यह नहीं जानते कि धर्म का अर्थ क्या है?"[१७]

जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य कहते हैं कि जितेन्द्रिय, आत्मज्ञ, सदाचारपरायण,

शुभकर्म कर्ता मनुष्य को संसार का निवारण करने में समर्थ श्रीराम का सर्वोत्तम नाम संकीर्तन करना चाहिए-

"जितेन्द्रियश्चात्मरतो बुधो सत्सुनिश्चितं नाम हरेरनुत्तमम् ।
अपारसंसारनिवारणक्षमं समुच्चरेद्वैदिकमाचरन् सदा।"[१८]

गांधी जी के राम-नाम स्मरण का रहस्य जगद्गुरु के उपर्युक्त उपदेश में स्पष्ट है। श्री वैष्णवमताब्जभास्कर में वैष्णवधर्म का जो स्वरूप निरूपित है उसमें सत्य, अहिंसा और अपरिग्रह पर विशेष बल देते हुए आडम्बररहित दान, तप, तीर्थ सेवन और श्रीरामनाम जप का ग्रहण किया गया है-

'दानं तपस्तीर्थनिषेवणं जपो न चाऽस्त्यहिंसा सदृशं सुपुण्यकम् ।
हिंसामतस्तां परिवर्जयेज्जनः सुधर्मनिष्ठो दृढ़धर्मवृद्धये।।
श्रयन्ति धर्मास्तु तथा पृथक् स्थितान् सुवक्रगाः सिन्धुमिवापि निम्नगाः।
काष्ठस्थवह्नेरिव घातको हरेश्चराचरस्थस्य च जन्तुहिंसकः ।।
जलस्थलोत्पन्नशरीरहिंसया विवर्जयेन्मांसमुदारधीःसदा।
दयापरोऽधेगतिहेतुरुपयाऽचिराय लभ्यं भवभीनिवृत्तये।।
न स्त्रियं परिगृह्णीयद् विरक्तो वैष्णवः क्वचित् ।
मन्वादिस्मृतिशास्त्रेषु तन्निषेधस्य शासनात् ।।
समर्प्य कर्माणि शुभानि वैष्णवो रामाय भक्ष्यं च निवेद्य भक्षयेत् ।
अहर्दिवं वीतभयं समुत्तमं विमुक्तधीः स्वाधनिवृत्तिकामतः।।[१९]

महात्मा गाँधी जी ने सामाजिक वैशद्य के लिए अपने आश्रमवासियों द्वारा दृढ़तापूर्वक पालन करने हेतु व्रतों का विधान किया था- सत्य, ब्रह्मचर्य, रसनासंयम, अस्तेय, अपरिग्रह, अभय, अस्पृश्यतानिवारण, जीविकार्य सात्त्विक श्रम, सहिष्णुता, विनम्रता और स्वदेशी।' निःसन्देह जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य द्वारा प्रतिपादित वैष्णवधर्म (यथोपरि निर्दिष्ट) सिद्धांत और उपदेशों में 'स्वदेशी' को छोड़कर सबका सन्निवेश है। वर्तमान समाज-व्यवस्था में सर्वसामान्य द्वारा इन व्रतों का पूर्णतः पालन किया जाना सम्भव नहीं है। किन्तु इस विषय में गान्धी जी का उदारमत स्पष्ट है- "व्रत की दीक्षा लेने का अर्थ यह नहीं है कि हम बिल्कुल आरम्भ से ही उसका पूर्णतः पालन करने में समर्थ हैं किन्तु इसका इसका यह अर्थ

अवश्य है कि विचार, वाणी और कर्म द्वारा उसे निभाने का सतत एवं निष्ठापूर्ण प्रयास हमें करना ही चाहिए।"[२०]

स्वामी रामानन्द द्वारा प्रतिपादित धर्म में अहिंसा का विशिष्ट स्थान है। महात्मा गाँधी अहिंसा व्रती सत्याग्रही थे। उनके अनुसार समस्त जीवों के प्रति दुर्भावना का तिरोभाव ही अहिंसा है।[२१] अहिंसा कायरता के लिए आवरण नहीं है, यह वीर का सर्वोत्कृष्ट गुण है।[२२] उनकी मान्यता थी कि अहिंसा व्यक्तिगत धर्म नहीं अपितु व्यक्ति और समाज के लिए आध्यात्मिक एवं राजनीतिक आचरण का पथ है। उनका विश्वास था कि लोकतांत्रिक समाज-व्यवस्था के लिए अहिंसा अनिवार्य है। इस प्रकार, गांधी जी की दृष्टि में अहिंसा का आशय केवल प्राणिवध न करने से ही नहीं है अपितु अहिंसा उनके समाजदर्शन का एक प्रमुख स्तम्भ है और जिसका सीधा सम्बन्ध मनुष्य की अन्तर्भावना से है।

इसी तरह, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह, अस्पृश्यता निवारण और जीविकार्य सात्त्विकश्रम- इन सबका मूल उत्स, गान्धी के समाज दर्शन के सन्दर्भ में, सनातन वैदिक धर्म ही है जिसे व्यावहारिक धरातल पर जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य ने निरूपित किया है। हमने 'स्थालीपुलाकन्याय' से इनका सङ्केत मात्र किया है। श्रमसिद्धान्त के प्रत्यक्ष उदाहरण तो यहाँ यह कहना असंगत न होगा कि जगद्गुरु श्रीरामानन्दाचार्य और महात्मा गान्धी, दोनों ही क्रान्तिकारी विचारों वाले थे। दोनों महानुभावों ने शास्त्र और परम्परा का आश्रयण किया किन्तु समाज को अध्यात्मोन्मुख करने के लिए उन प्राचीन उपयोगी सिद्धांतों में स्वोपज्ञ प्रज्ञा का विनिवेश किया। सामाजिक पुनरुत्थान में दोनों के ही प्रदेय महनीय और विश्वसन्दर्भ में उपादेय हैं। यदि महात्मा गाँधी के समग्र समाजदर्शन का आलोकन किया जाय तो किसी न किसी रूप में वहाँ हमें जगद्गुरु रामानन्द में मिलेंगे ही।। इति शम् ।।

संदर्भ

1. वैष्णव जन तो तेने कहिए जो पीर पराई जाणे रे,
पर दुःखे उपकार करे तोये मन अभिमान न आणे रे।
सकल लोक माँ सहुने वन्दे निन्दा न करे केनी रे,
वाच काघ मन निश्चल राखे धन धन जननी तेनी रे।

समदृष्टि ने तृष्णा त्यागी परतिय जेने मात रे,
जिह्वा थकी असत्य न बोले पर धन न झाले हाथ रे।
मोह माया व्यापे नहि जेने दृढ़ वैराग्य जेना मनमाँ रे,
राम नाम सूँ ताली लागी सकल तीरथ तेना तनमाँ रे।
वण लोभी ने कपट रहित थे काम क्रोध निवार्या रे,
मणे नरसयो तेनुं दरसणकरता कुल एक तेरेंतार्यां रे।।

2. 'हरिजन', 14 अक्टूबर, 1939 ई., पृ. 303
3. तुलनीय - 'ईशा वास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत् ।'' -ईशोपनिषद, 1
4. महादेव प्रसाद : महात्मा गाँधी का समाज दर्शन, हरियाणा साहित्य अकादमी, पृ. 10
5. तुलनीय - 'आचार प्रभावो धर्मः, धर्मस्य प्रभुरच्युतः। नहि सत्यात्परो धर्मः।'
6. महादेव प्रसाद : महात्मा गाँधी का समाज दर्शन, पृ. 11
7. वही, पृ. 11
8. महादेव प्रसाद : महात्मा गाँधी का समाज दर्शन, पृ. 11
9. वही, पृ. 11-12
10. 'हरिजन', 28 अप्रैल, 1946ई.
11. गांधी : एक अध्ययन, सम्पादिका - सुरजीत कौर जौली, कन्सेप्अ पब्लिशिंग कम्पनी, नयी दिल्ली, 227ई., पृ. 259 (गांधी और धर्म)
12. (क) सीय-राममय सब जग जानी। करउँ प्रनाम जोरि जुग पानी।। (रा.च.भा., बालकाण्ड)
    (ख) राम ब्रह्म व्यापक जग जाना। परमानन्द परेस पुराना।।
    पुरुष प्रसिद्ध प्रकास निधि, प्रगट परावर नाथ।
    रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ, कहि सिव नायउ माथ।। (वही, बालकाण्ड)
    (ग) तात राम कहुँ नर जनि मानहु। निर्गुन ब्रह्म अजित अज जानहु।। (वही, किष्किंधा काण्ड)
    (घ) तात राम नहिं नर भूपाला। भुवनेस्वर कालहु कर काला।। (वही, सुन्दरकाण्ड)
13. श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर, 1.8

14. वही, 1.9
15. गाँधी - एक अध्ययन, सम्पादिका - सुरजीत कौर जौली, पृ. 357
16-17 वही, पृ. 358 एवं पृ. 360
18. श्रीवैष्णवमताब्जभास्कर, 4.59
19. वही, 5.2, 3,4,5 एवं 10
20. महादेव प्रसाद : महात्मा गाँधी का समाज दर्शन, पृ. 56-57
21. यंग इंडिया, 9 मार्च, 1920ई.
22. वही, 12 अगस्त, 1926ई.



जगद्गुरु रामानन्द से श्रीरामनरेशाचार्य तक

डॉ. अशोक कुमार सिंह

वे संत, महात्मा या दार्शनिक महान् होते हैं जो अपने विचारों को हवा और पानी की तरह सहज बना देते हैं। अपनी उपलब्धि को जन-जन की उपलब्धि बना देते हैं। लगता है हम उनको युगों से जानते-पहचानते हैं। वे हमारी रगों में रक्त की तरह प्रवाहित होने लगते हैं। हमारी धड़कन बन जाते हैं। एक ऐसे ही महान संत थे स्वामीरामानन्द जिनका प्रभाव हमारे आध्यामिक जीवन के साथ-साथ हमारे सामाजिक जीवन पर भी उतना ही दिखाई देता है।

सदियाँ बीत गईं, लेकिन जन मन में यह नाम रंचमात्र भी विस्मृत नहीं हुआ। कितने शासक आए, सल्तनतें आईं लेकिन इस महापुरुष की ज्योति तनिक भी धूमिल नहीं हुई। कोई तो बात होगी कि हस्ती मिटती नहीं हमारी। अगर हम गहराई में डूबकर इसका उत्तर खोजने का प्रयत्न करें तो बात बहुत जल्दी स्पष्ट हो जाएगी।

मैं समझता हूँ कि किसी भी आध्यात्मिक साधना का जो सबसे बड़ा गुण होता है वह है अपनी संकीर्णता या सीमा का अतिक्रमण करना। उसे असीम तक पहुँचाना। उसकी आकांक्षा होती है कि वह इस भौतिकता या सांसारिकता को लांघ जाय। लेकिन यह उसकी मजबूरी भी होती है कि बिना संसार के आलंबन के चेतना अपने को अभिव्यक्त ही नहीं कर सकती। इसलिए यह सांसारिकता और आध्यामिकता अन्योन्याश्रित हैं। अर्थात् कोई आध्यात्मिक मात्र आध्यात्मिक होकर रह ही नहीं सकता। उसके साथ एक सामाजिकता भी मिलती है। महान् आध्यात्मिक उपलब्धियाँ महान् समाजिक परिवर्तन को जन्म देती हैं।

जब कोई सुनने वाला पहली बार सुनता है- 'भक्ति द्राविड ऊपजी लाए रामानन्द' तब इसे सुनते ही उसका ध्यान जाता है स्वामीरामानन्द पर। कौन थे ये रामानन्द, जिन्हें भक्ति का भगीरथ कहा गया है। क्योंकि लोकोक्ति में उतरना कोई मामूली बात नहीं होती। इन्हीं बातों से स्वामी जी की महानता का पता चलता है। जब हम इस पद के और गहराई में उतरते हैं तब हमें एक दूसरी बात का पता चलता है। भक्ति द्राविड़ ऊपजी। क्या भक्ति का जन्म द्रविड़ देश में हुआ? दिनकर जी ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक संस्कृति के चार अध्याय में अनेक विद्वानों का उद्धरण देते हुए अपनी बात कहने का प्रयास किया है। एक प्रवृत्ति के रूप में भक्ति तो

अनादि है। पूर्व वैदिक काल से चली आ रही है। मनोविज्ञान कहता है यह एक मूल प्रवृत्ति है। जब हम अपने को ही सब कुछ मान लेते हैं। हमारा अहंकार कसता है। उसमें अँकड़ आ जाती है तो अहंकार कहा जाता है और जब वही किसी आराध्य के चरणों में विसर्जित हो जाता है, समर्पित हो जाता है तब वह भक्ति बन जाता है। इसका मतलब है कि जिस द्राविड़ भक्ति की बात की जा रही है वह भक्ति इस भक्ति से कुछ विशेष रही होगी। उसी प्रकार विशेष जैसे सभी नदियों को गंगा कहा जाता है लेकिन भागीरथी तो विशेष नदी को ही कहेंगे। ऐसे ही जिस भक्ति का जन्म द्राविड़ देश में हुआ वह सभी भक्तिमार्गों से मेल खाते हुए भी एक विशेष लक्षणों वाली भक्ति है। निश्चित रूप से उसका जन्म दक्षिण में हुआ होगा जिसे जगद्गुरु रामानन्द द्राविड़ देश से दूसरे देश में ले आए। सवाल है तब स्वामी रामानन्द की वह भागीरथी किस प्रकार से अब तक प्रवाहित है?

इस बात को भुलाया नहीं जा सकता कि जगद्गुरु रामानन्द एक महान ज्ञानी और वैष्णवाचार्य थे। उनका सनातन धर्म के सभी शास्त्रों पर अधिकार था। ब्रह्म सूत्र से लेकर ऐसी अनेक स्मृतियाँ थीं जिनके विचारों और प्रभावों से स्वामीजी भलीभाँति परिचित थे। किसी भी शात्रज्ञ के लिए इस दायरे से बाहर जाकर सोचना और प्रयोग करना एक समय तक लगभग असंभव जैसा कार्य था। ऐसे में स्वामीजी के लिए एक ऐसे मार्ग की खोज करना कितना दुष्कर हो सकता था। उसकी कल्पना की जा सकती है। इससे हटकर कहने के लिए बड़े तप, साधना और हैसियत की दरकार थी। लगभग अपने अस्तित्व को दांव पर लगाने तक का खतरा उठाने की हिम्मत चाहिए थी। अब तक का द्राविड़ेतर प्रदेश अपने पूववर्ती विचारों के आगे नतमस्तक था। किसी ने इस यथास्थिति से निकलने का साहस नहीं दिखाया। लगता है द्राविड़ देश की प्रेरणा या शक्ति पाकर स्वामी रामानन्द एक दिन वह कर दिखाये। अपना सब कुछ दाँव पर लगाकर यह घोषणा कर ही डाली। अब किसी के कान में पिघला शीशा नहीं डाला जाएगा। किसी की जीभ नहीं काटी जाएगी। सभी प्रपत्ति के अधिकारी हैं। जात-पांत पूछै नहि कोई। हरि को भजै सो हरि का होई। वह सकरा दरवाजा जो द्विजों के लिए ही खुला था आज वैश्य ,शूद्र ,मुसलमान,स्त्री सबके लिए खुल गया। उस पर लिख दिया गया रैदास, कबीर, धन्ना, संत, सुरसुरी, पद्मावती, आओ सबका स्वागत करने के लिए यह रामानन्द वाहे फैलाए खड़ा है। यह था तो अध्यात्म और भक्ति का द्वार लेकिन इस द्वार ने एक महान सामाजिक क्रान्ति को जन्म दिया। यही थी स्वामीजी की द्राविड़ भक्ति जिसके प्रेम ने समाज में किसी वर्ण या वर्ग को पराया या अछूत नहीं रहने दिया।

कट्टर सनातनी समाज तमाशा देखता रह गया और यह भक्ति गंगा सारे बंधनों को तोड़कर इस धरती के सभी दलितों, पिछड़ों, वंचितों को कृतार्थ करती चली गई।

इस भक्ति को जनमन के और निकट लाने के लिए स्वामीजी ने गरुड़ पर सवार आकाश गामी, चक्रसुदर्शनधारी लक्ष्मी नारायण से प्रार्थना की। हे सत्यनारायण, लक्ष्मी नारायण अब तुम अपने राम रूप में जैसे सहज ही शबरी, केवट, कोलभीलों के घर आकर विराजते थे हमारे हृदय में भी विराजो। तुम सबके राम बनो।

उन्होंने अपना ठिकाना गंगा के पंचगंगा घाट पर बनाया। पंचगंगा वह स्थान है जहां माना जाता है कि गंगा, जमुना, सरस्वती, किरणा और धूतपापा नामक पांच नदियां आकर मिलती हैं। मानो स्वामीजी संदेश देना चाहते थे कि द्राविड़ भक्ति वह भक्ति है जिसमें गंगा, जमुना, सरस्वती जैसी शास्त्रीय भी और किरणा तथा धूतपापा जैसी लोक विश्रुत अनाम भी मिले हुए हैं। पंच गंगा से आगे की भक्ति गंगा लोक से लेकर वेद तक जितने भी हैं किसी को छोड़कर नहीं आगे बढ़ेगी।

बहुत दिनों तक स्वामीजी की यह भक्तिधारा निर्वाध बहती रही। उसके इस संदेश से दिगदिगंत गूँजता रहा। लेकिन कुछ काल के बाद एक बार फिर उसी संकीर्णता ने जोर पकड़ा। उसका कोप भाजन बना पंचगंगा। एक युग का प्रवर्तन करने वाला यह जाग्रत आलोक केन्द्र धीरे-धीरे काशी में गंगा के स्थान पर सरस्वती की तरह अंत: सलिला बनता चला गया। परन्तु इसी के साथ एक बड़ी बात यह भी दिखाई देने लगी कि इसी के कोख से पैदा कई ऐसे सूरज-चांद सितारों के प्रकाश से सारे देश का आकाश जगमगाने लगा। देश दुनिया की निगाहों से ओझल होता पंचगंगा लोगों की निगाहों के बजाय उनके हृदय में उतरता चला गया। जहाँ-जहाँ कबीर, रैदास, धन्ना, तुलसी, सेन की चर्चा पहुंची उनके साथ स्वामी रामानन्द और पंचगंगा की सुगंध भी पहुँचती रही।

स्वामी जी के इस महान्, अनुपम, योगदान को न कभी भुलाया जा सकता है न मिटाया जा सकता है। वे अमर हैं और अमर रहेंगे। इन सबके बावजूद हम हाथ पर हाथ रखकर तो नहीं बैठ सकते। आज हम जिस मोड़ पर खड़े हैं उसने एक नये प्रकार की चुनौती हमारे समक्ष प्रस्तुत की है। स्वामीजी के समय जीवन के समक्ष जो चुनौती थी उसका समाधान एक धार्मिक या आध्यात्मिक चिंतन के द्वारा प्रस्तुत किया जा सकता था। लेकिन आज की समस्या का समाधान केवल धर्म की परिधि में नहीं आता दिखाई देता। आज हर एक को अपनी अलग पहचान चाहिए। सब एकाकी रहना चाहते हैं। संयुक्त कोई नहीं। हिन्दू, सिख, जैन, बौद्ध

में घर बँट चुका है। दलित कह रहे हैं अब हमे भी अलग करो क्योंकि दलित और सवर्ण धर्म दोंनों अलग-अलग धर्म हैं। कबीर अलग हैं रैदास अलग हैं। कल तक अलग रहना मजबूरी थी। सामाजिक वंचना थी। स्वामी रामानन्द ने इस वंचना से मुक्ति दिलाई। आज हम इस बिखराव से कैसे बचें। अब यह एक बड़ा सवाल है। तब राम काज था समाज के छूटे हिस्से को जोड़ना आज का रामकाज है इस विखण्डन को रोकना।

इस विकट स्थिति में भी हमें पूर्ण विश्वास है कि ज०गु० रामानन्द ही हमारी आशा के केन्द्र हैं। क्योंकि उस महान परंपरा की मशाल जिस तेजस्वी संत के हाथ में है उसकी शक्ति पर इस पूरे देश को विश्वास है। वे सारे देश को जोड़ने के अभियान पर निकल पड़े हैं। पूज्य श्रीरामनरेशाचार्य में हर टूटे हुए को जोड़ लेने और हर रूठे हुए को मना लेने की अद्भुत प्रतिभा दिखाई देती है। वे 'राम काज' को 'आम काज' से अलग नहीं देखते। उनके निकट आकर अभेद्य राजनैतिक दीवारें भी भहरा जाती हैं। उनका प्रेम किसी को पराया मानता ही नहीं। उनके लिए कोई भी सीमा रेखा नहीं इसलिए कोई भी उनके लिए दूसरा हो ही नहीं सकता।

उनके प्रेम में वह ताकत है जिसके आगे आज नहीं तो कल हर विलगाव को पराजित होना होगा। वे स्वामी रामानन्द के उत्तराधिकारी ही नहीं मुझे उनके वरदपुत्र दिखाई देते हैं। क्षणभर उनके पास बैठना मन के हर कलुष को धो देना है। वे पारस हैं। प्रेम के पारस। जिसे छू दें चमक उठे।



रामभक्तिधारा का अनुपम केन्द्र : पालियादधाम (भावनगर) गुजरात

डॉ. उदय प्रताप सिंह

रामभक्तिधारा की मंदाकिनी का अविरल प्रवाह भारत वर्ष के अधिकांश क्षेत्रों में सनातन काल से अद्यावधि प्रवाहित है। उत्तर-दक्षिण, पूरब-पश्चिम सर्वत्र राममयता की यह धारा भक्तों, संतों, आचार्यों तथा जन सामान्य को युग-युगों से रसप्लावित करती रही है। अयोध्या, काशी, मिथिला, चित्रकूट, ओरछा (उ.प्र.) गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, पंजाब, दिल्ली, हरियाणा, बंगाल, असम, उड़ीसा दक्षिणी प्रांतों के आलवारों तथा अन्याय भूभागों के भजनानंदी संतों ने इस धारा में स्नान कर अपने जीवन को धन्यता की सीमा तक पहुँचाया है। कहना न होगा कि भक्तिधारा की इस स्रोतस्विनी को समय-समय पर भक्ति के आचार्यों ने भावभक्ति की अपार जलराशि से सम्पन्न किया है। आज रामभक्ति धारा का जो हिमालयी स्वरूप दृश्यमान है वह सब आचार्य रामानंद के भगीरथ प्रयत्न का ही सुफल कहा जाना चाहिए। गागरौनगढ़ (राज.) के नरेश पीपा जी के आग्रह पर स्वामी रामानंद ने राजस्थान और गुजरात में स्थान-स्थान पर सत्संग किया था। काशी से द्वारकाधाम तक अनेक सिद्धों-नाथों को पराभूत करते हुए उन्होंने रामभक्ति की पयस्विनी प्रवाहित की थी। द्वारकाधाम (गुजरात) में तो द्वादश शिष्यों में कई के साथ प्रवास करने की चर्चा भी मिलती है। कबीर, रैदास और पीपाजी का नाम इस संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। काल के झंझावात में उन सभी स्थलों का नाम तो दुर्ज्ञेय है; पर भक्ति के जो छींटे सौराष्ट्र में पड़े उनकी एक अलौकिक छाप पालियादधाम में भी देखी जा सकती है।

सौराष्ट्र में रामानंदी सम्प्रदाय के अनेक स्रोत प्राप्त होते हैं। पीपाराव और योगानंद जो रामानंदाचार्य के प्रमुख शिष्य थे - दोनों ने रामावत सम्प्रदाय का प्रचार सौराष्ट्र में किया। कबीर साहब और रविभाण सम्प्रदाय में दीक्षित संतभक्त कवियों की विशाल परम्परा भी यहाँ देखी जा सकती है। ये सभी रामानंदी सिद्धांतों का

प्रचार रामभक्ति परक भजनों के माध्यम से करते रहे हैं। सौराष्ट्र में साधुसमाज बावन द्वारों में फैला हुआ है जिनमें चौंतीस द्वारे रामानंदी हैं। ये सभी गाँव-गाँव में राममंदिर, चौरा या ठाकुरद्वारा बनाकर रामाराधन करते हैं। अनी, निर्वाणी, निर्मोही और दिगंबर अखाड़ों की विशाल परम्परा रामभक्ति का प्रचार करते यहाँ सहजतः दीख पड़ती हैं। इसी प्रकार अन्यान्य पंथों ने अपने निजी नामों से स्थापित मठों आदि द्वारा भी रामभक्ति धारा का प्रवहन शताब्दियों से सौराष्ट्र में किया है। नरसी मेहता गाते हैं कि 'वैष्णव जन तो तेने...राम नाम सूँ ताली लागी, सकल तीरथ एना तनमाँ रे'। गुजराती के रविभाण तो रामभक्ति में तन्मय होकर कहते हैं : 'हे मन तू राम भजी ले राणा', और उठत राम कहो बैठत राम कहो, चलता राम संभार। सोवत राम कह जागत राम कह सतगुरु सबद विचार।। राम भजन बिन नहिं निस्तारा, जाग जाग मन क्यूँ सोता है' - जैसे भजनों में आचार्य रामानंद की चेतना बार-बार हुँकार मारती है। इससे प्रमाणित होता है कि स्वामी रामानंद ने जिस रामभक्ति का प्रवहन सौराष्ट्र में किया उसका अद्यावधि प्रवाह विस्तार के साथ पालियादधाम में दिखायी पड़ता है।

यह इतिहास सिद्ध तथ्य है कि चार-साढ़े चार सौ वर्ष पूर्व रामदेव नाम के एक महान रामभक्त साधक (पीर) का अवतार राजस्थान के जोधपुर इलाके में हुआ था। वह रामानंद द्वारा प्रवर्तित रामभक्ति से प्रभावित प्रतीत होते हैं। जनश्रुतियों और लोकविश्वासों में वह भगवान् राम के अवतार माने जाते हैं। उनके लोकांतरण के उपरांत उन्हीं के अवतार स्वरूप विसामण बापू (पालियादधाम) में अवतरित होते हैं। यह काठीदरबार अर्थात काठियावाड़ के क्षत्रिय कुलोत्पन्न राजपूत थे। परम्परया इनका जीवन युद्ध की हिंसात्मक प्रवृत्तियों का समुच्चय था। तत्कालीन शासकों के यही गुण उन्हें लोकबंद्य भी बनाते थे। परम्परागत रूप से देश, समाज और प्रजा की रक्षा ही उनका मूल धर्म माना जाता था, जिसके लिए युद्ध अनिवार्य था। पर युद्धोन्माद की हिंसा में मानवीयता की बृहत्तर हानि हुआ करती थी। कभी-कभी हिंसा की अतिचारिता से मानवता का करुण क्रंदन बड़े-बड़े सम्राटों का हृदय परिवर्तन करा देता था। इतिहास के पृष्ठों पर अशोक महान् इसका एक प्रबल दृष्टान्त है। कुछ इन्हीं परिस्थितियों में पालियाद के बिसामण बापू का जीवन भी एक अद्भुत परिवर्तन से भर उठता है। उनके जीवन की इस चमत्कारिक घटना में वहाँ के निवासियों का कम योगदान नहीं है। बार-बार उन्हें स्मरण कराना कि आप तो स्वामी रामदेव के अवतार हैं - पीर हैं। फिर यह हिंसा और अतिचार क्यों? कहा जाता है कि इसका गहरा प्रभाव विसामण बापू के जीवन पर पड़ा।

कुछ समय बाद विसामण बापू को राज-पाट से वैराग्य हो गया। उस समय उत्तरी और पश्चिमी भारत में योगियों का व्यापक प्रभाव था। अतः प्रारंभ में विसामण बापू, विसामण नाथ कहे गए। उनके अलख साधक बनने की चर्चाएँ भी खूब मिलती हैं। इनका मूल गाँव पालियाद के सन्निकट ध्रुफणियाँ है। इन्हें पुत्र रूप में प्राप्ति हेतु इनके पिता आपा पातामन (काठी) ने संतों और गायों की खूब सेवा की थी। फलतः इनका जन्म संवत् १८२५ में हुआ। इनके गुरु का नाम चंदन नाथ (नाथपंथी) था। वर्षों तक इन्होंने डूँगर पहाड़ पर कठोर साधना किया। भक्ति साहित्य के इतिहास में यह तथ्य सर्वविदित है कि योग ने भक्ति को कहीं पराजित किया है तो कहीं पराजित भी हुआ है। भक्त तुलसीदास तो यहाँ तक कहते हैं कि 'गोरख जगायो जोग भगति भगायो लोग'! पर यह भी ध्यान रखना होगा कि रामभक्ति के प्रमुख आचार्य स्वामी रामानंद की भक्ति को अष्टांग योग समन्वित कहा गया है। कहने का आशय यही है भक्ति और योग कभी एक दूसरे से प्रबल तो कभी निर्बल होते रहे हैं। कभी-कभी संयुक्त रूप से मिलकर भारतीय जनमानस को तृप्त भी करते रहे हैं। प्रायः यह देखा जाता है कि भक्ति की सरलता सहजता और सर्वग्राह्यता जनसामान्य को शीघ्र ही प्रभावित। कर लेती है। अतः भक्तिधारा में डूबते योगियों के अधिसंख्य उदाहरण प्राप्त होते हैं। विसामण बापू भी इसी प्रकार के रामभक्त दिखायी पड़ते हैं।

भक्ति की पूर्ण मनोदशा प्राप्त कर लेने के उपरांत विसामण बापू राजा की जगह संत बन जाते हैं। अब उनकी तलवार म्यान में रहती है और मुख पर रामनाम की अहर्निश जापना चलती है। उन्हें भगवान् राम का मनोहर रूप प्रिय लगने लगता है अतः पालियादधाम में राम जानकी लक्ष्मण समेत पूर्ण रामदरबार के अलौकिक विग्रह स्वयं विसामण बापू द्वारा ही स्थापित किए जाते हैं। सांसारिक दृष्टियों से उपरामता को प्राप्त विसणनाथ सृष्टि के प्रत्येक घटक में रामतत्व देखने के अभ्यासी बन जाते हैं। अहर्निश राम भजन से प्रभावित जनता भी जो कभी सैनिक रूप में उनके साथ थी - रामभक्त बन जाती है। सही अर्थों में रामराज्य का विस्तार होता है। उसका श्रेय मिलता है पालियाद गाँव को। पालियाद मुख्यतः काठी दरबार के क्षत्रियों का केन्द्र रहा है। काठी दरबार के अनेक क्षत्रिय राजाओं की कर्मस्थली पालियाद बलिदान पूर्ण कार्यों के लिए स्मरण की जाती है। काठी दरबार की अनेक वीरतापूर्ण कहानियाँ यहाँ अब भी लोगों की जुबान पर तैरती रहती हैं। यही कारण था कि विसामण बापू ने इसे पालियादधाम नाम प्रदान किया। ऐसी श्रद्धाजनित जनश्रुतियाँ यहाँ पदे-पदे प्राप्त होती हैं।

गुजरात में पालियादधाम आज रामभक्ति धारा का एक प्रमुख केन्द्र बन गया है। अब यह पालियाद गाँव से पालियादधाम हो गया है। धाम शब्द का अर्थ ग्रहण मुख्यतः पवित्र स्थल के लिए ही प्रयुक्त होता है। क्रमशः वह तीर्थ का रूप ग्रहण कर लेता है। भारतीय संस्कृति में इसीलिए चार धामों की महत्ता अन्यतम रूप में स्वीकार की गयी है। पालियादधाम की आज वही स्थिति बनी हुई है। भारत में ऐसे सिद्धपीठ अंगुलियों पर गणना करने योग्य हैं - जहाँ एक ही क्रम में सात परम रामभक्तों का अवतरण हुआ हो। इस दृष्टि से पालियादधाम अग्रगण्य है। विसामण बापू, लक्ष्मण बाबू, मोटा उनड़ बाबू, दादा बापू, उनड़ बापू, अमरा बापू तथा उमाबा अमरा बापू। इस सप्तरामभक्तों ने पालियाद में सप्तपुरियों जैसी जाज्वल्य परंपरा की स्थापना कर दी है। आज भी पालियादधाम में रामभक्ति की त्रिवेणी का प्रवाह निरंतरता में चल रहा है। यह किसी की सिद्धपीठ के लिए गौरव का विषय है।

धर्म के व्यावहारिक स्वरूप का पर्याय है पालियादधाम। गुजरात में अन्याय रामभक्ति से सम्बंधित पीठों में सर्वाधिक महिमाशाली पीठ पालियादधाम है। अन्नक्षेत्र और गोशाला की दृष्टि से पालियादधाम ने अपनी एक अलग ही कीर्ति फैलायी है। चौबीसों घंटे अन्नप्रसाद (भोजन्) यहाँ की विशिष्टता है। विशाल हाल में एक हजार व्यक्ति एक साथ बैठकर जहाँ प्रसाद ग्रहण करते हों तथा एक हजार गाएँ जहाँ नित्यप्रति दूध-घी की नदी जैसी प्रवाहित करती हों उस स्थान की महिमा और सुव्यवस्था की कल्पना की जा सकती है। इस तरह प्रायः पाँच हजार व्यक्ति प्रतिदिन भोजन प्रसाद ग्रहण करते हैं। इन पंक्तियों के लेखक ने प्रत्यक्षतः इस प्रकार का दृश्य देखा है। भक्तों में सभी जाति के लोग हैं; पर प्रजापति वर्ग अधिसंख्य है। दर्जी, हरिजन, ब्राह्मण, क्षत्रिय सभी जातियों के मन में इस भक्ति पीठ के प्रति अपार श्रद्धा दिखायी पड़ती है। एक हजार गाँवों के एक लाख भक्तजन आबाल, बृद्ध-नर-नारी इस स्थान के प्रति पूर्ण समर्पित हैं। इनके भगवान् बिसामण या बिसण नाथ ही हैं। ये लोग तन मन धन से स्थान के प्रति समर्पित हैं। ये स्वतः भक्ति भाव से आते हैं। अन्न लाते हैं। भोजन पकाते हैं और प्रत्येक व्यक्ति को समादर के साथ दूध, घी, दही, छाछ, बाजरे की रोटी, चने से बने तमाम प्रकार के पकवान, मिष्ठान खिलाकर स्वयं को संतुष्ट महसूस करते हैं। इस कार्य में भोजन की उत्तमता और भावकी श्रेष्ठता देखते ही बनती है। प्रत्येक अमावस को यहाँ लाखों भक्तजनों का सैलाब उमड़ पड़ता है। पौष की आमावस्या को शाकोत्सव के रूप में मनाते हैं। एक दिन पूर्व से रात्रि पर्यन्त पुरुष-महिलाएँ मिलकर बाजरे की रोटी (रोटला) पकाते हैं। यह कार्यक्रम पाँच सौ चूल्हों पर एक साथ सम्पन्न होता है। ज्ञातव्य है

कि यहाँ प्रसाद तैयार करने वाली टीम वर्ष भर के अनुबंध पर होती है। ये सभी राजस्थान के निवासी हैं।

पालियादधाम में प्रत्येक अमावस को दिखने वाला समुद्रायित जन समूह धर्म निंदकों और तथाकथित धर्मनिरपेक्ष लोगों को चिंतन का एक अवसर देता है। जहाँ न रूढ़ि है न गतानुगतिकता। वहाँ तो मात्र रामरस में निमग्न सज्जनों का संकुल है। जो आधुनिक विचारक मात्र दूर की सूचनाओं और दुराग्रही चित्त से धर्म और संस्कृति की निंदा करते हुए उसे प्रतिगामी सिद्ध करते हैं : वे भी पालियादधाम की भक्ति को देखकर मानस परिवर्तन कर लेंगे। उस विशाल भक्त समूह में जाति, ऊँच, नींच, पिछड़ा-अगड़ा सब उसी तरह एक स्वरूप बन जाते हैं जैसे विशाल जलराशि में कोई बूँद हो। भक्ति की इस त्रिवेणी में नहा धो कर सभी रामभाव में निमग्न रहते हैं। यहीं स्वामी रामानंद की वह पंक्ति स्मरण हो उठती है : 'जाँति-पाँति पूछे ना कोई। हरि का भजै सो हरि का होई'। इस भूमि की सर्वाधिक बड़ी विशिष्टता गरीबों की मदद, सहभोज तथा सबको बराबर का मान प्रदान करना है। यही कारण है कि देश-विदेश से तमाम भक्त वर्तमान गादीपति उमाबा के प्रति श्रद्धा निवेदित करने अमावस को पौष मास के शाकोत्सव में अवश्य पधारते हैं। महाराष्ट्र और गुजरात के श्रद्धालु तो होते ही हैं राजस्थान, मध्य प्रदेश और रामभक्ति की आदिपीठ पंचगंगा घाट काशी के भक्तजन भी इसकी तरफ आकर्षित होते जा रहे हैं। इस प्रकार पालियादधाम रामराज्य का एक लघु संस्करण जैसा प्रतीत होता है। 'सेवक' यहाँ का सम्मानपूर्ण शब्द है और 'कृपा' यहाँ का श्रद्धापूर्ण भाव।

इतिहास की आवृत्ति ही परम्परा का सृजन करती है। निरंतरता में एक दूसरे से प्राप्त चिंतन और विचार के कण ही परम्परा बनते हैं। इसमें प्रगतिशीलता के साथ काल बोध की अप्रतिम चेतना भी होती है। चौदहवीं-पंद्रहवीं शती में आचार्य रामानंद ने रामभक्ति का जो शंखनाद सौराष्ट्र में द्वारकापुरी तक किया था। उनके शिष्य पीपा साहब ने उस भक्ति को पश्चिमी भारत के अनेक दुर्गम क्षेत्रों तक पहुँचाया। उनके एक अन्य शिष्य रैदास ने तो सौराष्ट्र में जूनागढ़ तक उसकी कीर्ति पताका फहरायी। **उसी का पुनर्प्रवाह बीसवीं शती के अंतिम दशक में भी दिखायी पड़ता है।** जब ज.गु. रामानंदाचार्य पद प्रतिष्ठित स्वामी श्रीरामनरेशाचार्य से अमराबापू का प्रत्यक्ष मिलन होता है। द्वारकापुरी में किसी धार्मिक आयोजन के क्रम में सन् १९९४ ई. में पालियादगादीपति श्री अमराबापू की अन्तर्भेदनी दृष्टि वर्तमान रामानंदाचार्य को उसी प्रकार खोज लेती है जैसे पंद्रहवीं शती में महाराज पीपा ने स्वामी रामानंद को काशी आकर प्राप्त कर लिया था। कहना न होगा कि काल की अंधगुहा में विलुप्त

श्रीराममंदाकिनी का प्राकट्य इस मिलन से ही हो गया। आधुनिकता और भौतिकता के दमघोंटू धुएँ से रामभक्ति रूपी लता की मुरझायी कलियाँ इस महामिलन से नवांकुरित हो उठीं। परम यशस्वी और उदारमना अमराबापू यद्यपि काल के क्रूर हाथों में (सन् २००० ई.) असमय ही चले गए पर उनकी महत्वाकांक्षी धार्मिक योजनाएँ, जनप्रतिजन से प्रत्यक्ष संवाद, हृदय की विशालता और नवनीत समाना चित्त ने रामभक्तिधारा को वेगवती बना दिया। उसी परम्परा का तद्वत निर्वाह उनकी धर्मपत्नी वर्तमान गादीपति धर्मगौरव महांत उमाबा कर रही हैं। इनके कार्य करने की अद्भुत शैली, जन-परिजन और अतिथियों के सुख-दुःख की चिंता बेमिशाल है। इनकी उदारता और सदाशयता ने रामराज्य को नए संदर्भ में परिभाषित करते हुए वर्तमान रामभक्तों को एक विशेष प्रकार के अनिर्वचनीय सुख से मंडित किया है। यह कहना अत्युक्ति न होगी कि रामानंदाचार्य के द्वादश शिष्यों में रामभक्ति को प्रचारित-प्रसारित करने में जो महनीय और ऐतिहासिक भूमिका 'सुरसरि' की थी वर्तमान समय में वही उमाबा अमराबापू की भी है। इस महनीय भूमिका में वर्तमान रामानंदाचार्य श्रीरामनरेशाचार्य का मार्गदर्शन तथा आशीर्वाद स्वर्ण में सुहागे जैसा कारगर हुआ है। इस प्रकार का संघटन दैवी कृपा से ही संभव होता है। अभी पालियादधाम की जनता को महांत उमाबा अमराबापू से अनंत अपेक्षाएँ हैं। जनता का विश्वास है कि जानकी बल्लभ श्रीराम इसे पूर्ण करेंगे। प्रत्येक युग में भक्ति का यही मार्ग वरेण्य रहा है।

पालियादधाम रामभक्तिधारा का वर्तमान समय में एक अन्यतम केन्द्र है जिसका गर्भनाल आदिपीठ पंचगंगा घाट काशी से जुड़ा है। इस रामभक्ति केन्द्र पर अभी शोध की आवश्यकता है जिससे परम्परा और साहित्य पर नया प्रकाश पड़ सके।

●

प्राकृत ग्रन्थों में राम का वैशिष्ट्य

डॉ. रामजी राय

प्राकृत वाङ्मय में राम-कथा को आधार बनाकर जो महाकाव्य, काव्य और नाटक आदि लिखे गये, उनमें विमलसूरिकृत पउमचरियं का नाम सर्वप्रथम है। यह महाकाव्य प्राकृत साहित्य का आदि 'रामायण' कहा जाता है।[१] इसी को आधार बनाकर प्राकृत साहित्य में प्रायः सभी राम-कथाओं से सम्बंधित अन्य ग्रन्थ प्रतिपादित हुए हैं। विमलसूरि के अनुसार 'पउमचरियं' से पूर्व राम-कथा नामावली की निबद्ध और मौखिक परम्परागत थी।[२] यद्यपि ग्रन्थ रचना की प्रेरणा में जो स्पष्टीकरण अंकित है, उससे स्पष्ट हो जाता है कि रचनाकार के सम्मुख वाल्मीकि रामायण अवश्य थी और उसी से प्रेरणा पाकर उन्होंने अपने पूर्व साहित्य और गुरु-परम्परा से प्राप्त कथासूत्रों को पल्लवित कर यह ग्रन्थ लिखा।

वस्तुतः रामकथा की लोकप्रियता तथा व्यापकता भारतीय संस्कृति में इतनी फैल गयी थी कि इसने तत्सामयिक तीनों प्रचलित धर्मों-वैदिक बौद्ध और जैन में अपना निश्चित स्थान बना लिया। ब्राह्मणों ने राम को ईश्वर के अवतार के रूप में, बौद्धों ने बोधिसत्व के रूप में तो जैनों ने आठवें बलदेव के रूप में चित्रित किया। पश्चात् भारतीय साहित्य की प्रत्येक शाखा में, अन्य भारतीय भाषाओं के साहित्य में, भारत के निकटवर्ती देशों में सर्वत्र रामकथा का प्रभाव स्पष्ट दिखलाई पड़ता है।

पउमचरियं प्राकृत का राम विषयक प्रथम महाकाव्य ही नहीं, बल्कि प्राकृत भाषा का आदि काव्य भी है। इसका रचना-काल याकोवी के अनुसार तृतीय शताब्दी तो डॉ० के० आर० चन्द्रा के अनुसार वि०सं० ५३० है। इसमें राम को पउम अर्थात् पद्म कहा गया है। इसीलिए इसका नाम पउमचरियं रखा गया। पद्म के समान नेत्र होने के कारण श्रीराम को 'पउमुप्पल दलच्छो' कहा गया है।

राम-कथा सम्बंधी अन्य प्राकृत-ग्रन्थ : पउमचरियं के अतिरिक्त राम-कथा से सम्बंधित अन्य प्राकृत ग्रन्थ भी उपलब्ध है, ज़िनमें निम्नलिखित प्रमुख हैं :-

सेतुबन्ध- यह महाराष्ट्री प्राकृत में लिखा गया एक सर्वोत्कृष्ट महाकाव्य है। इसके रचनाकार प्रवरसेन ने वाल्मीकि रामायण के युद्धकाण्ड से अपनी रचना के

कथासूत्र को लिया है, किन्तु सेतुबन्ध की कथा में सेतुबन्धन और रावण-वध-दोनों प्रमुख घटनाएँ हैं, जिसके आधार पर इस महाकाव्य का नामकरण क्रमशः सेतुबन्ध एवं रावणवध या दशमुखवध हुआ है। कथा एवं अधिकतर घटनाएँ भी रामायण से मिलती-जुलती हैं, किन्तु तत्कालीन महाकाव्य लिखने की पद्धति के अनुरोध से कवि ने अपनी प्रौढ़ कल्पना एवं नवीन उद्‌भावनाओं के द्वारा उसे पूरा किया है। कहीं भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि प्रवरसेन ने वाल्मीकि से कुछ उधार लिया हो।[५] इसका रचना काल पांचवीं शती का पूर्वार्द्ध माना गया है।[६]

चउप्पन्नमहापुरिसचरियं- इस ग्रन्थ के रचयिता ने अपनी पहचान में तीन नामों का उल्लेख किया है- शीलंक या सीलंक, विमलमति और सीलाचरियं।[७] वृहट्टिप्पनिका में इसका रचना-काल वि०सं० ९२५ दिया गया है।[८] इसकी रामकथा में अधिकांश वर्णन तो विमलसूरि रचित पउमचरियं के समान है पर कुछ बातों में भेद है यथा-रावण की बहन को पउमचरियं में चन्द्रनखा कहा है तो यहाँ उसका नाम सूर्पनखा, पउमचरियं में रावण-लक्ष्मण के स्वर में सिंहनाद करके राम को धोखा देता है, किन्तु यहाँ सवर्णमय मायामृग का प्रयोगकर, राम के हाथ से बालि का वध बताया गया है, जबकि पउमचरियं में दीक्षा लेना।[९]

कहावलि- इसके रचयिता भद्रेश्वरसूरि हैं। इनका समय १२वीं शताब्दी के मध्य के आसपास माना जा सकता है। इसमें राम की कथा 'पउमचरियं' का अनुसरण करती है पर यहाँ-वहाँ कुछ फेरफार किया गया है, जैसे सीता के गृह-निर्वास प्रसंग में कहा गया है कि जब सीता गर्भवती हुईं तो उसे स्वप्न में दिखा कि उसके दो पराक्रमी पुत्र होंगे। स्वप्न की यह बात सपत्नियों के लिए ईर्ष्या का विषय हो गया और उन्होंने छल से राम के आगे उसे बदनाम करना चाहा। उन्होंने सीता से रावण का चित्र बनाने का आग्रह किया। सीता ने यह कहते हुए कि उसने रावण के मुखादि अंग तो देखें नहीं, केवल उसके पैरों का चित्र बना दिया। इस पर सपत्नियों ने लांछन लगाया कि वह रावण पर अनुरक्त है और उसी के चरणों का वन्दन करती है। राम ने यद्यपि इस पर तत्काल कोई ध्यान नहीं दिया पर सपत्नियों ने जनता में जब अपवाद फैलाना शुरू किया तो राम को विवश होकर उसे निर्वासित करना पड़ा। रावण के चित्र की घटना हेमचन्द्र ने अपने 'त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित' में भी दी है।[१०]

सीयाचरियं- इसमें ४६५ प्राकृत गाथाओं में भुवनतुंगसूरि ने सीता का चरित्र लिखा है।[११] सीताचरित्र पर प्राकृत में अज्ञात कर्तृक दो और रचनाओं के उल्लेख मिलते हैं। एक का ग्रंथाग्र ३१०० या ३४०० है। दूसरे की हस्तलिखित प्रति में सम्वत् १६०० दिया

गया है।[१२]

रामक्खणचरियं- सीयाचरियं के रचना-क्रम में भुवनतुंगसूरि ने ही इसकी रचना की है। इसमें २०८ गाथाएँ हैं।[१३]

वसुदेवहिण्डी- संघदास कृत वसुदेवहिण्डी में भी संक्षिप्त रामकथा मिलती है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल अनुमानत: चौथी शती है।[१४] रामकथा के विकास की दृष्टि से वसुदेवहिण्डी की रामकथा इसलिए महत्वपूर्ण है कि इसमें पहले-पहल सीता का जन्म लंका में माना गया है।[१५] कथानक रावण की अत्यन्त संक्षिप्त कथा से प्रारम्भ होता है-वंशावली (कूर्मपुराण से सम्बन्ध रखती है), लंका में प्रवास, मंदोदरी से विवाह। अनन्तर दशरथ तथा उनकी संतति का उल्लेख हुआ- कौशल्या के पुत्र राम, सुमित्रा के पुत्र लक्ष्मण तथा कैकेयी के पुत्र भरत तथा शत्रुघ्न। इसके बाद मन्दोदरी तथा रावण की पुत्री सीता की जन्म-कथा का वर्णन किया गया है, जिसके अनुसार परित्यक्ता बालिका जनक की दत्तक पुत्री बन जाती है। सीता स्वयंवर में किसी धनुष की चर्चा नहीं है, सीता बहुत से राजाओं में से राम को चुनती है, अन्य भाइयों के विवाह का भी संकेत मिलता है। राम के १२ वर्ष के निर्वासन के वर्णन में मंथरा तथा कैकेयी के दो वरों का उल्लेख है। भरत दशरथ मरण के बाद अयोध्या पहुँचकर राम के पास जाते हैं। उसी अवसर पर कैकेयी पश्चाताप करते हुए राम से राज्य स्वीकार करने का निवेदन करती है। शूर्पनखा का विरूपीकरण, मारीच का कनक-मृग बनना, सीता हरण, जटायु-रावण-युद्ध, सुग्रीव से मैत्री, बालिवध, हनुमान का सीता का पता लगाना, सेतुबंध, विभीषण की शरणागति, रावणवध के बाद विमानों पर अयोध्या का प्रत्यागमन, यह सब वाल्मीकि की कथा के अनुसार ही वर्णित है। जैन परम्परा की दृष्टि से लक्ष्मण ही रावण का वध करते हैं तथा उसी अवसर पर देवताओं द्वारा आठवें वासुदेव घोषित किये जाते हैं। इसके अतिरिक्त पउमचरियं के अनुसार वानरों और राक्षसों को विद्याधर की पदवी दी गयी है, भरत तथा शत्रुघ्न को सहोदर भाई माना गया है तथा कैकेयी के पश्चाताप का उल्लेख है। परवर्ती जैन राम-कथा पर इस कृति का प्रभाव परिलक्षित होता है, क्योंकि उत्तरपुराण (गुणभद्र) में रावण की वंशावली तथा सीता के जन्म की कथा इसी के अनुसार है।

प्राकृत ग्रन्थों में राम-कथा के उपर्युक्त विवेचनों से स्पष्ट है कि एक सेतुबन्ध को छोड़कर शेष की राम-कथा प्राय: पउमचरियं का अनुसरण करती दिखायी पड़ती है। प्राकृत की राम-कथा वस्तुत: जैन परम्परा के मान्य सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर लिखी गयी हैं। जैन परम्परा में राम को बलदेव, लक्ष्मण को वासुदेव

और रावण को प्रतिवासुदेव माना गया है। इस तरह जैन परम्परा में नौ बलदेव, नौ वासुदेव और नौ प्रतिवासुदेव माने गये हैं, जिनका चरित्रांकन निम्नलिखित मान्य परम्परा पर प्रतिस्थापित हुआ है।[१६]

बलदेव चरित्र- क्रमशः नौ वलदेव हैं :- विजय, अचल, धर्म, सुप्रभ, सुदर्शन, नन्दिषेण, नन्दिमित्र, राम और बलभद्र। इनके मुख्य चरित्र के रूप में वासुदेव को निर्देश देना, उनके क्रोध को शान्त करना, युद्ध में उनकी सहायता करना, अर्द्धचक्रवर्ती की राज्य-लक्ष्मी का उपभोग करना और अन्त में वासुदेव की मृत्यु से खिन्न होकर तपस्या करना वर्णित है। बलभद्र को छोड़ शेष सभी को मोक्ष की प्राप्ति होती है। बलभद्र माहेन्द्र स्वर्ग में देव होते हैं।[१७]

वासुदेव चरित्र- इस कोटि में नौ वासुदेवों के चरित्र परिगणित हैं :- त्रिपृष्ठ, द्विपृठ, स्वयंभू, पुरुषोत्तम, पुरुससिंह, पुण्डरीक, दत्त, लक्ष्मण और कृष्ण। ये मुख्यतः अपने बड़े भाई बलदेव के अनुगामी होते हैं, उनके निर्देशों का पालन करते हैं, उनकी अनुमति के बिना कोई कार्य नहीं करते हैं, प्रतिवासुदेव के मारने की सामर्थ्य के परिचायक कोटिशिला को उठाते हैं, किसी न किसी कारण से प्रतिवासुदेव का वध करते हैं, अर्द्धचक्रवर्ती होकर जीवन-पर्यन्त भोगों में लिप्त रहते हैं और अन्त में मरकर नरक जाते हैं।

प्रतिवासुदेव चरित्र- इसके अन्तर्गत अश्वग्रीव, तारक, मधु, मधुसूदन, मधुक्रीड़ा, निशुम्भ, बलीन्द्र, रावण तथा जरासंध के चरित्र का अंकन है। अपने शत्रुओं को परास्त कर अर्द्धचक्रवर्ती बनना एवं किसी न किसी बहाने वासुदेव से युद्ध करना इनके चरित्र के मूल गुण हैं। अन्त में ये वासुदेव के फेंके हुए चक्र से मृत्यु को प्राप्त कर नरक के निवासी होते हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि राम-कथा के सभी प्रमुख पात्र जैन-परम्परा की ठोस श्रृंखला में जकड़े हुए हैं, जिसके कारण उनके मूल में कोई परिवर्तन दिखलाई नहीं पड़ता है। प्राकृत की प्रायः सभी राम-कथाएँ जैन-पराम्परा से ही सम्बन्ध रखती हैं। इन कथाओं का यदि हम वाल्मीकि रामकथा से तुलना करें तो इसमें निम्नलिखित प्रमुख विशिष्टताएँ परिलक्षित होती हैं-

१. प्रचलित लौकिक रामकथा के सम्बन्ध में शंका से उत्पत्ति- प्राकृत की राम-कथाएँ प्रचलित लौकिक रामकथा के सम्बन्ध में किसी व्यक्ति द्वारा शंका हो जाने पर और मूल रामकथा को सुनने का आग्रह करने पर सुनायी जाती हैं। प्रारम्भ में रामकथा की असत्य या असम्भव घटनाओं को लेकर शंका उत्पन्न की जाती है।[१८] अतः राम-कथाओं की विकृतियों को दूर कर यथार्थ बुद्धिवाद की

स्थापना प्राकृत-राम-कथाओं का मूल उद्देश्य है।

२. वानर, राक्षस आदि का मानव के रूप में चित्रण- मेघवाहन ने लंका तथा अन्य द्वीपों की रक्षा की थी, अतः रक्षा करने के कारण उसके वंश का नाम राक्षसवंश पड़ा। विद्याधर राजा अमरप्रभ ने अपनी प्राचीन परम्परा को जीवित रखने के लिए महलों के तोरणों और ध्वजाओं पर वानरों की आकृतियाँ अंकित करायी थीं तथा उन्हें राज्य-चिह्न की मान्यता दी, अतः उसका वंश वानर वंश कहलाया। ये दोनों वंश दैत्य और पशु नहीं थे, बल्कि मानव जाति के ही वंश विशेष थे। इसी प्रकार इन्द्र, सोम, वरुण, इत्यादि देव नहीं थे, बल्कि विभिन्न प्रान्तों के मानव वंशी सामन्त थे।[१९]

३. रावण के दशानन नामकरण का औचित्य निरूपण- रावण को उसकी माता ने नौ मणियों का हार पहनाया, जिससे उसके मुख के नौ प्रतिबिम्ब दृश्यमान होने के कारण पिता ने उसका नाम दशानन रखा। इसी प्रकार हनुमान विद्याधर राजा प्रहलाद के पुत्र पवनंजय और उनकी पत्नी अंजना के औरस पुत्र थे। सूर्य को फल समझकर हनुमान द्वारा ग्रसित किये जाने का वृतांत प्राकृत कथाओं में नहीं है।[२०]

४. उदात्त चरित्रों की स्थापना तथा चरित्रों में स्वाभाविकता का सन्निवेश- पउमचरियं के पात्रों के उदात्त चरित्रांकन के संदर्भ में डॉ० नेमिचन्द्रशास्त्री का कथन है[२१] कि दशरथ द्वारा भरत को राज्य देने का समाचार सुनकर राम अपने पिता को धैर्य देते हुए कहते हैं कि पिता जी आप अपने वचन की रक्षा करें। मैं नहीं चाहता कि मेरे कारण आपका लोक में-अपयश हो। जब भरत राज्य ग्रहण करने में आनाकानी करते हैं, तब राम उन्हें अपने पिता की विमल कीर्ति बनाये रखने और माता के वचन की रक्षा करने का परामर्श देते हैं। जब भरत अनुरोध स्वीकार नहीं करते तो राम स्वयं ही अपनी इच्छा से वन चले जाते हैं। यह नायक की स्वाभाविक उदारता का निदर्शन है। युद्ध के समय जब विभीषण राम से कहता है कि विद्यासाधना में ध्यानमग्न रावण को क्यों नहीं बन्दी बना लिया जाय, तब राम क्षात्रधर्म बतलाते हुए कहते हैं कि धर्म-कर्तव्य में लगे व्यक्ति को धोखे से बन्दी बनाना अनुचित है। परस्थितिवश लोकापवाद के भय से राम सीता का निर्वासन करते हैं, यह भी अनुचित है। किन्तु सीता की अग्नि-परीक्षा के अनन्तर राम बहुत पछताते हैं और क्षमा याचना करते हैं।

रावण को धार्मिक और व्रती पुरुष अंकित किया गया है। सीता की सुन्दरता

पर मोहित होकर रावण ने अपहरण अवश्य किया, किन्तु सीता की इच्छा के विरुद्ध उस पर कभी बलात्कार करने की इच्छा नहीं की। जब मन्दोदरी ने बलपूर्वक सीता के साथ दुराचार करने की सलाह रावण को दी तो उसने उत्तर दिया-"यह संभव नहीं है, मेरा व्रत है कि किसी भी स्त्री के साथ उसकी इच्छा के विरुद्ध बलात्कार नहीं करुँगा।" वह सीता को लौटा देना चाहता था, किन्तु लोग कायर न समझ लें, इस भय से नहीं लौटाता। उसने मन में निश्चय किया था कि युद्ध में राम और लक्ष्मण को जीतकर परम वैभव के साथ सीता को वापस करूँगा। इससे उसकी कीर्ति में कलंक नहीं लगेगा और यश भी उज्ज्वल हो जायगा। रावण की यह विचारधारा रावण के चरित्र को उदात्तभूमि पर ले जाती है। वास्तव में विमलसूरि ने रावण जैसे पात्रों के चरित्र को भी उन्नत दिखलाया है।

दशरथ राम के वियोग में अपने प्राणों का त्याग नहीं करते, बल्कि निर्भयवीर की तरह दीक्षा ग्रहण कर तपश्चरण करते हैं। कैकेयी ईर्ष्यावश भरत को राज्य नहीं दिलाती किन्तु पति और पुत्र दोनों को दीक्षा ग्रहण करते देखकर उसको मानसिक पीड़ा होती है। अत: वात्सल्य भाव से प्रेरित हो अपने पुत्र को गृहस्थी में बाँध रखना चाहती है। राम स्वयं बन जाते हैं वे स्वयं भरत को राजा बनाते हैं। राम के बन से लौटने के पश्चात् कैकेयी प्रव्रजित हो जाती है और राम से कहती है, कि भरत को भी अभी बहुत कुछ सीखना है। भरत के दीक्षित हो जाने पर वह घर में नहीं रह पाती। इसी कारण शान्तिलाभ के लिए वह दीक्षित होती है। इस प्रकार 'पउमचरियं' में सभी पात्रों का उदात्त चरित्र अंकित किया गया है।

इस प्रकार चरित्र-चित्रण की दृष्टि से प्राकृत की राम कथाओं में सभी प्रमुख पात्रों के मानवीकरण के साथ-साथ उसके शील का उदात्त रूप भी उपलब्ध होता है।



ऐसे थे मेरे गुरु

डॉ० देवेन्द्र दीपक

बचवा अद्भुत थे मेरे गुरुदेव। गठा हुआ शरीर था। चेहरे पर विचित्र तेज था। भीतर तक देखतीं थीं उनकी आँखें। इन आँखों में कभी पुचकार रहती, कभी गुस्सा' गुरुदेव के पिता का नाम पुण्यसदन था, लेकिन मेरे गुरुदेव तो मानो स्वयं पुण्यसदन थे। उनकी माता का नाम सुशीला था।

रामानंद बनने से पहले वह रामदत्त थे या रामभारती, इससे क्या अंतर पड़ता है? थे तो वह राम के ही। राम का उन पर पूरा अधिकार था। अपने पिता की अकेली संतान थे। वह आग्रही थे, लेकिन हठ उनमें नहीं था। उनके पिता सहृदय थे। विद्वान् थे। उनकी आकांक्षा थी उनका पुत्र विद्वान् बने। उन्होंने अपने पिता की इच्छा पूरी की। वह विद्वान् बने, और भक्त भी। अद्भुत प्रतिभा थी उनमें, तभी तो बारह साल की अवस्था पार करते-करते वह शास्त्रों में माहिर हो गए थे।

किसी ने बताया कि उनका जन्म प्रयाग में हुआ तो किसी ने बताया उनका जन्म कहीं दक्षिण में हुआ। वहीं से वह भक्ति लेकर उत्तर आए और उक्ति चल पड़ी-'भक्ति, द्राविड़ ऊपजी लाए रामानंद।'

जाति के विषय में पूछा तो किसी ने कहा कि वह कान्यकुब्ज ब्राह्मण हैं तो किसी ने कहा गौड़। मन में आया सीधे गुरुदेव से ही पूछ लूँ उनकी जाति। फिर लगा कि जो आदमी मानता हो कि 'जात-पात पूछै नहीं कोई, हरि को भजे सौ हरि का होई।' ऐसे आदमी से उसकी जाति पूछकर मैं हेठा नहीं होना चाहता था।

प्रयाग में वह जन्मे हों या न जन्मे हों लेकिन वह काशी में प्रयाग बनकर रहे। जहाँ भी गए, वहाँ उनका प्रयाग दिखाई दिया।

इसका मतलब?

मतलब यह कि भक्ति, शौर्य और समाजोत्थान की त्रिवेणी थे गुरुदेव!

वे बड़े घुमक्कड़ थे। शादी उन्होंने की नहीं। उत्तर-दक्षिण दोनों ओर गए वह। कभी पता चलता कि गुरुदेव अयोध्या में हैं, कभी पता चलता कि चित्रकूट में हैं। कभी मिथिला में होने की सूचना मिलती। फिर दक्षिण निकल गए। विजय नगर में नौ दिन ठहरकर उन्होंने वहाँ की प्रजा और वहाँ के राजाओं को धर्माचरण का उपदेश दिया। वहाँ के शासक बुक्काराय को प्रजा के प्रति उसके धर्म की याद

दिलाई।

गुरुदेव वहाँ से रामेश्वर चले गए। कभी काँची में रहे, कभी श्रीरंग क्षेत्र में, कभी द्वारका में। वहाँ से मथुरा, वृंदावन, मायापुरी, चित्रकूट, प्रयाग होते हुए पुनः काशी। उन्होंने अपनी इन यात्राओं में अपने शास्त्र ज्ञान को परखा। यात्रा में उन्हें सब तरह के लोग मिले। युग की चुनौतियाँ और सवाल उनके सामने खड़े थे, समाधान की प्रतीक्षा में।

शासक उनके सामने था। धर्म प्रसार की उसकी लालसा उनके सामने थी। विधर्मियों की यातनाओं की क्रूर कथाएँ अब तक उन्होंने सुनी थीं, लेकिन अब तो प्रभावित पात्र प्रत्यक्ष उनके सामने थे। हताश, पीड़ित, दुखी हिंदू!

धर्म के कर्णधार भी उनके सामने थे। उनका मिथ्या अभिमान उनके सामने था। कर्मकांड का पाखंड उनके सामने था। वर्णों की विवर्णता उनके सामने साफ हो चुकी थी। बार-बार देखा। बार-बार अपने नतीजों की परख की। शुरुआत हुई अपने से। अपने गुरु से। बार-बार अपने अनुभव को देखा-परखा। जहाँ जरूरी लगा उसमें तबदीली भी की।

जहाँ कहीं गुरुदेव को अपने गुरु की बात खरी नहीं लगी, उसे उन्होंने छोड़ दिया। यह गुरुद्रोह थोड़े ही था। गुरुदेव की पहली मुठभेड़ अपनों से ही हुई। तीर्थयात्रा के बाद जब गुरुदेव वापस आए और गुरुमठ में पहुँचे तो उनके गुरु भाइयों ने उनके साथ भोजन करने में आपत्ति की। गुरु भाइयों का सोचना था कि मेरे गुरुदेव ने यात्रा में अपने खान-पान में छुआछूत नहीं रखी। वह भ्रष्ट हो गए।

उन्हें भ्रष्ट मान लिया गया। मामला ऊपर तक गया। गुरुदेव के गुरु राघवानंद जी महाराज के सामने शिकायत पहुँची। गुरुदेव की पेशी हुई। राघवानंद ने समय की नजाकत को समझा और उन्हें अपनी सोच के हिसाब से कार्य करने की सहमति दी। इस सहमति ने गुरुदेव का मार्ग सरल कर दिया। गुरुदेव को अपने आचार्य की मर्यादा का आदर करते हुए अपना मार्ग खोजना था। उनका पूरा ज्ञान, उनकी साधना, उनकी तपस्या उनका अनुभव अब कसौटी पर था।

उनका अलग होना अपनी अलग खिचड़ी पकाना नहीं था। उनका अलग होना उनके मन में घुमड़ रहे प्रश्नों के उत्तर खोजने का अवसर देना था। गुरुदेव ने बार-बार अपने को माँजा। वह निरंतर अपने विचारों और मान्यताओं में संशोधन करते रहे और जन के समीप आते रहे।

एक समय आया जब गुरुदेव ने कबीर जी को दीक्षा देने से मना कर दिया और कबीर जी को उनके पाद स्पर्श के लिए गंगा की सीढ़ियों पर पूरी रात पड़े

रहना पड़ा। लेकिन कबीर का आग्रह उन्हें बेध गया।

मेरे गुरुदेव का सामाजिक पक्ष प्रबल हो उठा। गुरुदेव ने प्रनतजन की सुधि ली। प्रनतजन की पीड़ा को समझा। उसके समीप गए। प्रनतजन की भाषा अपनाने की दिशा में चार कदम चले। द्वंद्व उनमें भी था। एक ओर काशी के पंडित और विद्वान्, दूसरी ओर प्रनतजन। एक ओर आचार्य जगत, दूसरी ओर प्रनतजन। एक ओर तथाकथित भद्रलोक, दूसरी ओर प्रनतो का अभद्र लोक। एक ओर संस्कृत, दूसरी ओर प्रनतजन की जनभाषा। द्वंद्व में सामाजिक पक्ष की सर्वोपरिता बढ़ती चली गई।

और अब वे सेतु बनने के लिए तैयार थे। एक सेतु, राम का, दूसरा सेतु रामानंद! सेतु बनने के लिए संवाद जरूरी था। टूटे संपर्क सूत्रों का दुबारा जोड़ा जाना जरूरी था। धीरे-धीरे छिन्न सूत्र जुड़ने लगे। भक्ति, शक्ति और संगठन! ये तीन सूत्र लेकर वह समाज में गए और समाज़ से संवाद का समन्वित निष्कर्ष निकला-समाज को भक्ति चाहिए। समाज को पौरुष चाहिए। समाज को संगठन चाहिए। संगठन के लिए शक्ति। शक्ति के लिए संगठन। भक्ति के लिए अभय और अभय के लिए शक्ति!

और इसके लिए चाहिए सबका स्वागत करने वाला मन। सबको अपनाने वाला मन। छोटा नहीं, बड़ा मन। बंद-बंद नहीं, खुला-खुला मन! वह मन मेरे गुरुदेव के पास था। गुरुदेव ने घूम-घूमकर देश के कोने-कोने में मठों, अखाड़ों और आश्रमों का जाल बिछाया। मठों की व्यवस्था में जनता की भागीदारी बढ़ाई। मठों का प्रबंध गोलकी और साधारण सभा द्वारा होने लगा।

गुरुदेव ने राम को मुक्त कर दिया। राम को भजना है, बस। अपने अनुभव, अपनी मति, अपनी सोच, अपनी गति के अनुसार जिसको जैसा राम समझ में आए, वह अपने उस राम की भक्ति करे। निर्गुण राम अच्छा लगे तो निर्गुण राम, सगुण राम अच्छा लगे तो सगुण राम। निर्गुण राम सधे तो निर्गुण राम, सगुण राम सधे तो सगुण राम। राम को भजना है, बस इतना ध्यान रखना है। शुद्ध मन से भजना है।

गुरुदेव ने समझाया- भगवान् की शरण के लिए कुलीन और अकुलीन का भेद क्यों? भक्त मंडली में अकुलीन भी कुलीन। अछूत भी सवर्ण। भक्ति के लिए सब समय शुद्ध है। तिथिवार का विचार कैसा? शुचि-अशुचि का विचार कैसा? राम से व्याह रचाने के लिए मुहूर्त कैसा? सब समय शुद्ध, सब स्थान शुद्ध।

मेरे गुरु वैष्णव थे और वह कहा करते थे-दान, तप, तीर्थ सेवन, मंत्र, जप

इनमें से कोई भी अहिंसा के बराबर नहीं। अहिंसा परम पुण्य दायक है। आदमी को चाहिए कि वह अपने सुदृढ़ धर्म की दृष्टि के लिए सब प्रकार की हिंसा का परित्याग कर दे।

और क्या यह सत्य नहीं कि छुआछूत भी एक प्रकार की हिंसा है। परोपकार पुण्य है। परपीड़न ही पाप है। छुआछूत क्या परपीड़न नहीं है? यदि छुआछूत परपीड़न है, तो वह पाप है। समाज उस पाप से मुक्त हो।

मुझे अपने गुरुदेव की यह बात बड़ी अच्छी लगी-कलिय के फणों पर स्थित श्रीकृष्ण की पूजा करो। गुरुदेव के इस प्रस्ताव में गहरा अर्थ समाया हुआ है। मेरे गुरुदेव की अहिंसा वीर पुरुष की अहिंसा है, कायर और कमजोर आदमी की अहिंसा नहीं।

सुना है उन्होंने चौंतीस हजार राजपूतों और अवध नरेश हरीसिंह को तारक मंत्र देकर पुनः हिंदू धर्म में वापस लिया। ये राजपूत मुहम्मद तुगलक के दबाव में मुसलमान बन गए थे।

मेरे गुरु ने अपनी योजना से जो कार्य किया, उसका परिणाम हुआ राजनैतिक राजतंत्र के विरुद्ध आध्यात्मिक लोकतंत्र की शुरुआत। राजनैतिक पराजय को भोग रहे समाज को उन्होंने सांस्कृतिक विजय का द्वार दिखा दिया।



वैदिक परम्परा के आलोक में ज.गु. रामानंद की राष्ट्रीय चेतना

प्रो. रमाकांत आंगिरस

आधुनिक ज्ञान-विज्ञान सम्पूर्ण रूप से ऐन्द्रिक प्रत्यक्षवाद पर ही निर्भर होकर रह गया है। आर्ष प्रत्यक्ष एवम् योगज प्रत्यक्ष आज के सन्दर्भ में साधारण जनमानस की पकड़ से दूर होते चले जा रहे हैं। यही कारण है कि मध्यकालीन मानवता की उपलब्धियों को अर्ध-विकसित और प्राचीनकाल की संपदा को पूर्ण अविकसित मानकर यह निर्णय कर लिया जाता है कि आज का दिन सबसे श्रेष्ठ और कल जो चला गया वह निरर्थक और जो आएगा वह नितान्त सार्थक होगा। काल की इस प्रकार की शृंखलाबद्ध संकल्पना ने मानवमन को ऐसे जकड़ लिया है कि वह लोक-जीवन की सारी समस्याओं का समाधान इसी संकल्पना के अधीन होकर करना चाहता है। परिणामस्वरूप भय, संशय और भ्रम में जीने के कारण एक अर्थहीन संघर्ष और द्वन्द्व मानवमात्र की नियति बन जाते हैं। विभिन्न दर्शन पद्धतियाँ इस परिस्थिति से निकलने का मार्ग सुझाती हैं किन्तु एकांगी होने के कारण कोई निश्चित समाधान नहीं दे पातीं।

प्राचीन भारत में जिन विभिन्न दार्शनिक सरणियों का विकास हुआ वे अपने-अपने क्षेत्र में लोकहित का काम कर रही थीं, किन्तु उनमें शत्रु-मित्र भाव पैदा होते-होते वैमनस्य बढ़ता जा रहा था। जो विद्याएँ उपनिषदों के हृदय से सन्तति सूत्र लेकर पैदा हुईं थीं, संगत होकर चल रहीं थीं वे पारस्परिक विरोध को मुखरित करते हुए स्वपक्ष साधन और परपक्ष उत्सादन में व्यस्त हो गईं। फलतः जनसामान्य हृदय की संस्कृति से अपरिचित होने के कारण अपने मूल से ही कटने लगा। यदि मानवमन के इतिहास को देखा जाए तो वह सदैव किसी ऐसे केन्द्र की तलाश में रहता है जहाँ से वह बल प्राप्त कर स्वस्थ होकर जिए। योगविद्याएँ प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान, समाधि की शिक्षा देकर अन्तर्मुखिता या व्यक्तिपरक जीवन जीने की ओर प्रेरित करने में व्यस्त हो गयी थीं। परमार्थ के बल पर लोक-जीवन को भयमुक्त और संघर्षशील चेतना के साथ जोड़ने वाला एक भी दर्शन या चिन्तन दृष्टि में नहीं आता।

भारतीय लोकजीवन के विघटन का सबसे बड़ा कारण गुप्त साम्राज्य की टूटन के साथ विदेशी आक्रान्ताओं के निरन्तर प्रहार अनेक प्रकार की मानसिक, सामाजिक, राजनीतिक दुर्बलताओं को जन्म देते चले जा रहे थे। आठवीं शती के बाद आचार्य शंकर के महनीय प्रयासों से और श्रीरामानुज के भक्तिदर्शन से जो सांस्कृतिक या आध्यात्मिक राष्ट्रवाद पैदा हुआ उसमें परमार्थ एवम् बैकुण्ठ के प्रति ही अधिकाधिक प्रतिबद्धता थी। इहलोक को पूर्ण विकसित राष्ट्र के रूप में देखने का कोई नायक ही नहीं मिल रहा था जो लौकिक अनेकता के मांसल शरीर में पारमार्थिक एकता की अभेद्य अस्थियों का सन्निवेश करके ऐसे राष्ट्र की कल्पना दे सके जो मानव समाज की विकृत विसंगतियों को कुचल कर भयमुक्त समतामूलक समाज की सर्जना कर सके जिसमें बच्चे, बूढ़े, स्त्रियाँ और किसी भी प्रकार का आर्त्त जीव स्वयम् को असहाय एवम् असमर्थ की तरह न समझे। ऐसे ही जीवन जीने की लोगों की सामर्थ्य को वैदिक संस्कृति में राष्ट्र कहा गया था, 'श्रीर्वै राष्ट्रम्' (शतपथ ब्रा.) अथवा जाग्रत् चेतना के लोगों का जीवन ही राष्ट्र था - 'वयं राष्ट्रे जागृयाम पुरोहिता:।''

वैदिक चेतना के इस राष्ट्रवाद को महर्षि वाल्मीकि ने आदिकाव्य रामायण की रामकथा में सन्निहित कर दिया था। वाल्मीकि रामायण के बारे में यह सदुक्ति इस रहस्य का प्रत्यक्ष प्रकाशन करती है। पहली तो बालकाण्ड के इस श्लोक पर आधारित है - 'वेदोप्बृंहणार्थाय तावग्राहयत्प्रभु:।'

वेदवेद्ये परे पुंसि जाते दशरथात्मजे

वेद: प्राचेतसादासीत्साक्षाद्रामायणात्मना।।

अर्थात् वेद के ही उपबृंहण या जीवन्त रूप को दिखाने के लिए वाल्मीकि ने लव-कुष्ठा को रामायण सिखाई। इस पद्य में वेदों का परम पुरुष, जब दशरथ पुत्र के रूप में प्रकट होता है तो अनेक ऋषियों द्वारा साक्षात्कार किया गया। अनेकरूप वेद एक महर्षि के माध्यम से एक महाकाव्य रामायण के रूप में आविर्भूत हुआ। भारतीय लोकजीवन में ज्ञानों के नानात्व में तत्त्वज्ञान के मानदण्ड के रूप में वाल्मीकि और अनन्त असंख्य गुणों और बलों के नानात्व के बीच धुरी के रूप में श्रीराम सीतासहित आविर्भूत हुए।

नहि तद्भविता राष्ट्रं यत्र रामो न भूपति: ।

तद्वनं भविता राष्ट्रं यत्र रामो निवत्स्यति।।

(वा.रा. २-३७-२९)

इस पद्य में राम और राष्ट्र एकरूप हो गए हैं जो नितान्त यूरोप की नस्लवादी या भाषावादी राष्ट्रीयता से उसे पूर्णत: पृथक् कर देते हैं। रामायण का राष्ट्रवाद स्पष्ट घोषणा करता है कि जहाँ राम रहेंगे वहाँ वन भी राष्ट्र बन जायेगा और जहाँ राम ही नहीं वहाँ राष्ट्र कैसा? केवल जनसमूह मात्र तो राष्ट्र नहीं होता। इसी कारण वैरागी वैष्णवों को लोगों के बीच जब यह गाकर प्रचार करते देखा कि-

राम राजा राम ही प्रजा राम साहूकार हैं

बसे नगरी जिए दाता धर्म पर-उपकार हैं।

तो मुझे लगा कि स्वामी रामानन्दाचार्य ने मध्यकाल में जिस लोकचेतना का उत्सर्जन किया वह किन अर्थों में शंकर और रामानुज के तत्त्वदर्शन की अनुवर्तिनी होने के बावजूद नितान्त मौलिक है। स्वामी रामानन्दाचार्य ने रामायण के उस तत्त्वदर्शन को राम-दर्शन की आधारभूमि बनाया जिसमें राम परब्रह्म प्रकाशरूप भी हैं और विमर्शरूप शक्ति भी हैं। जिसकी लालिमा में वेदान्त की माया लीला में रंजित होकर अनिर्वचनीय नहीं रह जाती, रामलीला में या अभिनय कौशल में बदल जाती है।

सम्पूर्ण भारतीय या विश्व इतिहास में राम एकमात्र अपराजेय हैं। क्योंकि उनका पराक्रम सत्य पर आधारित है। विश्वामित्र ने इसकी घोषणा दशरथ की भरी सभा में वहुत पहले कर दी थी। दशरथ के पास बड़े दावे से कहा कि मैं तथा वशिष्ठ एवम् ये सभासद् इस तथ्य को पूर्णत: जानते हैं-

"अहं वेत्तिमहात्मानं रामं सत्य पराक्रमम्

वसिष्ठोऽपि महातेजा ये चेमे सदसि स्थिता: ।।"

राम का पराक्रम इसलिए सत्य है क्योंकि उसमें कहीं भी कुटिलता की दुर्नीति नहीं। उसका अपना स्वार्थ जैसा कुछ भी नहीं, जो कुछ है वह लोक को समर्पित है। इसका प्रमाण वहाँ मिलता है जहाँ सम कहते हैं कि "मैं अपना जीवन, फिर सीता और फिर लक्ष्मण, जो मुझे सर्वाधिक प्रिय हो सकते हैं, उन सभी को मैं लोक-मंगल के लिए तिलांजलि दे सकता हूँ किन्तु लोक के प्रति अपने दायित्व और प्रतिज्ञा को बीच में नहीं छोड़ सकता।' क्योंकि लोक चाहे चर जीव हों चाहे अचर परिवेश, दोनों ही राम के ही तो प्रकाश हैं। सूर्य अपने प्रकाश को कैसे छोड़ सकता है। इसीलिए वे गति की दुनिया में रघुवंशी हैं जिनकी मर्यादा का कोई उल्लंघन नहीं कर सकता। कालिदास कहते हैं कि राम के परदादा का नाम पिता ने इसलिए रघु रखा था जिससे वह बालक श्रुति और शास्त्रीय परम्परा की सीढ़ियों

पर चढ़ता हुआ अनुभव या निदिध्यासन के परले पार को छू जाए तथा युद्धों में शस्त्रविद्या के सोपानों को लांघता हुआ अनाचारी या अत्याचारी शत्रुओं का पूर्ण दमन करने की प्रक्रिया में कहीं भी रुके नहीं। इसलिए संस्कृत व्याकरण में प्रयुक्त होने वाली 'रघि तथा लघि' धातुओं का लंघन अर्थ समझकर ही उस बालक का नाम 'रघु' रखा गया।

राम ने स्वयं को, हमने राम को, रघुवंशी कहने में सदैव अत्यधिक गौरव अनुभव किया। कहीं पर उन्हें रघुपति, तो कहीं पर उन्हें राघव कह कर सम्बोधन किया। वास्तव में श्रौत परम्परा में राजा का राजनीति पद से तो बाद में मेल हुआ, पहले तो वह अध्यात्म के क्षेत्र में प्राण-पुरुष के रूप में ही प्रकट होता है। वृहदारण्यक उपनिषद् में जिस प्राण-पुरुष या यज्ञपुरुष की विश्वात्मकता की कहानी मिलती है, मुझे लगता है उस उपेक्षित गाथा को सर्वप्रथम वाल्मीकि ने तथा दूसरी बार स्वामी रामानन्दाचार्य ने लोक के सार-रूप में ग्रहण किया। इसीलिए उन्हें वैकुण्ठ या परलोक की चिन्ता की अपेक्षा इहलोक की अधिक चिन्ता है। स्वामीरामानन्दाचार्य और उनके तत्त्वदर्शन को मैं भारतवर्ष की प्रखर दार्शनिक प्रज्ञा के अग्रदूत आचार्य शंकर की दार्शनिक मेधा और आचार्य रामानुज की हृदयहारिणी भक्तिमार्गी दार्शनिकता के समन्वय सूत्र के रूप में देखता हूँ। वे निश्चित रूप से उपनिषदों के उस तत्त्वदर्शन के पास गए जहाँ उनके दोनों पूर्वाचार्य सांप्रदायिक पूर्वाग्रहों से मुक्त हो जाते हैं। कारण यह है कि उपनिषदों का आत्मसाक्षात्कार का सिद्धान्त-प्रतिपादन इतना केन्द्रीय दर्शन है कि उसमें आकर सभी दृष्टियाँ समन्वित हुए बगैर रह नहीं सकती। क्योंकि वहाँ यज्ञ-संस्कृति के विभिन्न आयामों का विस्तार से प्रतिपादन करते हुए ब्रह्म चेतना के व्यावहारिक स्वरूप पर खुलकर विमर्श हुआ। ब्रह्म निराकार भी है साकार भी, सगुण भी, निर्गुण भी। वह क्या नहीं है। वहाँ सम्भावनाओं का भण्डार है। इस प्रकार की जागरूक मानसिकता ने भारत की धर्मनीति, समाजनीति और राजनीति को भी बहुत दूर तक प्रभावित किया। संभवतः इसी कारण से उपनिषदों में लोक जीवन का प्रशासन चलाने के लिए ब्रह्मविद्या और अग्निविद्या का आश्रय लेने वाले जनक, अश्वपति, प्रवाहणि और अजातशत्रु जैसे राजाओं का अपना वर्चस्व स्थापित रहा। वे योगी भी हैं, राजर्षि भी हैं और ब्रह्मवेत्ता भी हैं। वाल्मीकि के राम वेदोत्तर काल में इसी परम्परा को लेकर भारतीय लोकजीवन में अवतरित होते हैं। भारतीय राजनीति का सारा आकार-प्रकार ही सदा सर्वदा के लिए रूपान्तरित हो जाता है। वह लोक में अप्रशस्त कर्मों का त्याग कर प्रशस्त एवम् श्रेष्ठतम् आर्य मर्यादाओं एवम् मूल्यों की स्थापना के

लिए समर्पित हो जाते हैं। उपभोग-प्रधान लूटमार की राजनीति को वाल्मीकि के राम यह कर कर अस्वीकार कर देते हैं-

नाहमर्थपरो देवि लोकभावस्तुमुत्सहे।

विद्धि मामृषिभिस्तुल्यं केवलं धर्ममास्थितम् ।।

हे कैकेयि देवि! चिन्ता मत करो, मैं किसी अर्थलोलुप बनिए की तरह इस लोक में जीने का साहस ही नहीं कर सकता। मैं तो केवल धर्म में स्थित रह कर ऋषियों के तुल्य जीवन जीने का पक्षधर हूँ। भारतीय चिन्तनधारा से प्रसूत यह धर्म पुरुषार्थ विशुद्ध सेक्युलर अथवा इस लोक के प्रति उन्मुख जीवनपद्धति है जिसमें मानवमात्र का सुख और सौन्दर्य निहित है। इस पृथ्वी के लोगों की सुख-समृद्धि के लिए यदि दूसरे लोकों का समर्थन लेना पड़े तो कोई संकोच नहीं। देश में यदि सूखे की मार पड़ रही हो तो राम को वृष्टि के लिए यज्ञ द्वारा वर्षा का आह्वान करने में भी संकोच नहीं हो सकता। आखिर वृष्टियज्ञ द्वारा उस सौर ऊर्जा या रश्मिप्रवाह का उपयोग क्यों न किया जाए जो ऊर्जा या रश्मियाँ पृथ्वी के थोड़े से जल का शोषण करके बदले में सहस्त्रगुण जल बरसा देने वाले मेघों को सन्तप्त धरती के शिखरों पर अमृत बरसाने को उत्तेजित करती हैं। वाल्मीकि की परम्परा के अनुवर्ती कालिदास अपने रघुवंश महाकाव्य में रघुवंशी परम्परा के जीने के इसी अन्दाज को अपनी लोक-जीवन की संस्कृति का प्राण मानते थे। वे प्रजा से कर उगाहने के समय इसी सूर्य के आदर्श को अपनाते थे। थोड़ा-सा कर लेकर सहस्त्रगुण अधिक लोकहित की संरचना करते थे-

सहस्त्रगुणमुत्स्त्रष्टुमादत्ते हि रसं रविः।।

अब थोड़ा इस बात पर भी विचार कर लेना चाहिए कि क्या वाल्मीकि की प्रतिभा ने इस प्रकार की जीवनदृष्टि को अकस्मात् रामायण के पात्रों के चरित्र में से अधिगृहीत कर लिया या उसकी समीपवर्ती यज्ञपरम्परा और प्राचीन उपनिषदों की दार्शनिक प्रणाली से उसको लोकसंग्रही व्यावाहरिक जीवनदर्शन मिला। वैदिक काल में इस ब्रह्माण्डीय लोक संरचना में आदिपुरुष अथवा यज्ञपुरुष ने अपना योगदान करने के लिए स्वयं की ही बलि देकर समाज की संरचना का जो काम किया उसकी परिधि विराट् पर्यन्त होने से वह पुरुषमेध यज्ञ कहलाया। इसी प्रक्रिया को जब कोई नर-जीव आत्मदान द्वारा विधिकृत करने का साहस विवेकपूर्वक करता है तो नरमेध बन जाता है। उसमें अविवेकपूर्ण तरीके से की जानेवाली जीवों की हिंसा मूल यज्ञभावना का विकृत रूप है।

वैदिक संस्कृति का यही यज्ञपुरुष नारायण उपनिषद् में प्राण-पुरुष के रूप में प्रकट हुआ। इसका चरित्र लोकालोक या दिव्यादिव्य प्रकृति का था। वह एक साथ ही मनुष्य भी था और ब्रह्म भी। वाल्मीकि रामायण में जब राम को "त्वमप्रमेयश्च दुरासदश्च" संबोधित करके कहा जाता है तो वे अप्रमेय अनन्त ब्रह्म हो जाते हैं, जो इसलिए दुष्प्राप्य हो जाते हैं क्योंकि बड़े-बड़े ज्ञानी और भक्त भी उन्हें न पाकर व्याकुल हो जाते हैं। किन्तु इसी श्लोक की अगली आधी पंक्ति में वाल्मीकि राम को "जितेन्द्रियश्चोत्तमधार्मिकश्च" कह कर एक उदात्त चरित मनुष्य की तरह अंकित कर दिया। अगले दो पादों में उन्हें 'अक्षय्यकीर्तिश्च विचक्षणश्च क्षितिक्षमावान् क्षतजोपमाक्ष।' कह कर उनको रक्तनयन अक्षयकीर्तिवाले, प्रज्ञावान् और पृथ्वी के समान क्षमावान् कहते हुए उन्हें मानवीय गुण-कर्म से सज्जित भी कर दिया। राम उसी तरह अपराजेय हैं जैसे वृहदारण्यक उपनिषद् के प्रथमाध्याय के तीसरे ब्राह्मण में निरूपित मुख्य प्राण-पुरुष।

प्रसंग-प्राप्त उपाख्यान में निरन्तर चलते रहने वाले देवासुर संग्राम का वर्णन, असुर संख्या में अधिक हैं और देवगण कम। देवता बराबर हारते रहने से खिन्न होकर वाग् देवता से अनुरोध करते हैं कि वाणी ही देवताओं के लिए उद्गान करे जिससे सभी देवता उस सामगान से ऐसी ऊर्जा या ओजबल प्राप्त करें जो असुरों से पराजित न हो सके। वाक् ने जब उद्गान शुरू किया तो वह उद्गान के विशिष्ट फल को अपने लिए सुरक्षित करके सामान्य फल अन्य देवताओं के लिए अर्पित करने लगी। असुरों ने अवसर पाकर वाक् को पाप से विद्ध कर दिया जिसके कारण वह आज भी सत्य बोलते-बोलते झूठ भी बोलने लगती है। देवताओं ने सम्मिलित स्वर से सभी इन्द्रियों और मन के अधिष्ठाता देवताओं को बारी-बारी इस उद्गान के लिए आग्रह किया किन्तु सभी अपने-अपने स्वार्थ के लिए विशेष फल को अपने लिए और सामान्य फल को दूसरों के लिए सुरक्षित करने के प्रयास के कारण असुरों के द्वारा पाप के भागी बनकर पराजित हुए। तब सबने मिलकर चराचर सृष्टि के आधारभूत प्राण-पुरुष का आह्वान किया। उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं था, कोई भोग्य विषय नहीं था। अत: उसकी निस्संग क्रियाशीलता से टकराकर असुर ऐसे ही परास्त हुए जैसे मिट्टी का बड़ा-सा ढेला लोहे की कठोरता से टकरा कर चकनाचूर हो जाता है। वाल्मीकि ने इसी प्राण-पुरुष को श्रीराम के रूप में देखा था। पूर्ण, नि:स्वार्थ, निस्संग, लोक के प्रति अर्पित होने के कारण, सबके हित में अपने हित को देखने वाला यज्ञपुरुष जो ब्रह्मभाव से अवतरित होकर मूर्त लोकजीवन और अमूर्त दिव्यता के बीचोबीच सेतु बनकर खड़ा था।

भारतीय इतिहास के सन्धिकाल या मध्यकाल में जगदगुरु स्वामी रामानन्दाचार्य वाल्मीकि की आर्ष दृष्टि को आत्मसात् करके जब अवतीर्ण होते हैं तो उनकी प्रेरणा एक ओर कबीर, रविदास, गुरुनानक आदि सन्तों की वाणी में राम को अप्रमेय पुरुष के रूप में आरोहरण करते दिखती है तो दूसरी ओर संस्कृत में पारंगत होने पर भी तुलसीदास अवधी जैसी लोकभाषा में ऐसी रामकथा को उतारते हैं जो कथा उत्पीड़न से टूटते-बिखरते भारतीय समाज को फिर से राष्ट्र के रूप में जोड़कर स्वातन्त्र्य-आन्दोलन के चरम शिखर तक पहुँचा देती है।



श्रीमठ पंचगंगा, काशी से प्रकाशित पुस्तकें

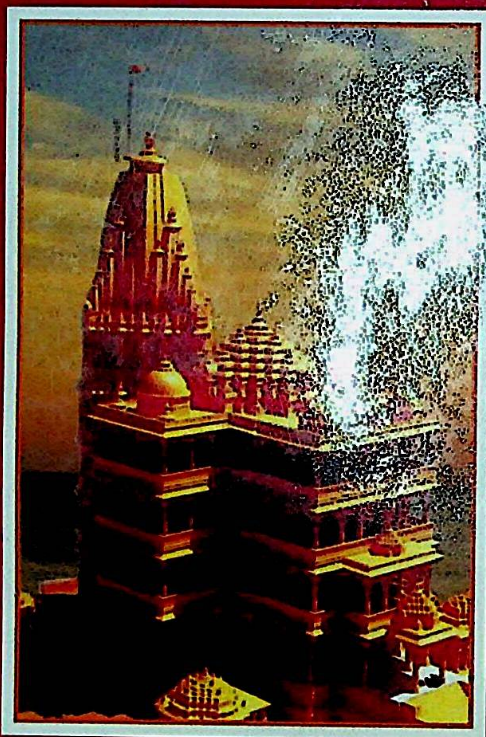
आचार्य रामानंद पुस्तकालय, श्रीविहारम्, बड़ी पियरी, वाराणसी।

१. श्रीमठ स्मारिका, संपादक - श्री रामकुमार दास मानस तत्त्वान्वेषी, प्रो. शुकदेव सिंह
२. श्रीमठ प्रकाश, (श्रीमठ स्मारिका पुस्तकाकार) संपादक- डॉ. विवेकी राय
३. श्रीरामसहस्त्रनामस्तोत्रम्, संपादक- श्रीरामविनय दास
४. अमृत कलश, संपादक- प्रो. नागेन्द्रनाथ उपाध्याय
५. श्रीमठस्तोत्रकुसुमांजलि, संपादक- श्रीरामविनय दास
६. श्रीरामरक्षास्तोत्रम् (श्रीमुदगलाचार्य टीका सहित), अनुवादक-संपादक पं. श्रीजगन्नाथ शास्त्री तैलंग
७. किञ्चजाप्यम् (वैष्णवमताब्जभास्कर का एक प्रश्न) व्याख्याकार-संपादक आचार्य राममूर्त्रि त्रिपाठी
८. श्रीजगद्गुरुरामानंदाचार्य शतकम, रचयिता- आचार्य शिवजी उपाध्याय
९. रामतापनीयोपनिषद्, संपादक- आचार्यमुरलीधर पाण्डेय
१०. आचार्य रामकरण शर्मा अभिनंदन ग्रंथ, संपादक- आचार्य कैलाशपति त्रिपाठी, आचार्य कमलेश दत्त त्रिपाठी
११. रामानंद रामरसमाते, संपादक- डॉ. उदय प्रताप सिंह
१२. तीर्थराज प्रयाग और कुम्भ महापर्व- संपादक प्रो. युगेश्वर, डॉ. उदय प्रताप सिंह
१३. पायसपायी, (औपन्यासिक जीवनी-रामानंद) रचयिता- डॉ. दयाकृष्ण विजय वर्गीय 'विजय'
१४. पायसपायी (अंग्रेजी अनुवाद) Swami Ramanand : The Pioneer of Ram Bhakti, अनुवादक- देवर्षि कलानाथ शास्त्री
१५. पायसपायी (संस्कृत अनुवाद), श्रीरामानंदचरितम्, अनुवादक- आचार्य प्रभुनाथ द्विवेदी
१६. रामानंद विजय (काव्य हिन्दी) रचयिता- डॉ. मंगला प्रसाद
१७. हरिद्वार समग्र, संपादक- डॉ. उदय प्रताप सिंह
१८. जगद्गुरु रामानंदाचार्य, श्री सम्प्रदाय (रामावत), विविध आयाम, (श्रीमठ समग्र प्रथम खण्ड), संपादक- डॉ. उदय प्रताप सिंह
१९. रामानंदसम्प्रदाय एवम् संत गुरु रविदास, लेखक- डॉ. निधीन्द्र शर्मा

२०. गुरु मिल्या रामानंद, संपादक- कोसलेन्द्रदास
२१. श्रीमठ की वित्तीय सहायता से दशाधिक पुस्तकें प्रकाशित
२२. प्रत्येक चातुर्मास्य महोत्सव पर स्मारिका का प्रकाशन
२३. समय-समय पर रामभाव प्रसार यात्राओं में पुस्तिकाओं का प्रकाशन

संपादक





श्रीरामानन्द सम्प्रदाय के एकमात्र मुख्यालय श्रीमठ, काशी द्वारा

हरिद्वार में निर्माणाधीन विश्व का अद्वितीय एवं अनुपम श्रीराममन्दिर

ऋषिकेश रोड, हरिद्वार

प्रकाशक :

जगद्गुरु रामानन्दाचार्य स्मारक सेवा न्यास

श्रीमठ, पंचगंगा, वाराणसी (उ.प्र.) भारत, दूरभाष : 0542-2402730

inted by: Print 'O' Land, Jaipur # 0141-2210284, 2210186 • E-mail: printo_land@yahoo.co.in